नागरीप्रचारिणी पत्रिका

अर्थात्

प्राचीन शोधसंबंधी त्रैमासिक पत्रिका

[नवीन संस्करण]

भाग १८—अंक १

संपादक—श्यामसुंदरदास

सहायक संपादक—कृष्णदेवप्रसाद गौड़

विषय-सूची

विषय पृष्ठ

काशी-नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित

वैशाख संवत् १९९४] [मूल्य प्रति संख्या २॥)

काशी-नागरीप्रचारिणी सभा

संवत् १९९४ के पदाधिकारी तथा प्रबंधसमिति के सदस्य

पदाधिकारी:—

सभापति—राय बहादुर बाबू श्यामसुंदरदास, बी० ए०
उप-सभापति—पंडित रामनारायण मिश्र, बी० ए०
,, रायसाहब डा० शिवकुमारसिंह
प्रधान मंत्री—बाबू कृष्णदेवप्रसाद गौड़, एम० ए०
अर्थमंत्री—बाबू ब्रजरत्नदास, बी० ए०, एल्-एल० बी०
साहित्य-मंत्री—पंडित विद्याभूषण मिश्र, एम० ए०

प्रबंध-समिति के सदस्य:—

डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल एम० ए०, डी० लिट्, काशी
श्री जयशंकर प्रसाद, काशी
श्री बलराम उपाध्याय, ऐडवोकेट, काशी
श्री केशवप्रसाद मिश्र, काशी
श्री गांगेय नरोत्तम शास्त्री, कलकत्ता
श्री सूर्यप्रसाद महाजन, गया
श्री कैलाशनाथ भटनागर, लाहोर
श्री गौरीशंकरप्रसाद, ऐडवोकेट, काशी
श्री ठाकुरदास, ऐडवोकेट, काशी
श्री रमापति शुक्ल, एम० ए०, बी० टी०, काशी
श्री गोपाललाल खन्ना, एम० ए०, काशी
श्री शंकरदेव विद्यालंकार, सूरत
श्री हीरालाल जैन, एम० ए०, एल्-एल० बी०, अमरावती
श्री गोपालशरण सिंह, रीवाँ
श्री रामचंद्र वर्मा, काशी
श्री राय कृष्णदास, काशी
श्री रमेशदत्त पांडेय, काशी
श्री रामबहोरी शुक्ल, एम० ए०, काशी
डा० धीरेन्द्र वर्मा, प्रयाग
श्रीमती विष्णुकुमारी श्रीवास्तव
श्री रामेश्वर गौरीशंकर ओझा, अजमेर

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

अर्थात्

प्राचीन शोधसंबंधी त्रैमासिक पत्रिका

[नवीन संस्करण]

भाग १८—संवत् १९९४

संपादक

श्यामसुंदरदास

सहायक संपादक

कृष्णदेवप्रसाद गौड़

—:*:—

काशी-नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित

लेख-सूची

विषय पृ० सं०

———

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

भ्रम-संशोधन

पृ० १६ पं० ३ रुद्रदामा के वजाय रुद्रसेन पढ़िए।

पृ० २१ पहले कालम में राजा सं० १, २ के बीच व्यवधान होना चाहिए, और तीसरे कालम की पहली पंक्ति उस व्यवधान के सामने होनी चाहिए।

पृ० २५ दूसरे कालम की पाँचवीं पंक्ति तीसरे कालम की तीसरी पंक्ति के सामने आनी चाहिए; उससे ऊपर की दो पंक्तियाँ और ऊपर जानी चाहिएँ।

सन् १९३० के अंत में श्रीयुत काशीप्रसाद जायसवाल न शक-सातवाहन इतिहास की पुनःपरीक्षा करते समय यह लिखा कि उस शताब्दी के इतिहास के लिये यथेष्ट सामग्री मौजूद है। दो बरस बाद आपने उस सामग्री के आधार पर "भारतवर्ष का इतिहास १५० ई० से ३५० ई० तक" प्रस्तुत कर दिया, जो पहले

§ २. अब उजियारा हो चुका

(१) देखिए, भारतीय इतिहास की रूपरेखा, वस्तुकथा, पृ० १३-१४।

विषय पृ० सं०

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

अठारहवाँ भाग

(१) सुराष्ट्र-क्षत्रप इतिहास की पुनःपरीक्षा

[लेखक—श्री जयचंद्र विद्यालंकार, काशी विद्यापीठ]

§ १. तथाकथित अँधियारा युग

सातवाहनों के अस्त और गुप्तों के उदय के बीच की शताब्दी (लगभग २२०—३२० ई०) को विंसेंट स्मिथ ने भारतीय इतिहास का अंधकारावृत युग कहा था। उस कहे जानेवाले अँधेरे के बीच भी फ्रांसीसी विद्वान् दुब्रिऊल ने उस शताब्दी की घटनाओं के मोटे खाके को चीन्ह लिया था; तो भी अधिकांश भारतीय लेखक और विद्यार्थी स्मिथ के उक्त कथन से बहकते रहे[१]।

§ २. अब उजियारा हो चुका

सन् १९३० के अंत में श्रीयुत काशीप्रसाद जायसवाल ने शक-सातवाहन इतिहास की पुनःपरीक्षा करते समय यह लिखा कि उस शताब्दी के इतिहास के लिये यथेष्ट सामग्री मौजूद है। दो बरस बाद आपने उस सामग्री के आधार पर "भारतवर्ष का इतिहास १५० ई० से ३५० ई० तक" प्रस्तुत कर दिया, जो पहले

---

(१) देखिए, भारतीय इतिहास की रूपरेखा, वस्तुकथा, पृ० १३-१४।

ज० बि० ओ० रि० सो० की १९वीं जिल्द में और बाद में पुस्तकाकार भी प्रकाशित हुआ। तीसरी शताब्दी के मध्य में तामिल भारत में पल्लव राजवंश की स्थापना हुई, यह बात पहले भी सर्व-विदित थी। वाकाटक राजवंश का नाम अज्ञात न था, तो भी वाकाटकों का वास्तविक महत्त्व पहचाना न गया था। दुब्रिऊल ने इसी कारण ज़ोरदार शब्दों में घोषणा की कि "सुप्रसिद्ध वाकाटक वंश" "दक्खिन के सब राज-वंशों में से सबसे अधिक गौरवमय, सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण, सबसे बड़े आदर का पद पाने योग्य, सबसे उत्कृष्ट और समूचे दक्खिन की सभ्यता पर निःसंदेह सबसे अधिक प्रभाव डालनेवाला" हुआ है। स्मिथ ने समुद्रगुप्त की दक्खिन-चढ़ाई में महाराष्ट्र और खानदेश का जीता जाना भी लिखा था, और उस चढ़ाई का वर्णन इस प्रकार किया था मानो महाराष्ट्र में तब कोई उल्लेखयोग्य राज्य नहीं था। दुब्रिऊल ने दिखलाया कि समुद्रगुप्त की चढ़ाई दक्खिन के केवल पूरबी तट तक परिमित थी। उत्तर भारत में तीसरी शताब्दी में यौधेयों और नागों के राज्य थे, मथुरा, कांतिपुरी और पद्मावती प्रमुख राजधानियाँ थीं, तथा वाकाटकों से पहले भारशिव नाम का दस अश्वमेध करनेवाला कोई राजवंश भी गंगा के काँठे में कहीं था, इन बातों का भी दुब्रिऊल ने साधारण रूप से उल्लेख किया था।

जायसवालजी ने पता लगाया कि नाग और भारशिव एक ही थे। भारशिवों की राजधानी कांतिपुरी तथा वाकाटकों की राजधानी किलकिला की आपने पहचान की। भारशिवों के सिक्कों और उनके मूर्ति-शिल्प को आपने पहले-पहल चीन्हा, और सहजाति (इलाहाबाद के पास भीटा नामक स्थान) के खँडहरों के ध्वंसक्रम में अंकित भारशिव और वाकाटक इतिहास की घटनाओं का पहले-पहल साक्षात किया। लगभग १५० ई०

में भारशिव राजा नव नाग ने नागपुर की तरफ से चढ़ाई कर तुखार ("कुशाण") साम्राज्य के पूरबी प्रांत जीत कांतिपुरी (मिर्जापुर) को अपनी राजधानी बनाया, और लगभग १८० ई० में उसके उत्तराधिकारी वीरसेन ने मथुरा से भी तुखारों को निकाल समूचे गंगा-यमुना-प्रांत को स्वतंत्र किया—भारतीय इतिहास की इन महत्त्वपूर्ण घटनाओं को आपने पहले-पहल प्रकट किया। आपने बताया कि प्रवरसेन वाकाटक न केवल चेदि और महाराष्ट्र का राजा प्रत्युत समूचे भारत का सम्राट् था, कि २४८ ई० का चेदि-संवत् वास्तव में वाकाटक संवत् है, और कि कांची के पल्लव वंश का भी भारशिवों और वाकाटकों से संबंध था—संभवत: वह वाकाटक वंश की ही एक शाखा थी। भारशिवों और वाकाटकों के तुखार साम्राज्य को तोड़ देने से यौधेय, मालव, आभीर, मद्रक आदि गणराज्य तथा उत्तरी पंजाब में सिंहपुर (कटास) का यादव वंश किस प्रकार उठ खड़े हुए, तथा काबुल के तुखारों को ईरान के सासानियों से क्यों मैत्री करनी पड़ी, सो भी आपने स्पष्ट किया। तीसरी शताब्दी में तुखारों और सासानियों की मैत्री की बात उनके सिक्कों द्वारा पहले भी ज्ञात थी[२]।

वाकाटक साम्राज्य की भीत पर ही गुप्त साम्राज्य का चित्र अंकित हुआ था। उस भीत का स्वरूप ठीक ठीक पहचानने के कारण समुद्रगुप्त के साम्राज्य-निर्माण की घटनाओं को भी जाय-सवालजी भली भाँति स्पष्ट कर सके। समुद्रगुप्त के हाथों मारे गए आर्यावर्त्त के राजा रुद्रदेव की आपने वाकाटक राजा रुद्रसिंह से शिनाख्त की, और समुद्रगुप्त के प्रयाग-अभिलेख की इस पहेली को सुलझाया कि पटना जीतकर वह क्यों पहले दक्खिन

---

(२) देखिए, भारतीय इतिहास की रूपरेखा, वस्तुकथा, पृ० १४।

पर चढ़ाई करता और पीछे आर्यावर्त्त को अधीन करता है। वास्तव में समुद्रगुप्त के स्तंभ-लेख की आपने जो युक्तिसंगत व्याख्या की है, वह आपकी सबसे कीमती खोजों में से एक है।

इस युग के इतिहास के कुछ अंश पहले से भी ज्ञात थे। जायसवालजी ने अब इसकी घटनावली को जिस रूप में पेश किया है, उसके प्रकाश में उन पहले से ज्ञात अंशों की पुनःपरीक्षा आवश्यक हो गई है। कांची के पल्लवों के अतिरिक्त सुराष्ट्र के क्षत्रपों का एक वंश ऐसा था, जिसके इतिहास का मोटा खाका उसके सिक्कों के आधार पर पहले से निश्चित हो चुका था। दूसरी शताब्दी ई० के शुरू में चष्टन ने इस क्षत्रप-वंश को स्थापित किया। ७२ शक सं० (=१५० ई०) में चष्टन के पोते रुद्रदामा के अधीन सिंधु-सौवीर और मरु (मारवाड़) से लेकर अपरांत (कोंकण) तक सब प्रदेश थे। रुद्रदामा के बाद सवा दो सौ बरस तक इस वंश के महाक्षत्रपों और क्षत्रपों के सिक्के बराबर मिलते हैं, जिन पर उन राजाओं के परस्पर-संबंध और उनके राज्यकाल भी दर्ज हैं। अब तक यह समझा जाता रहा है कि यह वंश सुराष्ट्र और उज्जैन में बराबर शासन करता रहा, और चौथी शताब्दी ई० के अंत में इसे चंद्रगुप्त विक्रमादित्य ने उखाड़ दिया। जायसवाल जी इसके संबंध में बिलकुल नई बात कहते हैं। कांची के पल्लवों और सुराष्ट्र के क्षत्रपों के विषय में उन्होंने जो स्थापनाएँ की हैं, मेरे विचार में उनके समूचे ग्रंथ में सबसे अधिक आलोचनीय अंश वही हैं। विशेषकर क्षत्रपोंवाली बात को बिना परखे स्वीकार नहीं किया जा सकता।

३. क्षत्रप-इतिहास की पुनः परीक्षा आवश्यक

जायसवालजी का कहना है कि "वाकाटक युग"—में अर्थात् २८४-३४८ ई० में—"काठियावाड़ या गुजरात में कोई शक-क्षत्रप

नहीं बचा था; पुराणों के अनुसार वे लोग तब केवल कच्छ और सिंध में रह गए थे" (पृ० ६२)। देखना चाहिए कि सिक्कों की गवाही इस संबंध में क्या कहती है। प्रस्तुत लेख में हम न केवल वाकाटक युग के प्रत्युत रुद्रदामा के बाद से चंद्रगुप्त के समय तक के समूचे क्षत्रप इतिहास की उसके सिक्कों के आधार पर पुनःपरीक्षा करेंगे।

उस इतिहास की रूपरेखा सन् १९०८ में अध्यापक रैप्सन ने तब तक पाए गए सिक्कों के आधार पर ब्रिटिश म्यूजियम के क्षत्रप-सिक्कों की सूची बनाते हुए प्रस्तुत की थी। उसके बाद सन् १९११ में मेवाड़ के बाँसवाड़ा राज्य में कलिंगड़ा थाने के

§ ४. उस इतिहास की सामग्री

सर्वाणिया गाँव से २३९३ क्षत्रप-सिक्कों का एक ढेर पाया गया, जिसका अंतिम विवरण, डा० देवदत्त भंडारकर का लिखा, भारतीय-पुरातत्त्व-पड़ताल की सन् १९१३-१४ की वार्षिक रिपोर्ट में छपा है। बेसनगर की खुदाई से तथा सिंध में सैदपुर स्तूप की खुदाई से भी डा० भंडारकर को कुछ क्षत्रप-सिक्के मिले, जिनका विवरण १९१३-१४ तथा १४-१५ की रिपोर्टों में दिया गया है। इन सिक्कों की कुल संख्या १०-११ थी। इधर सन् १९२५ में छिंदवाड़ा के सोनपुर गाँव से ६३३ क्षत्रप-सिक्कों का, और हाल में वसोज, काठियावाड़, से ५९१ क्षत्रप-सिक्कों का एक ढेर मिला है। जूनागढ़ के खजाने में ५२० क्षत्रप-सिक्कों का एक ढेर कुछ अरसे से पड़ा था, जिसकी प्राप्ति का स्थान और काल दर्ज नहीं है। जूनागढ़ म्यूजियम में भी २०९ और ७७ सिक्कों के दो ढेर पड़े थे। इन पाँचों ढेरों की परीक्षा प्रिंस आव वेल्स म्यूजियम बंबई के संग्रहाध्यक्ष श्री गिरिजाशंकर आचार्य ने की है, और आपने अपने विवरण की एक अगाऊ प्रति मेरे पास भेजने की

दया की है, जिसके लिये मैं आपका आभारी हूँ। इस सब सामग्री का उपयोग हम करेंगे।

रुद्रदामा का प्रसिद्ध जूनागढ़-अभिलेख ७२ शकाब्द (१५० ई०) का है। रुद्रदामा के बाद उसका बड़ा बेटा दामजदश्री महाक्षत्रप होता है। नासिक की लेण (गुहा) नं० १०

§ ५. आभीर राज्य

में शिवदत्त आभीर के बेटे राजा ईश्वरसेन आभीर के नौवें वर्ष का एक अभिलेख है। उसकी लिपि की विवेचना कर स्व० पं० भगवानलाल इंद्रजी ने स्थिर किया था कि वह जूनागढ़ अभिलेख से कुछ ही पीछे का है। फलतः रुद्रदामा के तुरत बाद दामजदश्री के समय तक अपरांत और उसके पड़ोसी प्रदेश सुराष्ट्र के क्षत्रप-राज्य से छिन चुके थे। राजा ईश्वरसेन आभीर का पिता शिवदत्त आभीर राजा नहीं था, इसलिये ईश्वरसेन ने स्पष्टतः एक नया राजवंश स्थापित किया, अथवा वह किसी गण का निर्वाचित राजा था।

दामजद के बाद उसके बेटे जीवदामा तथा उसके भाई रुद्रसिंह के सिक्कों पर इस प्रकार तिथियाँ मिलती हैं—

जीवदामा महाक्षत्रप १ [००] शकाब्द;
रुद्रसिंह क्षत्रप १०२—३;
रुद्रसिंह म० क्ष० १०३—१०;
रुद्रसिंह क्ष० ११०—१२;
रुद्रसिंह म० क्ष० ११३—११८;
जीवदामा म० क्ष० ११९—२०।

रैप्सन के विचार में यह स्थिति जीवदामा और रुद्रसिंह के घरेलू युद्ध की सूचक है—अर्थात् १०३ शकाब्द में रुद्रसिंह जीवदामा को हटाकर महाक्षत्रप बन गया, किंतु ११०—१२ में उसे खुद गद्दी से उतरकर क्षत्रप बनना पड़ा; ११३ में उसने फिर महा-

क्षत्रपी पर अधिकार कर लिया, और उसकी मृत्यु के बाद ११९ में फिर जीवदामा महाक्षत्रप हुआ।

डा० भंडारकर ने दिखलाया है कि यह कल्पना सर्वथा निराधार है। रुद्रसिंह १०३ से ११० तक और फिर ११३ से ११८ तक महाक्षत्रप था। इसके बीच जो दो या तीन वर्ष का व्यवधान ११० से ११३ तक है, उस समय जीव-दामा महाक्षत्रप रहा, यह निरी कल्पना है, क्योंकि उन तिथियों का जीवदामा की महाक्षत्रपी का एक भी सिक्का नहीं मिला। १ [००] शकाब्द का जीवदामा का जो एक महाक्षत्रप-सिक्का कहा जाता है, उसके संबंध में भी १ [००]=१०० यह निरी कल्पना है, क्योंकि उस सिक्के पर सैकड़े का अंक तो पढ़ा जाता है, पर दहाई-इकाई के अंक उसपर थे ही नहीं, सो नहीं कहा जा सकता। ११०–११३ के व्यवधान की व्याख्या डा० भंडारकर के मत में यह है कि उस समय रुद्रसिंह को पद-च्युत करके ईश्वरदत्त आभीर महाक्षत्रप बन गया था।

ईश्वरदत्त आभीर महाक्षत्रप के सिक्के समूचे काठियावाड़ से पाए गए हैं, पर उन पर शकाब्द के बजाय उसके राज्य-वर्ष दर्ज हैं। प्रो० रैप्सन का अनुमान था कि वह १५८–१६० शकाब्द में महाक्षत्रप था, क्योंकि १५८ म० क्ष० दामसेन की अंतिम तथा १६१ म० क्ष० यशोदामा की पहली तिथि ज्ञात थी; उनके बीच के व्यवधान की व्याख्या वे ईश्वरदत्त की महाक्षत्रपी से करते थे। सर्वाणिया-ढेर में यशोदामा की महाक्षत्रपी का १६० शकाब्द का भी सिक्का मिल गया, तब वह व्यवधान केवल एक वर्ष का रह गया। ईश्वरदत्त आभीर को १५९-६० शकाब्द में रखने की और जितनी युक्तियाँ प्रो० रैप्सन ने दी थीं, डा० भंडारकर ने उनमें से प्रत्येक का प्रत्याख्यान किया है। डा० भंडारकर का मत सब दृष्टियों से दृढ़ और युक्ति-संगत है। तो भी अधिकांश भारतीय

विद्यार्थियों का उनके लेख की ओर ध्यान नहीं गया, और वे अभी तक ईश्वरदत्त का समय २३६—३८ ई० माने हुए हैं। "रूपरेखा" में मैंने भी यह गलती की थी (पृ० ८७७-७८), और जायसवालजी का ध्यान भी इस ओर नहीं गया (पृ० १७०), यद्यपि हम दोनों ने ७ या १० आभीर राजाओं की ६७ वर्ष के लिये पिछले आंध्रों के समकालीन होने की जो बात पुराण के आधार पर लिखी है, वह अधिक स्पष्ट और पुष्ट हो जाती यदि ईश्वरदत्त का समय हम ११०—१२ शकाब्द (=१८८—९० ई०) में रखते। क्योंकि सातवाहनों की कमजोरी के समय १८० ई० के करीब आभीरों का उदय हुआ और प्रायः ६७ वर्ष स्वतंत्र राज्य करने के बाद २४८ ई० में वे वाकाटकों के अधीन हो गए, यह स्थापना बहुत संगत होगी। २४८ ई० में वाकाटक संवत् शुरू होता है, और उसमें से ६७ घटाने से हम ठीक १८०-८१ ई० पर पहुँचते हैं जो कि नासिक के राजा ईश्वरसेन का समय है। रुद्रसिंह के राज्यकाल के आरंभ का १०३ शकाब्द का एक अभिलेख पच्छिमी काठियावाड़ के गुंदा स्थान से पाया गया है, जिसमें उसके सेनापति रुद्रभूति का नाम है। यों यह प्रकट है कि क्षत्रपों के राज्य में सेना की शक्ति आभीरों के हाथ में थी। तब, आठ बरस बाद रुद्रसिंह को गद्दी से उतारकर एक आभीर सेनापति स्वयं महाक्षत्रप बन गया हो यह बात सर्वथा संगत है। ईश्वरदत्त आभीर ने समूचे सुराष्ट्र पर अधिकार कर लिया। दो बरस बाद रुद्रसिंह अपना राज्य वापिस लेने में समर्थ हुआ।

तो भी लाट देश अर्थात् दक्खिन-पूरबी गुजरात क्षत्रपों के हाथ से निकल चुका था, और वह आभीरों के हाथ में बना रहा, ऐसा प्रतीत होता है। वात्स्यायन-कामसूत्र ५. ५. ३० में "आभीर कोट्टराज" का उल्लेख है। टीकाकार लिखता है कि

कोट्ट गुजरात में कोई बस्ती थी, जिसका राजा आभीर था। इस बस्ती की पहचान हो सके तो यह निश्चय हो सके कि १८० ई० के बाद आभीरों का राज्य ठीक कहाँ पर रहा।

सर्वाणिया, जूनागढ़ खजाने और वसोज ढेरों के सिक्के रुद्रसिंह के समय से ही शुरू होते हैं। रुद्रसिंह के ११३ श० के बाद के और जीवदामा के ११९ श० के सिक्के पुष्कर और उज्जैन से भी मिले हैं। यद्यपि किसी स्थान पर किसी राजा के केवल दो-चार सिक्के पाए जाने से वहाँ उसके राज्य का रहना सिद्ध नहीं हो सकता, तो भी इन सिक्कों का नमूना सुराष्ट्र के सिक्कों से भिन्न है, इसलिये ये सुराष्ट्र के बाहर टकसाले गए होंगे, और वहाँ क्षत्रपों का राज्य रहना सिद्ध करते हैं। दूसरी शताब्दी ई० के अंत तक क्षत्रपों का राज्य पुष्कर और उज्जैन तक रहा हो, सो असंभव नहीं है।

§ ६. उज्जैन-माहिष्मती का स्वतंत्र होना

जीवदामा के बाद रुद्रसिंह का बेटा रुद्रसेन महाक्षत्रप होता है। उसकी महाक्षत्रपी के १२२ और १२६ श० के दो अभिलेख काठियावाड़ में मूलवासर (ओखामंडल) और जसदण से मिले हैं; उसके सिक्के १२५ से १४४ श० तक के पाए गए हैं। यों उसका राज्यकाल २०० से २२२ ई० तक निश्चय से है। जूनागढ़ के पास उपरकोट किले में क्षत्रप सिक्कों का एक बड़ा ढेर मिला था, वह रुद्रसेन के ही समय से शुरू होता है। छिंदवाड़ावाला ढेर भी उसी के समय शुरू होता है। रुद्रसेन के बेटे पृथिवीसेन की क्षत्रपी के १४४ श० के सिक्के काठियावाड़ में अमरेली आदि स्थानों में मिले हैं। यों रुद्रसेन का समूचे सुराष्ट्र पर राज्य रहना प्रमाणित होता है।

इसी समय के दूसरे नमूने के छोटे सिक्के (रैप्सन नं० ३७४—७६) उज्जैन से पाए गए हैं, जिन पर १३१—३३ श० तिथियाँ हैं।

इन पर दक्षिणमुख हाथी अंकित है, पर किसी राजा का नाम या मूर्त्ति नहीं है। हाथी के ऊपर अर्धचंद्र और तारे के चिह्न हैं, तथा दूसरी तरफ शकाब्द दर्ज है। मेरी तुच्छ सम्मति में इन सिक्कों को रुद्रसेन का या किसी भी शक राजा का मानने का कोई कारण नहीं है। उनका नया मान और नया संकेत—दक्षिण-मुख हाथी—नये राज्य का सूचक है; और केवल शकाब्द दर्ज होने से या अर्धचंद्र और तारे का चिह्न होने से उन्हें शक-राज्य का मान लेना उचित नहीं, क्योंकि राजपरिवर्त्तन होने पर भी देश में प्रचलित संवत् को एकाएक बदला नहीं जा सकता, और कुछ पुराने चिह्न भी बने ही रहते हैं।

रुद्रसेन के बाद उसके दो भाई संघदामा और दामसेन क्रमशः १४४-४५ श० = २२२-२३ ई० में तथा १४५ से १५८ श० = २२३ से ३६ ई० तक राज्य करते हैं। इस अवधि के, १४७ से १५८ श० तक के, दक्षिणमुख हाथी नमूनेवाले सिक्के उज्जैन प्रदेश से फिर पाए गए हैं (रैप्सन नं० ४०२ से ४२०)। इन पर भी किसी राजा का नाम नहीं, किंतु शकाब्द दर्ज है। इसी नमूने के बिना तिथि के सिक्के भी पाए गए हैं (रैप्सन नं० ४६०—७१), और उनका समय १५८ श० = २३६ ई० के बाद का अंदाज किया गया है। मेरे विचार में ये सब शक सिक्के नहीं हैं, और मालवा के उसी नए राज्य को सूचित करते हैं। कुछ समय तक उन पर शकाब्द दर्ज करने की प्रथा रहती है, बाद वह भी नहीं रहती। जायस-वालजी के अनुसार माहिष्मती भारशिव साम्राज्य में सम्मिलित थी। हम भी इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि १८० ई० के करीब अपरांत और दक्खिन गुजरात में शक-राज्य के स्थान में आभीर-राज्य स्थापित हो जाता है, और तीसरी शती ई० के शुरू से उज्जैन-माहिष्मती का प्रांत भी शक-राज्य से निकल जाता है।

§७ वाकाटकों का दबाव ? दामसेन के बाद उसके तीन बेटे इस क्रम से महाक्षत्रप होते हैं—

यशोदामा १६०—६१ श० = २३८—३९ ई० ।

विजयसेन १६१—७२ श० = २३९—५० ई० ।

दामजदश्री (३ य[३]) १७३—७७ श० = २५१—५५ ई० ।

विजयसेन और दामजदश्री के सिक्के समूचे गुजरात-काठियावाड़ में बड़ी संख्या में पाए गए हैं, लेकिन २४६ ई० के करीब से उनकी चाँदी में मिलावट अधिक रहने लगती है, और दामजदश्री के समय भी वह मिलावट जारी रहती है (रैप्सन, भूमिका, पृ० १३७-३८)। मुद्रा का यह भ्रष्ट होना देश की आर्थिक और राजनीतिक कठिनाई का सूचक है। क्या यह कठिनाई वाकाटकों के दबाव के कारण पैदा हुई थी ?

दामजदश्री के बाद दामसेन के दूसरे बेटे वीरदामा का पुत्र रुद्रसेन (२ य) महाक्षत्रप होता है। उसका राज्य-काल पहले १७८ से १९६ श० समझा जाता था, पर अब बेसनगर और छिंदवाड़ा से पाए गए सिक्कों के आधार पर १७७—१९९ श० (= २५५—२७७ ई०) निश्चित हुआ है।

रुद्रसेन (२ य) के बाद उसके दो बेटों विश्वसिंह और भर्तृदामा ने क्रमश: राज्य किया। विश्वसिंह की महाक्षत्रपी-वाले सिक्कों पर पहले कोई तिथि पढ़ी न जा सकी थी। सर्वाणिया ढेरी में उसके एक सिक्के पर २०० का अंक पढ़ा गया, पर उसमें इकाई का अंक मिटा हुआ था। डा० भंडारकर लिखते हैं कि उसके एक सिक्के पर, जो पहले भावनगर में था और अब मुंबई म्यूजियम में है, स्पष्ट २०० अंक था। भर्तृदामा

(३) दामसेन के बेटे का नाम भी दामजदश्री था। वह दामजदश्री (२ य) क्षत्रप होकर ही रह गया, म० क्ष० नहीं बना।

की महाक्षत्रपी के सिक्के पहले २११ से २१७ श० तक के पाए गए थे। सर्वाणिया ढेरी में २०४ से २१७ तक पाए गए। यों विश्वसिंह का राज्यकाल २०० से २०३-४ तक और भर्तृदामा का २०४ से २१७ तक निश्चित हुआ। परंतु श्रीयुत आचार्य लिखते हैं कि जूनागढ़ खजानेवाले ढेर में विश्वसिंह का २११ श० का सिक्का है। यदि ऐसा है तो भर्तृदामा का राज्य २०४ से कैसे? आचार्य महोदय के पढ़ने में तो कोई गलती नहीं हुई? यह आश्चर्य की बात है कि उनका ध्यान भी डा० भंडारकर के लेख की ओर नहीं गया। इसी से ईश्वरदत्त आभीरवाले मामले में भी उन्होंने पुराने मत का ही अनुसरण किया है।

जो भी हो, भर्तृदामा का अंतिम राज्यवर्ष २१७ श० = २९५ ई० था, इसमें संदेह नहीं। उसका बेटा विश्वसेन था, जिसकी

§ ८. महाक्षत्रपी का अंत, प्रवरसेन का आधिपत्य

क्षत्रपी के सिक्के २१५—२२६ श० = २९३—३०४ ई० के पाए गए हैं। विश्वसेन महाक्षत्रप नहीं बन पाता, पिता की मृत्यु के बाद भी क्षत्रप ही रहता है। उसके बाद राजवंश का भी परिवर्त्तन हो जाता है। २२६—२३८ श० (= ३०४—३१६ ई०) के स्वामी जीवदामा के बेटे रुद्रसिंह (२ य) की क्षत्रपी के सिक्के पाए गए हैं, और उसके बाद २३८ से २५४ श० (= ३१६—३३२ ई०) के रुद्रसिंह के बेटे यशोदामा (२ य) की क्षत्रपी के। रुद्रसिंह (२ य) का पिता स्वामी जीवदामा स्वयं क्षत्रप नहीं था, वह शायद भर्तृदामा का भाई रहा हो। २५४ श० (= ३३२ ई०) के बाद प्रायः १६ वर्ष तक किसी भी क्षत्रप के सिक्के नहीं पाए गए—तब क्षत्रप राजवंश का अंत हुआ जान पड़ता है। यों २९५ ई० से महाक्षत्रप का पद उठ जाता है, और चष्टन का वंशज किसी दूसरे के क्षत्रप यानी सामंत रूप से शासन करने लगता है।

१० बरस बाद राजवंश भी बदल जाता है, और आगे २६ बरस बाद क्षत्रप पद का लोप हो जाता है।

वह कौन सी शक्ति थी जिसने २९५ ई० में चष्टन के वंशजों को अपना सामंत बना लिया और फिर ३३२ ई० में उन्हें सर्वथा पदच्युत कर दिया ? स्पष्टत: वह सम्राट् प्रवरसेन वाकाटक था, जिसने चारों दिशाओं को जीतकर चार अश्वमेध किए थे।

अध्यापक रैप्सन ने उक्त घटनाओं की आलोचना इन शब्दों में की थी—"इस अवधि में सिक्कों अथवा सिक्कों के अभाव से जो कुछ जाना जाता है—मुख्य वंश में राज न रहना और दूसरे वंश का उसकी जगह स्थापित होना, पहले महाक्षत्रप का और फिर महाक्षत्रप और क्षत्रप दोनों का न रहना—यह सब विपत्ति-काल को सूचित करता है। संभावना यह है कि पश्चिमी क्षत्रपों के इलाकों पर कोई बाहरी आक्रमण हुआ था, किंतु इस बाहरी चढ़ाई का ठीक स्वरूप फिलहाल बिलकुल संदिग्ध है, और जब तक हम इस युग के पड़ोसी राष्ट्रों का इतिहास न जान पाएँ तब तक वह संदिग्ध रहेगा।" (भूमिका, पृ० १४२)। पड़ोसी राष्ट्रों के इतिहास पर का पर्दा जायसवालजी द्वारा उठा दिए जाने पर अब हम कह सकते हैं कि यह बाहरी चढ़ाई प्रवरसेन वाकाटक की ही थी।

दूसरा प्रश्न यह है कि क्षत्रपों का राज्य अब किन इलाकों में था। इस प्रश्न पर उपरकोट और सर्वाणिया के ढेर प्रकाश डालते हैं, जिन पर कि हम आगे विचार करेंगे।

२५४ श० (=३३२ ई०) का यशोदामा (२ य) का अंतिम सिक्का पाया गया है। उसके १६ बरस बाद २७० श० (=३४८ ई०) में स्वामी रुद्रसेन (३ य) महाक्षत्रप के सिक्के फिर मिलने लगते हैं। यह रुद्रसेन अपने को महाक्षत्रप राजा

स्वामी रुद्रदामा (२ य) का बेटा कहता है। इसका यह अर्थ है कि महाक्षत्रपी का पुनरुद्धार पहले-पहल रुद्रदामा (२ य) ने किया। लेकिन इस रुद्रदामा का कोई लेख या सिक्का नहीं मिला, इससे प्रकट है कि उसका राज्यकाल बहुत छोटा था। संभवत: वह ३-४ बरस महाक्षत्रप रहा। यों उसके महाक्षत्रप राजा बनने की तिथि अंदाजन ३४४-४५ ई० होती है। यह तिथि महत्त्व की है, क्योंकि ठीक यही प्रवरसेन की मृत्यु की तथा समुद्रगुप्त की पाटलिपुत्र-चढ़ाई की तिथि है। स्पष्ट है कि प्रवरसेन ने ही पहले क्षत्रपों को अपना सामंत बनाया और फिर पद-च्युत किया था, और कि उसका देहांत होने पर ज्योंही वाकाटक साम्राज्य विपत्ति-ग्रस्त हुआ, त्योंही स्वामी रुद्रदामा ने स्वतंत्र महाक्षत्रप पद धारण कर लिया।

§ ६. समुद्रगुप्त की चढ़ाई

स्वामी रुद्रसेन (३ य) महाक्षत्रप के सिक्के चार बरस (२७०—२७३ श० = ३४८—३५१ ई०) तक चलने के बाद एकाएक बंद हो जाते, और फिर करीब दस बरस बाद जारी होते हैं। इस घटना की व्याख्या उपरकोट ढेर के प्रथम परीक्षक रेवरेंड स्कॉट ने बड़ी योग्यता से की थी। उस ढेर में रुद्रसेन के ६० सिक्के थे, किंतु वे सब २७३ श० तक के। वही उस ढेर की अंतिम तिथि है, उस तिथि के बाद का कोई सिक्का उसमें नहीं था[४]। स्कॉट की व्याख्या को

(४) यह बात स्पष्ट शब्दों में स्कॉट और रैप्सन ने दर्ज की है। किंतु आगे रैप्सन अपनी सूची में नं० ८३७ और नं० ८६६ सिक्कों की तिथियाँ २६× और २×× देते हैं, और उनके विवरण में लिखते हैं—"वाटसन म्यूजियम राजकोट; उपरकोट ढेर में से" अर्थात् ये सिक्के उपरकोट ढेर में थे और वाटसन म्यूजियम ने ब्रिटिश म्यूजियम को भेंट किये हैं। नं० ८६६ सिक्के पर केवल २०० का अंक ही पढ़ा गया है, पर रैप्सन सुझाते हैं कि उसकी तिथि २९८ या २९९ है। स्पष्ट है कि प्रो० रैप्सन से यहाँ कोई गलती

रैप्सन ने अपने समर्थन के साथ उद्धृत किया। स्कॉट लिखते हैं—"इन सिक्कों में से बहुत से, विशेषकर पिछले बरसोंवाले, बिलकुल ताजे टकसाल से निकले हुए और अनघिसे हैं। इन कारणों से...यह परिणाम निकालना उचित होगा कि यह ढेर रुद्रसेन के राज्य के पहले अंश के अंत में गाड़ा गया था, और बहुत संभवतः इस धन को गाड़ने का कारण यह था कि उस समय राज्यक्रांति हुई थी जिससे जान-माल सुरक्षित न थे।" (रैप्सन, भूमिका, पृ० १४५)।

स्कॉट ने यह बात १८६६ में लिखी थी; उसके १२ बरस बाद सर्वाणिया का ढेर मिला, और उसने भी इस परिणाम को आश्चर्यजनक रूप से पुष्ट किया। वह ढेर भी २७३ श० में गाड़ा गया था, और उसमें भी रुद्रसेन के ४४ सिक्के वैसी ही हालत में पाए गए। डा० भंडारकर ने इससे यह परिणाम निकाला कि रुद्रसेन के समूचे राज्य में एकाएक और एक साथ क्रांति हुई थी (पृ० २२८)। यह परिणाम सर्वथा युक्ति-संगत है। इन दोनों ढेरों के छिपाने के ढंग से जान पड़ता है कि मानों क्षत्रप राज्य पर कोई बाहरी आक्रांता एकाएक गाज की तरह गिरा हो। ऐसा आक्रमण ३५१ ई० में समुद्रगुप्त के सिवाय और किसका हो सकता है?

उक्त दोनों ढेरों और उनके उपरकोट और सर्वाणिया में एकाएक गाड़े जाने से यह भी सूचित होता है कि सुराष्ट्र और उत्तर-पूरबी गुजरात में क्षत्रप राज्य अब तक बना हुआ था—यह कहना ठीक न होगा कि वाकाटकों के समय वह राज्य केवल कच्छ और सिंध

हुई है। जब २७३ के बाद का कोई सिक्का उस ढेर में नहीं था, तो यह २६×, २६८ के कैसे? इन सिक्कों के चित्र भी पुस्तक में नहीं दिए गए, जिससे इनकी तिथियों की जाँच की जा सकती।

में रह गया था। हाँ, दक्खिनी गुजरात और मालवा से वह राज्य भारशिव-युग में ही उठ चुका था।

स्वामी रुद्रदामा के पिछले सिक्के रैप्सन ने २८६ से ३०० श० तक के दर्ज किए हैं, किंतु जूनागढ़-म्यूजियम और छिंदवाड़ा की ढेरियों में उसके २८२ और २८४ के भी सिक्के मिले हैं। उसके बाद उसके भानजे स्वामी सिंहसेन महाक्षत्रप का एक सिक्का ३०४ श० का पुष्कर से मिला है।

§ १०. क्षत्रप-वंश की पुनः प्रतिष्ठा

सिंहसेन के बेटे स्वामी रुद्र-सेन (४ र्थ) महाक्षत्रप का भी एक सिक्का है, पर उस पर तिथि दिखाई नहीं देती। अंत में स्वामी सत्यसिंह महाक्षत्रप के बेटे स्वामी रुद्रसिंह (३ य) के कुछ सिक्के पाए गए हैं, जिनमें से पुष्कर से मिले एक सिक्के पर ३१× तिथि पढ़ी गई है—इकाई का अंक नहीं पढ़ा जा सका। छिंदवाड़ा की ढेरी में श्रीयुत आचार्य के अनुसार स्वामी रुद्रसेन (३ य) के ३०१, [३] १२ और ३१× श० के सिक्के भी हैं। ३०१ तिथि तो संगत है, पर दूसरी तिथियों पर संदेह होता है, क्योंकि ३०४ में तो स्वामी सिंहसेन महाक्षत्रप था।

स्वामी सिंहसेन अपने मामा स्वामी रुद्रसेन को कभी तो 'राजा महाक्षत्रप' लिखता है और कभी 'महाराज क्षत्रप'। रैप्सन कहते हैं कि 'महाराज' शब्द इस वंश ने किसी बाहरी शक्ति से लिया होगा, जिसके सामंत ये होंगे (भूमिका, पृ० १४७)। रैप्सन का यह अनुमान बहुत ठीक है। गुप्तों के प्रादेशिक सामंत सब 'महाराज' कहलाते थे, और स्वामी रुद्रसेन (३ य) २८२ श० (=३६० ई०) में समुद्रगुप्त के सामंत महाराज के रूप में ही पुनःप्रतिष्ठित हुआ, ऐसा प्रतीत होता है। समुद्रगुप्त के प्रयाग-अभिलेख में घटनाओं का क्रम इस प्रकार दिया है—

(१) अच्युत, नागसेन आदि राजाओं को परास्त कर पुष्पपुर अर्थात् पाटलिपुत्र पर अधिकार करना,

(२) दक्षिणापथ की चढ़ाई,

(३) आर्यावर्त्त के अनेक राज्यों को उखाड़ना,

(४) आटविक राज्यों को अधीन करना,

(५) प्रत्यंत राज्यों को करद बनाना,

(६) अनेक राज्यों को गिराकर उनके उत्सन्न राजवंशों का पुन:प्रतिष्ठापन, तथा

(७) देवपुत्र-शाहि-शाहानुशाहि और सिंहल आदि के राज्यों को वशंवद बनाना।

पहले चार कार्य वाकाटक-साम्राज्य को तोड़कर उसके स्थान में अपने राज्य की स्थापना करने के थे। उन कार्यों का समय जायसवालजी ने ३४४ से ३४६-५० ई० तक रक्खा है। समुद्रगुप्त को ज्योंही वाकाटकों से फुरसत मिली, वह बिजली की तरह सुराष्ट्र के राज्य पर टूटा (३५१ ई०); किंतु क्षत्रप राजवंश को उखाड़कर उसने उसकी पुन:प्रतिष्ठा भी की। सुराष्ट्र की यह घटना वाकाटक-साम्राज्य की घटनाओं से स्वभावत: पीछे हुई, और इसी से इसका पीछे उल्लेख है। और इस राजवंश की पुन:प्रतिष्ठा सुराष्ट्र में ही की गई या पुष्कर-प्रदेश में, सो नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अंतिम सिक्के सुराष्ट्र से विशेष नहीं मिले।

§ ११. अंत

शक क्षत्रपों का अंतिम निपटारा चंद्रगुप्त विक्रमादित्य ने किया, इसमें संदेह नहीं। किंतु इसी से यह परिणाम नहीं निकल सकता कि समुद्रगुप्त ने उन्हें अधीन न किया था। संभवत: समुद्रगुप्त के बाद रामगुप्त के

समय गुप्त-साम्राज्य के विपत्ति-काल में उन्होंने फिर स्वतंत्र होने की चेष्टा की, और इसी से बलख की चढ़ाई से निपटकर चंद्रगुप्त को अपनी दक्खिन-चढ़ाई में उनकी जड़ से सफाई करनी पड़ी। तो भी इस पुराने विश्वास को अब छोड़ना होगा कि चंद्रगुप्त विक्रमादित्य का शकारि पद इन तुच्छ शक-वंशजों को उखाड़ने के कारण है। चंद्रगुप्त के किसी अभिलेख से यह बात सूचित नहीं होती। दूसरी तरफ यह बात अब मालूम हो चुकी है कि चंद्रगुप्त ने जिस शक राजा को हराया और मारा, वह काबुल का कनिष्क-वंशज था। समुद्रगुप्त का ठीक उत्तराधिकारी चंद्रगुप्त नहीं, प्रत्युत उसका बड़ा भाई रामगुप्त था; शक राजा ने उस पर चढ़ाई करके उसे घेर लिया और वह अपनी रानी ध्रुवदेवी को शक राजा को देने को तैयार हो गया था; तब नवयुवक चंद्रगुप्त ने साहस करके शक राजा को मारा और ध्रुव स्वामिनी का उद्धार किया। इन बातों का ऐतिहासिक सत्य के रूप में पहले-पहल स्व० राखालदास बैनर्जी ने अपने नंदी-व्याख्यानों में प्रतिपादन किया था (१९२४)। नंदी-गद्दी पर उनके उत्तराधिकारी डा० अल्तेकर ने बाद में और अनेक प्रमाण संग्रह करके उस स्थापना को पुष्ट किया[५]। उन प्रमाणों में उन्होंने राजशेखर द्वारा उद्धृत वह सुंदर पद्य—

"दत्त्वा रुद्धगतिः खसाधिपतये देवीं ध्रुवस्वामिनीं
यस्मात् खण्डितसाहसो निववृते श्रीशर्मगुप्तो नृपः।
तस्मिन्नेव हिमालये······"

भी उद्धृत किया। इसमें खसाधिपति के बजाय शकाधिपति और शर्मगुप्त के बजाय रामगुप्त पढ़ना चाहिए। इस पद्य की ओर

(५) ज० बि० ओ० रि० सो०, जिल्द १४, १५ में।

वास्तव में राखालदास और अल्तेकर दोनों से पहले स्व० चंद्रधर गुलेरी का ध्यान गया था,[६] और शर्मगुप्त पाठ में कुछ दोष है, सो भी उन्होंने पहचान लिया था। रामगुप्त-विषयक खोज का आरंभकर्त्ता श्रीयुत रामकृष्ण कवि के बजाय गुलेरीजी को ही मानना चाहिए। राखालदास के सामने वह पद्य न था, तो भी उन्होंने अपनी सहज सूझ से यह पहचान लिया था कि समुद्रगुप्त के बेटे को इस प्रकार लांछित करनेवाला राजा सुराष्ट्र का तुच्छ क्षत्रप नहीं हो सकता, काबुल का कनिष्क-वंशज शाहानुशाहि होना चाहिए। डा० अल्तेकर के सामने यह पद्य था, तो भी वे शकाधिपति की तलाश में मालवा के पठार और काठियावाड़ के जंगलों में भटकते रहे; "तस्मिन्नेव हिमालये" की ओर या तो उनका ध्यान नहीं गया, और या उन्होंने यह सोचा ही नहीं कि सुराष्ट्र का शक-क्षत्रप हिमालय तक क्यों और कैसे पहुँच सकता था।

डा० अल्तेकर के बाद जायसवालजी ने इस विषय की विवेचना की और उन्होंने स्पष्ट रूप से यह निश्चित किया कि रामगुप्त की विपत्ति का स्थान हिमालय में ही था और वह भी पंजाब में[७]। मैंने उस स्थान को ठीक-ठीक शिनाख्त करने का यत्न किया है, और इस परिणाम पर पहुँचा हूँ कि वह गढ़ व्यास नदी के किनारे शिवालक या सोलासिंगी शृंखला में उसी विष्णुपद नामक पहाड़ पर था, जिस पर चंद्रगुप्त ने अपना लोह-स्तंभ खड़ा किया था[८]।

---

(६) ना० प्र० प० १, पृ० २३४—३५।
(७) ज० बि० ओ० रि० सो० १८, पृ० २८—२९।
(८) वहीं २०, पृ० ९७--१००।

फलतः, चंद्रगुप्त शकों का शत्रु प्रसिद्ध है, और समुद्रगुप्त के विषय में वैसी प्रसिद्धि नहीं है, इसलिये पच्छिमी क्षत्रपों को समुद्रगुप्त ने न जीता होगा, ऐसा अब न सोचना चाहिए। कारण कि चंद्रगुप्त की शकारि होने की प्रसिद्धि उस शक राजा को मारने और उसके घर में जाकर उसका राज्य जीतने से है जिसके पूर्वज इन तुच्छ क्षत्रपों के पूर्वजों के अधिपति थे। और दिग्विजयी समुद्रगुप्त सुराष्ट्र के इस तुच्छ राज्य को अधीन किए बिना छोड़ देता, यही आश्चर्य की बात होती।

§ १२. परिणाम

क्षत्रपों के इतिहास की इस पुनःपरीक्षा से हमें भारतीय इतिहास की कई महत्त्वपूर्ण बातें मालूम हुई हैं। हमने देखा कि जायसवालजी के इस कथन का कि वाकाटक-युग में क्षत्रप-राज्य सुराष्ट्र में न रहा था, चाहे समर्थन नहीं किया जा सकता, तो भी भारशिव वाकाटक और आरंभिक गुप्त युग के इतिहास की जो रूपरेखा उन्होंने बनाई है, उसकी क्षत्रप-सिक्कों से आश्चर्यजनक पुष्टि होती है।

परिशिष्ट (१)

घटनावली की तालिका

सं०	राजा का नाम	तिथि	विवरण
	[मुख्य राजा का नाम ही दिया गया है, अर्थात् जब राज्य में महाक्षत्रप और क्षत्रप दोनों हों तब महाक्षत्रप का, और जब केवल क्षत्रप हो तो उसी का]	शकाब्द—ईसवी	
१.	चष्टन महाक्षत्रप		राज्य शत्रुओं के हाथ में।
२.	रुद्रदामा (१म) म० क्ष० (नं० १ का पोता)	५२–७२श० = १३०–१५०	स्वयं महाक्षत्रप पद पाया अर्थात् फिर से राज्य जीता।
३.	दामजदश्री (१म) म० क्ष० (नं० २ का बेटा)		शिवदत्त आभीर के बेटे राजा ईश्वरसेन आभीर का नासिक में लेख—फलतः अपरान्त और दक्खिन गुजरात में आभीर-राज्य-स्थापना। कान्तिपुरी में भारशिव-राज्य-स्थापना।
४.	रुद्रसिंह (१म) म० क्ष० (नं० ३ का भाई)	१०३–११० = १८१–१८८	रुद्रभूति आभीर रुद्रसिंह का सेनापति। अन्तर्वेद में तुखार साम्राज्य का अन्त और भारशिव

सं०	राजा का नाम	तिथि	विवरण
	ईश्वरदत्त आभीर म० क्ष०	११०–११२ = १८८–१९०	राज्य स्थापित। रुद्रसिंह इस अवधि में पदच्युत कर क्षत्रप बनाया गया।
	रुद्रसिंह (१) म० क्ष०	११३–११८ = १९१–१९६	रुद्रसिंह ने राज्य वापिस पाया, तो भी द० पू० गुजरात में आभीर राज्य बना रहा होगा।
५.	जीवदामा (नं० ३ का बेटा)	११६ = १९७	
६.	रुद्रसेन (१म) (नं० ४ का बेटा)	१२२–१४४ = २००–२२२	१३१ श० से उज्जैन में दक्षिणमुख हाथी छाप के बिना राजा के नाम के, शकाब्द-युक्त सिक्के शुरू। उज्जैन-प्रदेश का क्षत्रप राज्य से अलग होना।
७.	संघदामा (नं० ६ का भाई)	१४४–१४५ = २२२–२२३	
८.	दामसेन (नं० ७ का भाई)	१४५–१५८ = २२३–२३६	उज्जैन-सारंगपुर में दक्षिणमुख हाथी नमूने के शकाब्द-युक्त सिक्के जारी।
९.	यशोदामा (१म) (नं० ८ का भाई)	१६०–१६१ = २३८–२३९	उज्जैन प्रदेश से दक्षिणमुख हाथी नमूने के सिक्के बिना शकाब्द के।

१०. विजयसेन म० क्ष० (नं० ६ का भाई)	१६१–१७२ = २३६–२५०	सिक्के में चाँदी का कम रह जाना—अर्थात् राज्य कठिनाई में। भारशिव साम्राज्य का सेनापतित्व विंध्यशक्ति वाकाटक के हाथ में।
११. दामजदश्री (३ य) म० क्ष० (नं० १० का भाई)	१७३–१७७ = २५१–२५५	सिक्के की भ्रष्टता जारी।
१२. रुद्रसेन (२ य) म० क्ष० (नं० ८ के पुत्र वीरदामा का बेटा)	१७७–१९९ = २५५–२७७	
१३. विश्वसिंह म० क्ष० (नं० १२ का बेटा)	२०० = २७८ [जूनागढ़ खजाने के सिक्के पर २११ तिथि विचारणीय।]	
१४. भर्तृदामा म० क्ष० (नं० १३ का भाई)	२०४–२१७ = २८२–२९५	प्रवरसेन वाकाटक विंध्यशक्ति का उत्तराधिकारी। उसके पुत्र का भारशिव सम्राट् का उत्तराधिकारी निश्चित होना। प्रवरसेन भारत-सम्राट्।
१५. विश्वसेन क्षत्रप (नं० १४ का बेटा)	२१७–२२६ = २९५–३०४ [यह २१५ से क्षत्रप था,	महाक्षत्रपी का अन्त; सुराष्ट्र प्रवरसेन के अधीन और क्षत्रप उसके सामन्त (?)।

सं०	राजा का नाम	तिथि	विवरण
		पर २१७ तक अपने पिता के अधीन क्षत्रप होगा ।]	
	(नया राजवंश)		
१६.	रुद्रसिंह (२ य) क्ष०	२२६–२३८ = ३०४–३१६	प्रवरसेन की अधीनता जारी ।
१७.	यशोदामा (२ य) क्ष० (नं० १६ का बेटा)	२३८–२५४ = ३१६–३३२	क्षत्रपी का भी अंत । प्रवरसेन द्वारा राजवंश का पदच्युत किया जाना (?) ।
	(नया वंश)		
१८.	स्वामी रुद्रदामा (२ य) म० क्ष०	अंदाजन २६७–२६६ = ३४५-३४७	प्रवरसेन की मृत्यु और वाकाटक साम्राज्य पर समुद्रगुप्त की चढ़ाई होने पर महाक्षत्रप का फिर सिर उठाना ।
१९.	स्वामी रुद्रसेन (३ य) म० क्ष०	२७०–२७३ = ३४८–३५१ २७३ = ३५१	समुद्रगुप्त की चढ़ाई (?) समूचे राज्य में क्रांति, महाक्षत्रपी का फिर अंत ।

म० क्ष० अथवा क्ष०	२८२–२०१ = ३६०–३७६ [छिंदवाड़ा के (३)१२	महाक्षत्रपी पुनः प्रतिष्ठित, समुद्रगुप्त के सामंत रूप में।
२०. स्वामी सिंहसेन म० क्ष० (नं० १६ का भानजा)	और ३१ × वाले सिक्के विचारणीय।]	सिक्के पुष्कर से मिले। महाक्षत्रपी की पुनः प्रतिष्ठा गुजरात में या राजपूताना में (?)
२१. स्वामी रुद्रसेन (४ र्थ) म० क्ष० (नं० २० का पुत्र)	३०४ = ३८२	एक ही सिक्का मिला, तिथिहीन।
(नया वंश ?)		
२२. स्वामी सत्यसिंह म० क्ष०		समुद्रगुप्त-मृत्यु बाद रामगुप्त के समय महाक्षत्रप की फिर स्वतंत्र होने की चेष्टा (?)
२३. स्वामी रुद्रसिंह (३ य) म० क्ष०	३१० = ३८८	पुष्कर से सिक्के। महाक्षत्रपी का अंत, चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य द्वारा।

परिशिष्ट (२)

क्षत्रप राजाओं के वंश-वृक्ष

स्वामी जीवदामा
|
(१६) रुद्रसिंह (२ य)
|
(१७) यशोदामा (२ य)

---

(१८) स्वामी रुद्रदामा (३ य)
|
(१९) स्वामी रुद्रसेन (३ य) — लड़की
लड़की
|
(२०) स्वामी सिंहसेन
|
(२१) स्वामी रुद्रसेन (४ र्थ)

---

(२२) स्वामी सत्यसिंह
|
(२३) स्वामी रुद्रसिंह (३ य)

---

(२) तसव्वुफ का प्रभाव

[लेखक—श्री चंद्रबली पांडेय, एम० ए०, काशी]

सूफी देखने में यद्यपि संसार से कुछ विरक्त दिखाई पड़ते हैं तथापि उनका मुख्य उद्देश्य अपने मत का प्रचार करना होता है। 'तसव्वुफ अथवा सूफी मत का क्रमिक विकास'[१] नामक लेख में हमने देख लिया है कि प्राचीन नबियों में कुछ ऐसे भी जीव होते थे जो सामाजिक आंदोलनों में ही नहीं, बल्कि राजनीतिक हलचलों में भी पूरा योग देते थे। श्री मैंक्डानल्ड[२] ने ठीक ही कहा है कि इसलाम के प्रचार के लिये नीतिज्ञ दरवेश प्रांतीय प्रदेशों में जाते और अपनी उदारता तथा प्रेम के उपदेशों से कतिपय व्यक्तियों को चेला मूँड़ लेते थे। जब उनकी संख्या पर्याप्त हो जाती थी और उनको अपनी शक्ति में विश्वास हो जाता था तब उनका वहीं एक उपनिवेश स्थापित हो जाता था और धीरे-धीरे उस उपनिवेश को साम्राज्य में परिणत कर देते थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि इन सूफियों का प्रचार बहुत कुछ उसी ढंग पर चल रहा था जिस ढंग पर पादरियों का चलता रहा है। प्रसिद्ध ही है कि मुहम्मद गोरी को भारत में लानेवाले व्यक्तियों में ख्वाजा जलालुद्दीन चिश्ती भी थे जिन्होंने उससे पहले भारत में भ्रमण किया था और पृथ्वीराज को शाप भी दिया था। कहना न होगा कि सूफियों के शाप का अर्थ उस समय इसलाम का आक्रमण था। आज हमें यद्यपि इस प्रकार के सूफी नहीं दिखाई देते जो इस प्रकार के

---

(१) ना० प्र० पत्रिका भाग १६, अंक ४।
(२) Aspects of Islam PP. 284.

बड़े काम कर सकें तथापि हम प्रतिदिन देखते हैं कि अनेक सूफी तबलीग में भाग ले रहे हैं और इसलाम के प्रचार में मग्न हैं। प्रत्येक पीर की ओर से उसके कुछ खलीफे अपने संप्रदाय के प्रचार में लगे हैं और प्रकारांतर से इसलाम का हित कर रहे हैं। हमें इस स्थल पर इस प्रकार के प्रचार पर विचार करने की आवश्यकता नहीं। जरूरत इस बात की है कि हम थोड़े में यह दिखा दें कि तसव्वुफ के प्रचार का प्रभाव स्वयं इसलाम तथा अन्य मतों पर क्या पड़ा; अथवा किस प्रकार सूफियों ने मानव जाति को अपना ऋणी बनाया।

तसव्वुफ के प्रभाव पर विचार करते समय यह स्मरण रखना चाहिए कि तसव्वुफ का सबसे व्यापक और पुष्ट प्रभाव स्वयं इसलाम पर पड़ा। मौलाना रूमी ने कुरान से जो मग्ज निकाल लिया था, सूफी उसी के सेवन से इसलाम को मधुमय तथा सरस बनाते रहे। यदि वे ऐसा न करते तो मुसलिम उन्हीं हड्डियों के लिये लड़ते रहते जिन्हें उन्होंने अलग फेंक दिया था। मुसलिम शासक जब अमरदपरस्ती में मस्त थे, मुसलिम सेना जब भोग-विलास और हाव-भाव में डूबी थी, मुल्ला-काजी जब घोर उपद्रव खड़ा करने में मग्न थे, जनसामान्य के लिये जब कोई निश्चित मार्ग न रह गया था, तब उस घोर परिस्थिति में, यदि सूफी आगे न बढ़ते तो कौन मानव-जीवन को सरस और आनंदमय बनाता! कौन निरीह जनता की पुकार सुनता? निस्संदेह उस समय सूफियों ने घूम-घूमकर जो प्रेम का प्रचार किया वही इसलाम के मंगल का स्तंभ हुआ और उसी ने इसलाम के भारी महल को ढहने से बचा लिया। उनके प्रयत्न से प्रायः सभी दीनदार मुसलमान किसी न किसी सूफी-संघ के भीतर आ गए और उस परम प्रियतम के वियोग में उसके गैर-इसलामी बंदों पर भी रहम करने लगे। प्रेम के उपासक सूफियों ने जनता को अच्छी तरह सुझा दिया कि अल्लाह

जीवमात्र का शासक और प्रत्येक हृदय का आलंबन है। उसके साक्षात्कार के लिये दिल को साफ रखने की जरूरत है, किसी रसूल की रट लगाने की नहीं। खुदी को रखते हुए खुदा का ख्वाब देखना बिलकुल फजूल है। अपने को गुमराह करना है, अल्लाह का आराधन नहीं।

सूफियों के प्रयत्न से तसव्वुफ घर-घर पहुँच गया और लोगों की अभिरुचि भी इसकी ओर अधिक दिखाई पड़ने लगी। पर 'मुंडे मुंडे मतिर्भिन्ना' के अनुसार सूफियों में भी अनेक संघ स्थापित हो गए और वे अपने-अपने सिलसिले का प्रचार करने लगे। इससे तसव्वुफ के प्रचार में नया जीवन आ गया और लोग उसकी ओर और भी चाव से बढ़ने लगे। परंतु, जैसा कि प्राय: देखा जाता है, संघ प्रेम के प्रचारक ही नहीं, व्यभिचार के अड्डे भी हो जाते हैं। रसूल कभी-कभी आते हैं पर शैतान सदा पीछे पड़ा रहता है। फलत: उसके प्रसाद से सूफी अपने लक्ष्य से गिरे और बहुत से शैतान के पक्के मुरीद बन गए। पर सामान्यत: समष्टि की दृष्टि से जनता पर उनका प्रभाव सदा अच्छा ही पड़ा। उनके दोष भी गुण ही गिने गए। बात यह थी कि सूफियों का एक दल ऐसा भी था जो जान-बूझकर दुराचारों का प्रदर्शन इस दृष्टि से करता था कि लोग उससे घृणा करें और दूर रहें। इस प्रकार सूफियों के पाप भी प्रकारांतर से पुण्य या प्रेम के प्रसाद ही समझे जाते थे। सूफ़ी वास्तव में जितने पाक थे उससे कहीं अधिक जनता को पवित्र प्रतीत होते थे। समर्थ पीरों में दोष की कल्पना मुरीदों के चित्त में कैसे आ सकती थी? वे अपनी बाहरी आँखों को झूठ या दोषी ठहरा सकते थे, किंतु किसी फ़क़ीर में दोष नहीं देख सकते थे। किसी दरवेश की मौज को कौन जान सकता है? उसकी बातों पर गौर करना और

उसके कहे पर चलना ही मुरीदों का फर्ज है; उसके आचार-विचार और व्यवहार पर टीका-टिप्पणी करने की उनमें क्षमता कहाँ? निदान, सूफियों की दुआ और तबर्रुक से लोगों के क्लेश कट जाते थे। तावीज से 'जिन' भाग जाते थे और मिन्नत से मनचाही चीज मिल जाती थी। अन्यथा होने पर श्रद्धा और विश्वास की कमी समझी जाती थी; उनकी शक्ति और सामर्थ्य की नहीं। सारांश यह कि उनके प्रसाद से लोक-परलोक दोनों ही सुधर जाते थे और जनता उन्हीं के इशारे पर चलती थी। जब कभी उसमें अन्यथा भाव आता था तब उस पर आपत्तियों के पहाड़ टूट पड़ते थे और वह किसी कब्र पर चिराग जलाने या किसी फकीर से तबर्रुक हासिल करने पहुँच जाती थी। उसके रक्षक फकीर और पीर ही थे। मुसलिम दृष्टि से इसमें इसलाम की अवहेलना भले ही हो, पर सूफियों के प्रभाव से मुसलिम हृदय ने किया यही।

मुरीदी के प्रचारक सूफियों की संख्या कम न थी। एक शेख के कई खलीफे और न जाने कितने अनुचर होते थे जो मत के प्रचार तथा सिलसिले की देख-भाल में लगे रहते थे। सूफियों के सिलसिलों की कोई सीमा नहीं। जहाँ कहीं प्रतिभाशाली अभिमानी सूफी उत्पन्न हुआ, उसका एक नया सिलसिला चल पड़ा। यदि वह शांत प्रकृति का हुआ और उसने अपने जीवन में अपने को अन्य सिलसिलों से अलग न कर लिया तो उसके शिष्यों ने अगली पीढ़ी में उसे अवश्य ही अन्यों से अलग कर लिया और एक नए खानदान का सृजन किया। देश-काल का भी सिलसिलों पर पूरा प्रभाव पड़ा।

किसी भी सूफी-सिलसिले पर विचार करते समय यह न भूल जाना चाहिए कि उसके आदि-पुरुष या प्रवर्त्तक वास्तव में रसूल,

बकर, उमर, उसमान, अली अथवा अन्य कोई, रसूल का प्रतिष्ठित साथी नहीं है। इन महानुभावों के नामोल्लेख का प्रधान कारण तो यह है कि मुसलिम उनके उल्लेख के बिना किसी शुभ कर्म या सिलसिले का श्रीगणेश कर ही नहीं सकता। उसका मजहब इसके लिये उसे मजबूर करता है। अस्तु सूफियों की इस मनोवृत्ति का मुख्य कारण एक ओर तो इसलामी दबाव और दूसरी ओर उनकी श्रद्धा है। साधारण मुसलमान भी इस चेष्टा में लगा रहता है कि वह किसी खलीफा या रसूल के साथी का वंशज मान लिया जाय। सारांश यह कि सूफियों के सिलसिलों का संबंध वस्तुत: उक्त महानुभावों से कुछ भी नहीं है। उनका प्रवर्त्तक या आचार्य वास्तव में कोई पीर या मुरशिद ही है। रसूल और उनके साथियों को तो इसलाम के प्रचार से ही फुरसत न मिली, वे अलग अलग अपने सिलसिले कहाँ से चलाते?

हुज्वेरी ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक[१] 'कश्फुल् महजूब' में सूफियों के बारह सिलसिलों का वर्णन किया है; जिनमें केवल दो गैर-इसलामी हैं। इसलामी सिलसिलों में सर्वप्रथम समय की दृष्टि से मुहासिबी संप्रदाय माना जाता है। उसके अनंतर क्रमश: हकीमी, तैफूरी, कस्सारी, खर्राजी, सहली, नूरी, जुनैदी, खफीफी और सय्यारी नामक सिलसिले कायम हुए। संप्रदायों का नामकरण उनके प्रवर्त्तकों के नाम के आधार पर किया गया है। तैफूरी का प्रवर्त्तक बायजीद या यजीद बिस्तामी है जो इसी नाम से विख्यात है। उक्त सूफियों ने क्रमश: रजा, विलायत, सक्र, मलामत, फना व बका, मुजाहदा, इसार, शह, गैबत व हुजूर और जमा व तफरीक पर अधिक जोर दिया।

---

(१) Islam in India P. 2

गैर-इसलामी सिलसिलों में हुज्वेरी ने एक ही का नाम दिया है जिसका प्रवर्त्तक दमिश्क का अबू हुल्मान नामक सूफी था। हुज्वेरी ने उसको हुलूली कहा है। हुलूल में अवतार का भान होता है, अत: मुसलिम उसे इसलाम से अलग मानते हैं। दूसरा सिलसिला जिसे मुसलिम इसलाम के अंतर्गत नहीं मानते वह शायद हल्लाजी है जिसका प्रवर्त्तन हल्लाज के शिष्य फारिस ने किया था।

हुज्वेरी के अनंतर तसव्वुफ में आर्य-संस्कारों का संयोग होता रहा और कुछ ही दिनों में उसका रूप इतना स्पष्ट और परिवर्त्तित हो गया कि लोग उसे इसलामी कहने में संकोच करने लगे। सूफियों के अनेक खानदान ऐसे प्रतिष्ठित हो गए जो जन्मांतर[१] को मानते और सर्वथा गैर-इसलामी थे। इस संबंध में यह स्मरण रखने की बात है कि इसलामी सिलसिलों में सबसे प्राचीन सिलसिला मुहासिबी का है जो प्रथम सूफी लेखक और सिलसिले का प्रवर्त्तक है। मुहासिबी बसरा का निवासी था। शेष प्रवर्त्तकों में खर्राज, नूरी और जुनैद बगदाद के नर-रत्न सूफी थे। हसन और राबिया भी बसरा के निवासी थे। मतलब यह कि सूफी-मत के इतिहास में बसरा का खास स्थान है। बसरा सदा से आर्य-संस्कृति का प्रांत रहा है। उस पर विचार करने से तसव्वुफ की प्रगति पर बहुत कुछ प्रकाश पड़ता है और आर्य-प्रभाव भी स्पष्ट हो जाता है। गैर इसलामी सिलसिलों के संबंध में स्मरण रहे कि हुलूल अवतार का प्रसाद कहा जाता है और हल्लाज भारत आया भी था। दोनों का आर्य-प्रभाव से प्रभावित होना असंभव नहीं कहा जा सकता।

---

(१) An Idealist View of Life P. 286

सूफियों के प्रति इसलाम की चाहे जैसी धारणा रहे, उनके मठों की चाहे जितनी अवहेलना हो, वहाबी उनके प्रतिकूल चाहे जितने आंदोलन करें और उनके मत को हिंदू-मत का अंग साबित करें, पर इतना तो उन्हें भी मान्य होगा कि इसलाम का कोना-कोना तसव्वुफ के चिराग से ही रोशन है। क्या समाज, क्या दर्शन, क्या आचार, क्या विचार, क्या काव्य, क्या साहित्य, इसलाम के सभी अंगों पर सूफियों की छाप है और उन्हीं के रंग में इसलाम सबको रँगा दिखाई दे रहा है। वास्तव में तसव्वुफ इसलाम का रामरस है। उसके बिना इसलाम नीरस और फीका है।

शायद ही कोई मुसलमान ऐसा मिले जिसके कुशल के लिये कभी किसी पीर की मिन्नत न मानी गई हो और उसके हित के लिये किसी फकीर से तावीज या दुआ हासिल न की गई हो। यह तो हुई सामान्य मुसलिम जनता की बात। पढ़े-लिखे मर्मज्ञों के विषय में हम देख ही चुके हैं कि सभी कुछ न कुछ सूफी-मत से प्रभावित अवश्य हुए हैं। इसलामी[१] दर्शन की निजी सत्ता में बहुतों को संदेह है। स्वयं मुसलमान 'फिलसफ' को यूनान का प्रसाद समझते हैं और बातचीत में भी अरस्तू और अफलातून का गुणगान करते हैं। यद्यपि कुछ मुसलिम दार्शनिकों ने यूनानी दार्शनिकों का कहीं कहीं कुछ खंडन भी कर दिया है तथापि दर्शन के संसार में इसलाम की स्वतंत्र सत्ता स्वीकार नहीं हो सकती। रही तसव्वुफ बात। उसके विषय में दुनिया जानती है कि इसलामी तसव्वुफ मौलिक न होने पर भी अपनी स्वतंत्र सत्ता रखता है। और प्रेम के क्षेत्र में तो उसका सामना करनेवाला अन्य दर्शन है ही नहीं। मोतजिलों के तर्क से जब इसलाम उत्सन्न हो रहा था तब उसकी प्रतिष्ठा तसव्वुफ ने की। सूफियों ने आर्य-दर्शन के

(१) An Idealist View of Life P. 286

आधार पर उनका समाधान किया और इसलाम को चिंतनशील बनने का अवसर मिला। इसलाम में जितने मनीषियों ने जन्म लिया उनमें अधिकांश सूफी थे। जो सर्वथा सूफी न थे वे भी तसव्वुफ से अच्छी तरह प्रभावित हुए थे और अंशतः सूफी-सिद्धांतों के कायल भी थे। सिना, किंदी, अरबी सभी तो सूफी थे। गजाली और फाराबी भी तो तसव्वुफ के संस्थापक थे। तसव्वुफ का प्रभाव मुसलिम दार्शनिकों पर इतना व्यापक और गहरा पड़ा कि अरिस्टाटल का रूप भी इसलाम में जाकर कुछ बदल गया और उसमें भी तसव्वुफ का आरोप हो गया। बाद में मसीही पंडितों को उसको शुद्ध और स्पष्ट करने में पूरा परिश्रम करना पड़ा। सूफियों के विरोध में जो मुसलिम आलिम आगे आए उनका या तो दर्शन से कुछ संबंध ही नहीं था या कुरान और हदीस के केवल कोरे पंडित और निरे मुल्ला थे। जिनमें कुछ भी स्वतंत्र जिज्ञासा और छानबीन का भाव था वे अंशतः सूफी अवश्य हो गये। विवेक और मजहब का पक्का पाबंद मुसलिम, सूफी के अतिरिक्त और कुछ हो ही नहीं सकता। गजाली से उत्तम प्रमाण इस संबंध में और किसका दिया जा सकता है? वह इसलाम का इमाम और तसव्वुफ का आरिफ है। तसव्वुफ के विषय में उसका[१] कहना है कि जो तैरना सीख चुका हो वह प्रेम-सागर में उतर पड़े नहीं तो किनारे पर धीरे से नियमानुकूल गोता लगाए। यदि वह ऐसा न करेगा तो उसका विनाश हो जायगा। उसके मजहबी जीवन के लिये कुरान और हदीस काफी हैं।

यह तो हमने देख लिया कि इसलाम में दर्शन का जो कुछ थोड़ा-बहुत प्रचार हुआ उसका अधिकांश श्रेय सूफियों को ही है।

---

(१) The History of Philosophy in Islam P. 165

अब हमें यह भी देख लेना चाहिए कि तसव्वुफ का प्रभाव मुसलिम साहित्य पर क्या पड़ा। इसमें तो किसी भी अभिज्ञ को आपत्ति नहीं हो सकती कि इसलामी साहित्य में दर्शन तसव्वुफ की राह से आया और सूफियों ने ही काव्य में दर्शन का सत्कार किया। नहीं तो सीधे-सादे और उग्र इसलाम में उसको जगह कहाँ थी? अरब मरना-मारना, जी लेना-जी देना खूब जानते थे, प्रमदाओं से प्रेम भी डटकर करते थे, संग्राम में शायरों की ललकार भी गूँज उठती थी, पर वे किसी बात पर देर तक विचार नहीं कर पाते थे। वे प्रत्यक्ष-प्रिय और स्पष्ट थे। गुह्य बातों के शांत चिंतन में उन्हें आनंद नहीं मिलता था। उनमें पुरुषार्थ था, किंतु वे अर्थ और काम से आगे नहीं बढ़ पाते थे। इसलाम ने धर्म की भावना उनमें कूट कूटकर भर दी; पर उनमें परमार्थ और प्रेम का व्यापक प्रचार न हो सका। यह काम सूफियों ने किया और अरब भी तसव्वुफ के भक्त बन गए। अरबी कविता में सूफियों का हाथ लगा और मुसलिम साहित्य तसव्वुफ से भर गया।

अरबी में अधिकतर दार्शनिक ग्रंथ लिखे गए। मजहबी जबान होने के कारण उसमें इसलाम का भी पूरा प्रसार हुआ। पर फारसी में तो तसव्वुफ की प्रतिष्ठा हो गई और उसका साहित्य तसव्वुफ से भर गया। फारसी भाषा की रमणी-सुलभ कोमलता प्रेम-प्रलाप के सर्वथा उपयुक्त थी। उसमें सूफियों ने अपना जौहर दिखाया और प्रेम के करुण भावों से उसे आप्लावित कर दिया। फिरदौसी के अतिरिक्त एक भी उत्तम कवि ऐसा न हुआ जो फारसी में कविता करे और तसव्वुफ से अछूता बच जाय। फारस की पराधीनता ने जिस शायरी का सृजन किया उसमें प्रेम और शराब के अतिरिक्त और भी जो कुछ है उस पर भी सूफियों का पूरा रंग चढ़ गया है। सूफियों के प्रेम-प्रवाह में वह ज्वाला है

जो अनृत को भस्म कर सत्य को प्रकाशित कर देती है और हम उसके प्रकाश में साफ साफ देख पाते हैं कि फारसी का मुसलिम साहित्य भी तसव्वुफ के नूर से रोशन है।

तसव्वुफ के प्रभाव में आ जाने से इसलाम कोमल, कांत और उदार हो गया। जहाँ कहीं सूफी पहुँचे, इसलाम की कट्टरता कम हुई। उसमें हृदय का प्रसार हुआ और जनता प्रेम-पीर के अनुभव में लगी। सूफियों के प्रयत्न से लोग समझ गए कि बुत-परस्ती भी एक तरह से खुदापरस्ती है। मुशरिक तो वास्तव में वह है जो नफसपरस्त है, जो अपने को कर्त्ता समझता और खुदी में गर्क रहता है। बुत-परस्त तो खुदी का तोबा करता है; अपने अहंभाव को त्यागकर उसी बुत में अल्लाह का साक्षात्कार करता है और अंत में उसी के आधार पर अपने सत्य-स्वरूप में तल्लीन हो जाता है। कण कण में अपना दिलदार देखता है। अपने प्रियतम से आँखमिचौनी खेलता और उसी में लुप्त हो जाता है। वह संसार में सच्चे बंधुभाव का प्रचार करता और प्राणिमात्र को प्रेम का संगीत सुनाता है। इसलाम की प्रगति पर ध्यान देने से अवगत होता है कि उचित अवसर पर यदि सूफी इसलामी संप्रदायों में प्रेम का प्रचार न करते और आरिफ वादियों का मुँह तर्क से बंद नहीं कर देते तो शायद इसलाम का अंत उसी के बंदे परस्पर लड़-भिड़कर सहसा कर बैठते और उसके नाम के कुछ निशान-मात्र शेष रह जाते।

इसलाम जिस रूप में हमारे सामने प्रतिष्ठित है उसमें सूफियों का कितना योग है, यह हम निश्चित रूप से नहीं कह सकते। पर इतना तो अवश्य है कि वहाबियों के घोर आंदोलन में कुछ सत्य अवश्य है। इसलाम के प्रचार में दरवेशों का पूरा हाथ था। इसलाम के दर्शन में ज्ञानियों का पूरा योग है। इसलाम के

साहित्य में प्रेमियों का पूरा प्रलाप है। इसलाम की उपासना में पीरों का विशेष ध्यान है। इसलाम के कुशल में मजारों का पूरा विधान है। कहाँ तक कहें, इसलाम के रसूल और अल्लाह में भी सूफियों का पूरा पूरा नूर और हक है। कहने का सारांश यह कि सूफी अपने को बातिन और मुसलिम को जाहिर का भक्त कहते हैं। आधुनिक इसलाम में बातिन और जाहिर एक में मिल गए हैं। और वास्तव में दोनों इसलाम के अंग हो गए हैं। इसलामी सूफी तो सदा से इसलाम के पावंद हैं और मुसलिम उनको इसलाम का अंग समझते आए हैं; परंतु गैर इसलामी सूफी भी आत्मरक्षा या अंतःकरण की प्रेरणा से अपने को अल्लाह का महबूब सिद्ध करते आ रहे हैं। उनके शील-स्वभाव और प्रेम ने उन्हें मुसलिम जनता का प्रिय बनाया और उनके प्रयत्न से इसलाम में अनेक गैर इसलामी भाव घर कर गए। अरब का उम्मी रसूल आज कोरा रसूल ही नहीं रहा बल्कि वह अल्लाह का 'नूर' और इसलाम का 'कुत्ब' या 'इंसानुल कामिल' भी बन गया है। संसार उसी के इशारे पर चल रहा है। वास्तव में तसव्वुफ वह वर्षण है जो किसी भयंकर आँधी को शांत कर पृथिवी को सरस और प्रकृति को प्रसन्न कर देता है। उसके प्रभाव से सृष्टि हरी-भरी हो लहलहा उठती है और फटे हृदय भी घुल-मिलकर एक हो जाते हैं।

तसव्वुफ प्रतिदिन बढ़ता गया। उसके मलहम ने विजित जातियों का घाव भर दिया। लोग उसकी मुरीदी करने लगे। मसीही जिनकी सभ्यता, संस्कृति और साहित्य का आज पता ही नहीं चलता, जिनकी बात हो आज प्रमाण मानी जाती है, जो अपने को सत्य का ठेकेदार और मजाक का आदर्श समझते हैं, उन पर भी सूफियों का ऋण लदा। उनके बाप-दादों ने भी उनकी मुरीदी

की। लोग कुछ भी कहें, यूरोप का इतिहास ही इसका साक्षी है। फिरंगी इसको अस्वीकार नहीं कर सकते।

मुहम्मद साहब के निधन के बाद ही देखते देखते इसलाम स्पेन तक छा गया और मसीही उसके विरोध तथा यूरुसलम की संरक्षा में जी-जान से लग गए। क्रूसेड शब्द आज भी उसकी याद दिलाता है। वस्तुत: स्पेन, सिसली और क्रूसेड ही वे मार्ग हैं जिनके द्वारा तसव्वुफ यूरोप में प्रविष्ट हुआ और मसीही संघ पर असर कर गया। पोपों के प्रकोप, पादरियों की संकीर्णता एवं प्रचारकों की वंचना से जिस समय यूनानी दर्शन का लोप हो चला था और मसीही संघ पारस्परिक संघर्ष में पिता, पुत्र और पवित्र आत्मा की मनमानी व्याख्या में मग्न था और अपने आपको परमेश्वर के लाड़ले एकाकी पुत्र का भक्त समझता था उस समय सूफियों के नूर ने ही मसीहियों को वह प्रकाश दिखाया जिसको भूल जाने के कारण उसी की खोज में वे परस्पर भिड़ रहे थे और अपने को इतने पर भी धन्य ही समझते थे। कहना न होगा कि मसीही मत का वास्तविक उत्कर्ष, इसलाम के अपकर्ष के अनंतर हुआ। जब पारस्परिक विद्रोह और भोग-विलास की प्रचुरता के कारण इसलाम जर्जर और शीर्ण हो गया तब यूरोप का सितारा चमका और मसीहियों ने अपनी चमक-दमक से सब को मोह लिया।

तसव्वुफ का प्रधान लक्षण प्रेम अथवा मादन भाव है। सर्वप्रथम हमें यह देख लेना है कि मसीहियों पर उसका प्रभाव क्या पड़ा। सूफियों के आलंबन के विषय में हम बहुत कुछ जानते हैं। यहाँ कुछ मसीहियों के आलंबन के विषय में विचार करना चाहिए। श्री लूबा[१] का निष्कर्ष है कि रति के भूखे प्राणियों ने मसीह या मरियम

---

(१) The psychology of Religious Mysticism P. 193

को अपना आलंबन बनाया। पुरुष ने कुमारी या मरियम को और स्त्री ने मसीह को अपनी रति का आलंबन बनाया। विचारणीय प्रश्न यहाँ पर यह है कि पाल ने केवल संस्था को दुलहिन और मसीह को पति कहा था। कुमारी मरियम का प्रवेश मसीही दर्शन में किस प्रकार हो गया यह एक अलग प्रश्न है। पाल या जान किसी भी मसीही भक्त ने मरियम को रति का आलंबन नहीं बनाया था। विक्टोरिनस[१] ने प्रतीक के आधार पर मरियम तथा पवित्र आत्मा को एक करने का प्रयत्न किया था। पर मसीही संघ ने उसको स्वीकार नहीं किया। मसीही इतिहास में इस बात का प्रमाण नहीं मिलता कि मध्यकाल में कुमारी मरियम किस प्रकार आलंबन बन गईं। मसीह भी पहले केवल संस्था के दुलहा माने जाते थे, व्यक्ति विशेष के नहीं। श्री लूबा ने भी इन आलंबनों के इतिहास पर विशेष ध्यान नहीं दिया। इनको तो यह सिद्ध करना था कि भक्तों की प्रेम भावना भी प्रेम की सामान्य भाव-भूमि पर ही प्रतिष्ठित होती है। विज्ञान की दृष्टि और मानस-शास्त्र के विचार से वह भी सामान्य रति के अंतर्गत है। उसकी कोई अलग स्वतंत्र सत्ता नहीं। आलंबन की अलौकिकता के संबंध में हम जानते ही हैं कि अंतरायों के कारण सामान्य गति को परम गति की पदवी प्राप्त होती है। श्री लूबा[२] भी यही कहते हैं कि जिन प्राणियों की काम-वासना किसी कारण-विशेष-वश अतृप्त रह जाती है वे ही उसकी तृप्ति के लिये मसीह या मरियम को आलंबन बनाते हैं और इनसे प्रणय या संभोग चाहते हैं। मध्यकाल में यूरोप में ऐसे व्यक्तियों की संख्या कम न थी। जनसामान्य

---

(१) Christian Mysticism P. 127।

(२) The Psychology of Religious Mysticism P. 297

की बात जाने दीजिए, शिष्ट समाज में भी प्रेम-कचहरियों[१] का बोल-बाला था। मसीही संत भी काम-वासना और भोग-विलास में इतने मग्न हो रहे थे कि उनके मठों[२] की पवित्रता के लिये, उनमें किसी प्रकार सदाचार स्थिर रखने के लिये उन पर कठोर शासन करना पड़ा। उस समय एक ओर तो मसीह के सच्चे संत विरति को महत्त्व दे रहे थे और दूसरी ओर उनके संघ में व्यभि-चार बढ़ता जा रहा था। इधर चारों तरफ सूफी प्रेम-पीर का प्रचार कर रहे थे। ऐसी परिस्थिति में मसीही-संतों में फिर से, नए सिरे से परम रति का प्रचार हुआ।

मसीहियों के प्रेम का आलंबन सूफियों के प्रेम के आलंबन से अधिक स्पष्ट और सीधा था। मसीह और इनकी कुमारी माता को 'त्रयी'[३] में स्थान मिल चुका था। मसीह ने विरति का प्रति-पादन किया था। इसलाम की भाँति मसीही मत में विवाह आधा स्वर्ग न था। मसीही संत किसी भी दशा में लौकिक प्रेम को अलौकिक प्रेम का जीना नहीं समझ पाते थे। निदान उनको परम प्रेम के लिये स्पष्टत: परम आलंबन चुनना पड़ा। उनके यहाँ मसीह और कुमारी मरियम की प्रतिष्ठा हो चुकी थी। उनकी अलौकिकता में मसीहियों को संदेह न था। मसीही संतों के सामने मसीह और मरियम की रूप-रेखा प्रत्यक्ष थी। फलतः उन्होंने स्वभावानुकूल मसीह या मरियम को अपनी रति का आलं-बन बनाया। किसी अमरद की आवश्यकता उनको न पड़ी।

---

(१) A short History of women P. 242

(२) ,, ,, 202

(३) पिता, पुत्र और पवित्र आत्मा को वास्तव में मसीही त्रयी कहते हैं। पवित्र आत्मा का स्थान कुमारी माता को क्यों मिला? यह एक अलग प्रश्न है।

सूफियों के परम प्रेम से मसीहियों को प्रोत्साहन मिला। उनके आलंबन का मार्ग प्रशस्त हो गया। मुसलिम शासन में जो मसीही थे उन पर तो सूफियों का प्रभाव पड़ ही रहा था, अन्य देशों से भी लोग स्पेन में अध्ययन करने आते थे। उस समय स्पेन मसीहियों का विद्या-गुरु तथा यूरोप का शिक्षक था। टालेडो में विद्या का केंद्र था। सिसली में भी मुसलिम शासन स्थापित हो गया था। रोमकों में भी सूफी प्रेम-प्रचार कर रहे थे। क्रूसेड का संबंध इसलाम से था ही। यूरुसलम की रक्षा के लिये जो मसीही कटिबद्ध थे वे सूफियों के प्रेम से सर्वथा अपरिचित न थे। सारांश यह कि मुसलिम संस्कार स्पेन, सिसली और क्रूसेड की राह से मसीही मत में घुस रहे थे और तसव्वुफ तो चारों तरफ अपना रंग जमा रहा था। उसकी रँगरेलियों और प्रेम-प्रसार को देखकर रति के भूखे मसीही तड़प उठे और सहज रति की तृप्ति के लिये मसीह या मरियम के पीछे मत्त हो गए। पुरुष संग्राम में मग्न थे। पादरी संघ के संचालन तथा मत के प्रचार में तल्लीन थे। अतएव मरियम के वियोगी कम निकले; पर मसीह के विरह ने उनकी दुलहिनों को बेतरह सताया। किसी को स्वप्न में प्रेम-बाण लगा। किसी का गंधर्व विवाह हो गया, किसी को प्रेम की अँगूठी मिली, किसी की मसीह से मँगनी हो गई। संक्षेप में सभी का मसीह से संबंध हो गया और सबको मसीह के प्रेम में आनंद आने लगा। सेंटटेरेसा और कैथरीन के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि सूफियों का प्रभाव किस प्रकार मसीहियों पर पड़ रहा था। और किस प्रकार सूफी मसीहियों के गुरु बनते जा रहे थे। जो लोग यूरोप के मध्यकालीन इतिहास से अभिज्ञ हैं वे अच्छी तरह जानते हैं कि मसीहियों की भक्ति-भावना में उस समय जो परिवर्त्तन या परिवर्द्धन हुए उनका प्रधान कारण तसव्वुफ ही था।

की बात जाने दीजिए, शिष्ट समाज में भी प्रेम-कचहरियों[१] का बोल-बाला था। मसीही संत भी काम-वासना और भोग-विलास में इतने मग्न हो रहे थे कि उनके मठों[२] की पवित्रता के लिये, उनमें किसी प्रकार सदाचार स्थिर रखने के लिये उन पर कठोर शासन करना पड़ा। उस समय एक ओर तो मसीह के सच्चे संत विरति को महत्त्व दे रहे थे और दूसरी ओर उनके संघ में व्यभिचार बढ़ता जा रहा था। इधर चारों तरफ सूफी प्रेम-पीर का प्रचार कर रहे थे। ऐसी परिस्थिति में मसीही-संतों में फिर से, नए सिरे से परम रति का प्रचार हुआ।

मसीहियों के प्रेम का आलंबन सूफियों के प्रेम के आलंबन से अधिक स्पष्ट और सीधा था। मसीह और इनकी कुमारी माता को 'त्रयी'[३] में स्थान मिल चुका था। मसीह ने विरति का प्रतिपादन किया था। इसलाम की भाँति मसीही मत में विवाह आधा स्वर्ग न था। मसीही संत किसी भी दशा में लौकिक प्रेम को अलौकिक प्रेम का जीना नहीं समझ पाते थे। निदान उनको परम प्रेम के लिये स्पष्टतः परम आलंबन चुनना पड़ा। उनके यहाँ मसीह और कुमारी मरियम की प्रतिष्ठा हो चुकी थी। उनकी अलौकिकता में मसीहियों को संदेह न था। मसीही संतों के सामने मसीह और मरियम की रूप-रेखा प्रत्यक्ष थी। फलतः उन्होंने स्वभावानुकूल मसीह या मरियम को अपनी रति का आलंबन बनाया। किसी अमरद की आवश्यकता उनको न पड़ी।

---

(१) A short History of women P. 242
(२) ,, ,, 202
(३) पिता, पुत्र और पवित्र आत्मा को वास्तव में मसीही त्रयी कहते हैं। पवित्र आत्मा का स्थान कुमारी माता को क्यों मिला? यह एक अलग प्रश्न है।

सूफियों के परम प्रेम से मसीहियों को प्रोत्साहन मिला। उनके आलंबन का मार्ग प्रशस्त हो गया। मुसलिम शासन में जो मसीही थे उन पर तो सूफियों का प्रभाव पड़ ही रहा था, अन्य देशों से भी लोग स्पेन में अध्ययन करने आते थे। उस समय स्पेन मसीहियों का विद्या-गुरु तथा यूरोप का शिक्षक था। टोलेडो में विद्या का केंद्र था। सिसली में भी मुसलिम शासन स्थापित हो गया था। रोमकों में भी सूफी प्रेम-प्रचार कर रहे थे। क्रूसेड का संबंध इसलाम से था ही। यूरुसलम की रक्षा के लिये जो मसीही कटिबद्ध थे वे सूफियों के प्रेम से सर्वथा अपरिचित न थे। सारांश यह कि मुसलिम संस्कार स्पेन, सिसली और क्रूसेड की राह से मसीही मत में घुस रहे थे और तसव्वुफ तो चारों तरफ अपना रंग जमा रहा था। उसकी रँगरेलियों और प्रेम-प्रसार को देख-कर रति के भूखे मसीही तड़प उठे और सहज रति की तृप्ति के लिये मसीह या मरियम के पीछे मत्त हो गए। पुरुष संग्राम में मग्न थे। पादरी संघ के संचालन तथा मत के प्रचार में तल्लीन थे। अतएव मरियम के वियोगी कम निकले; पर मसीह के विरह ने उनकी दुलहिनों को बेतरह सताया। किसी को स्वप्न में प्रेम-बाण लगा। किसी का गंधर्व विवाह हो गया, किसी को प्रेम की अँगूठी मिली, किसी की मसीह से मँगनी हो गई। संक्षेप में सभी का मसीह से संबंध हो गया और सबको मसीह के प्रेम में आनंद आने लगा। सेंटटेरेसा और कैथरीन के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि सूफियों का प्रभाव किस प्रकार मसीहियों पर पड़ रहा था। और किस प्रकार सूफी मसीहियों के गुरु बनते जा रहे थे। जो लोग यूरोप के मध्यकालीन इतिहास से अभिज्ञ हैं वे अच्छी तरह जानते हैं कि मसीहियों की भक्ति-भावना में उस समय जो परिवर्तन या परिवर्द्धन हुए उनका प्रधान कारण तसव्वुफ ही था।

तसव्वुफ में केवल प्रेम का प्रलाप ही नहीं था, उसमें उसके स्वरूप का निदर्शन भी किया गया था। सूफियों के अध्यात्म के परिशीलन से पता चलता है कि प्रतिभाशाली सूफी किस तत्परता से आर्य-दर्शन को इसलामी रूप दे रहे थे। प्लोटिनस और वेदांत के आधार पर सूफियों ने अपने अध्यात्म को खड़ा किया और कतिपय मुसलिम मनीषियों ने यूनान के अन्य दार्शनिकों के विचारों पर टीका-टिप्पणी भी की। मसीहियों के प्रकोप और मसीही-मत की संकीर्णता के कारण यूरोप यूनानी विद्वानों को भूल सा गया था। जब इसलाम की उथल-पुथल से यूरोप आक्रांत हो गया और मुसलिम पंडितों ने यूनानी मीमांसकों की पूरी व्याख्या भी कर ली तब मसीहियों का ध्यान फिर यूनानी दार्शनिकों की ओर मुड़ा और अपने मत की प्रतिष्ठा के लिये उनकी शरण ली गई। सिना, किंदी, फाराबी और रुश्द आदि मुसलिम विवेचकों के प्रयत्न से यूनानी दर्शन को जो रूप मिल गया था उसका अध्ययन यूरोप ने किया और फिर आधुनिक दर्शन को जन्म दिया। मसीहियों ने इस प्रकार आगे चलकर जिस दर्शन का सृजन किया वह बहुत कुछ तसव्वुफ से प्रभावित था। प्रभावित व्यक्तियों में सेंट थामस एकिनस का नाम विशेष उल्लेखनीय है। उसको मसीही संघ में वही प्रतिष्ठा प्राप्त है जो इसलामी दल में इमाम गजाली को। दोनों ही महानुभावों ने प्रचलित मत और भक्ति-भावना का संबंध निर्धारित किया। दोनों ही व्यक्तियों ने भक्ति-भाव को मजहब से श्रेष्ठ माना। सेंट थामस ने भी बायबिल को प्रमाण माना, पर उसके अर्थ और व्याख्यान का अधिकारी संघ को सिद्ध किया। मुसलिम विवेचकों की मीमांसा में अरिस्टाटल पर जो सूफी मुलम्मा चढ़ गया था, सेंट थामस ने उसका मार्जन किया और मुसलिम व्याख्याकारों की कड़ी आलोचना की। उसने आप्त वचन के साथ

ही तर्क को भी प्रमाण माना और अध्यात्म का आदर किया। उसका कहना[१] है कि मसीह के भक्त इस बात को सदा स्मरण रखें कि कोरा तर्क या विज्ञान नरक का पंथ है। वह स्वतः अंधकार या नीहार है। उसके प्रकाशन के लिये बायबिल या आप्त-वचन आवश्यक है। सेंट थामस मुसलिम पंडितों का चाहे जितना खंडन करे उस पर तसव्वुफ का प्रभाव स्पष्ट और पर्याप्त है। एक[२] पंडित ने ठीक ही कहा है कि तेरहवीं सदी में प्राची और प्रतीची का जितना गहरा मानसिक संबंध था उससे अधिक आज तक न हो सका। कहना न होगा कि इस संबंध में सूफियों का पूरा योग था।

प्राची और प्रतीची के इस संबंध ने दांते को जन्म दिया। दांते के काव्यानंद में यूरोप मग्न हो गया। अरबों की भाँति दांते भी एक रमणी पर मुग्ध हो गया था। उसका[३] दावा है कि मेरी प्रेयसी वेट्रिस का रूप ज्यों ज्यों निखरता जाता था त्यों त्यों मेरा प्रेम और भी प्रबल और परिमार्जित होता जाता था। यही नहीं, उसकी आध्यात्मिक अनुभूति भी साथ ही साथ अधिक गंभीर और सघन होती जाती थी। और वह उसके हुस्न के जीने पर जिन्नत की ओर बढ़ता जा रहा था। उसने भी अरबी की तरह अपनी कविता का रहस्य खोला, इश्क मजाजी के परदे में इश्क हकीकी का जमाल देखा। दांते ने स्वर्ग, नरक और साक्षात्कार आदि बातों का प्रतिपादन जिस ढंग से किया वह अरबी का अनुकरण सा प्रतीत होता है। उसके[४] 'परगेटोरियो' के अवस्थान में मुस-

---

(१) Legacy of Islam P. 248
(२) " " " P. 282
(३) " " " P. 227
(४) " " " P. 94

लिम प्रभाव स्पष्ट झलकता है। दांते[१] स्वयं स्वीकार करता है कि इटली में कविता का उत्कर्ष उन शासकों के समय में हुआ जो मुसलिम कविता के प्रशंसक और इसलामी साहित्य के प्रेमी थे। कुछ भी हो, दांते के[२] स्वर्ग-गमन में मुहम्मद साहब के मीराज (स्वर्गारोहण) का भान होता है और उसके प्रेम तथा अन्य बातों में इसलामी प्रवादों एवं सूफियों के विचारों का आभास मिलता है। दांते के आधार पर निर्विवाद कहा जा सकता है कि मसीही संतों तथा समाजों पर सूफियों का प्रभाव कितना गहरा, व्यापक और उदार पड़ रहा था। न जाने कितने कवियों ने प्रेम का राग अलापा और सूफी कवियों के सुर में सुर मिलाया। उनके इश्क हकीकी के गीतों का हमें क्या पता ? हमारे लिये तो एक दांते ही पर्याप्त है।

स्पेन, सिसली और इटली तक ही यह प्रेम-प्रवाह न रह गया। उसने तो सारे यूरोप को प्रेम से आप्लावित कर दिया। फ्रांस, जर्मनी प्रभृति देशों में भी प्रेम के पुजारी उत्पन्न हो गए। कुछ तो मसीह या कुमारी मरियम के प्रेम में मग्न हुए। उनकी विरह-वेदना में तड़प उठे और कुछ सत्य-जिज्ञासा में लगे। उनके प्रेम-प्रवाह और तत्त्वचिंतन के विश्लेषण से अवगत हो जाता है कि उन पर सूफियों का कितना असर हुआ। सूसो[३] का निश्चय है कि उद्दंड और तरुण हृदय बिना प्रेम के नहीं फल सकता। उसका प्रेम इतना उन्मत्त और प्रबल था कि उसने अपनी छाती में मसीह का नाम अंकित करा लिया था। उस समय की यह धारणा सी हो गई थी कि प्रेमी अपराध नहीं कर सकता। ज्ञान

---

(१) Legacy of Islam P. 54
(२) Legacy of Islam P. 227
(३) Christian Mysticism P. 172

के क्षेत्र में भी पूरी छान-बीन हो रही थी। अमलरिक अद्वय का निरूपण कर प्रकृति की स्वतंत्र सत्ता का निराकरण करता था तो एग्बर्ट मृ० जीवात्मा और परमात्मा में उष्णता और अग्नि एवं सुरभि और पुष्प का संबंध स्थापित करता था। जान ममत्व और अहंकार को पाप का मूल कहता था। निष्कर्ष यह कि उस समय मसीही संत और सूफी क्या भक्ति-भाव, क्या विचार सभी क्षेत्रों में एक हो रहे थे। उनमें जो कुछ अंतर था वह संस्कार या श्रद्धा के कारण था। मसीही मसीह और सूफी मुहम्मद को महबूब बनाते थे; पर वास्तव में थे दोनों ही परम प्रियतम या अलख के वियोगी। सूफी अमरदपरस्त थे और किसी के हुस्न को जमाल का द्योतक समझते थे, पर मसीही संत मसीह या मरियम-परस्त थे और उन्हीं के प्रेम में परमात्मा का पूजन समझते थे। उनमें केवल आलंबन के स्वरूप की भिन्नता थी; किसी भक्ति-भाव की नहीं।

उपासना के क्षेत्र में भी मसीही सूफियों की पद्धति पर चल रहे थे। उनकी जिक्र की पद्धति मसीही संतों को प्रिय लगती थी[१]। लल्ल ने सूफियों की देखादेखी परमेश्वर के शत नामों की उद्भावना की और उन पर एक किताब भी लिख डाली। उसने सभा पर भी ध्यान दिया। पादरियों के शिक्षण के लिये लल्ल ने एक कालेज का विधान कर मसीही संतों के लिये मुसलिम साहित्य का द्वार खोल दिया। प्राची-साहित्य का टोलेडो में जो अध्ययन हो रहा था उसका मुख्य उद्देश्य था पादरियों का अन्य शामी मतों से अभिज्ञ होना और वाद-विवाद में उनसे विजय प्राप्त कर लेना। इसलिये मसीही पंडितों को इसलामी साहित्य का परिशीलन करना पड़ा। तसव्वुफ के आधार पर मसीहियों ने मसीही मत का इस तरह प्रकाशन किया कि मसीही मसीह के भक्त बने रह गए और

---

(१) The Legacy of Islam P. 115

इसलाम का भय भी जाता रहा। उस समय मार्टीन से अरबी के प्रकांड पंडित और लल्ल से मेधावी भक्त मसीही संघ के विधायक थे, जो तसव्वुफ के आधार पर मसीही मत को मधुर बना रहे थे।

सूफियों का प्रभाव यूरोप पर इतना गहरा पड़ा कि उसको छिपा देना असंभव है। स्पेन के कतिपय अर्वाचीन पंडितों की धारणा है कि इसलाम उनके पतन का कारण था। हो सकता है, हमें इससे बहस नहीं। हमें तो यह देखना है कि तसव्वुफ ने स्पेन को किस प्रेम, किस संगीत और किस साहित्य का अधिपति बनाया। पहले हम कह ही चुके हैं कि मध्यकाल में टोलेडो विद्या का केंद्र था और चारों ओर से लोग स्पेन में पढ़ने के लिये आते थे। इस समय सचमुच ही स्पेन यूरोप का विद्या-गुरु था और सूफियों के प्रसाद से विद्या का मालिक बन बैठा था। सूफी केवल कवि ही न थे। उनको नजूम, हिकमत और इलाज से भी प्रेम था। उमर प्रसिद्ध नजूमी और गणितज्ञ था। जाबिर हिकमत के लिये प्रसिद्ध था। उनके ग्रंथों का अध्ययन हुआ और यूरोप ने उनसे लाभ उठाया। दर्शन के संबंध में हम पहले ही कह चुके हैं। अब काव्य के विषय में कुछ जान लेना चाहिए। कहा जाता है कि रोमांस[१] का उदय यूरोप में मुसलिम शासन के कारण हुआ। रोमांस-कविता के न जाने कितने पारिभाषिक शब्द अरबी और फारसी शब्दों के रूपांतर हैं और न जाने कितने उनके आधार पर गढ़े गए हैं। रोमांस कविता के भाव और बहुत कुछ उसके रंग-ढंग भी सूफी कवियों के हैं। रोमांस भाषा तो मुसलिम शासन का फल है। विदेशी शासन में देशी भाषा की उन्नति होती है। प्रचारक देशी भाषा को अपनाते और उसी में गीत गाकर अनपढ़ जनता को मोह लेते हैं। उनके उपाख्यान

---

(१) The Legacy of Islam P. 191

और कहानियों को ठेठ भाषा में सुननेवाले जितने मिलते हैं उतने साहित्यिक भाषा की परिपक्व बातों को समझनेवाले नहीं। अतएव यदि स्पेन में मुसलिम शासन में रोमांस का उदय हुआ तो यह कोई अनहोनी बात नहीं हुई। सूफी प्रेम-कहानियों के आधार पर, कल्पित और मनोहर उपाख्यानों के भरोसे, जनता को सदा से मोहते आ रहे हैं। उनके प्रेम-प्रवाह ने मध्यकालीन मसीहियों में उदारता और[1] सहानुभूति के बीज बोए और उन्होंने मसीही संघ से कुछ आगे बढ़कर मानव-भाव-भूमि को देखने का मसीहियों से दृढ़ अनुरोध किया। जो उनके संसर्ग में आए, उदार बन गए; शेष अपनी क्रूरता में मग्न रहे।

इसलामी शासन ने यूरोप को जगा दिया। भारत में ज्यों-ज्यों इसलाम का आतंक फैला त्यों त्यों यूरोप में उसका पतन होता गया और देखते ही देखते यूरोप से मुसलिम शासन उठ गया और तुर्कों का शासन नाम मात्र को उसके एक कोने में रह गया। इसलाम की प्रचंडता के कारण यूरोप भारत से अलग सा पड़ गया था। वह फिर भारत से स्वतंत्र संबंध स्थापित करना चाहता था। घूमते फिरते अंत में एक अरब की[2] सहायता से उसे भारत आने का स्वतंत्र मार्ग मिल गया। जल-मार्ग स्थल-मार्ग से अधिक लाभकर सिद्ध हुआ। यूरोप व्यापार का मालिक बन गया और एशिया के अनेक खंड उसके शासन में आ गए।

यूरोप इसलामी शासन को भूल सा गया था। मसीही संतों के प्रेम-प्रवाह ने स्वतंत्र रूप धारण कर लिया था। किसी को तसव्वुफ की खबर न थी। यूरोप में मसीही साहित्य का प्रचार अच्छी तरह हो गया था। मुसलिम बातें विद्वानों के

---

(१) The Legacy of Islam P. 4

(२) अरब और हिंदुस्तान के तालुकात पृ० ९२।

मस्तिष्क या किताबों में दबी पड़ी थीं। जन-सामान्य से उनका कोई संबंध न था। संयोगवश प्रतीची को प्राची के अध्ययन की फिर आवश्यकता पड़ी। शासन के सुभीते के लिये प्रजा की मनोवृत्तियों से परिचित होना अनिवार्य तो होता ही है, व्यापार के उत्कर्ष के लिये भी ग्राहकों के संस्कारों का ज्ञान रखना कम आवश्यक नहीं होता। यूरोप भारत और अन्य देशों के अध्ययन में लगा। कतिपय पंडितों को प्राची के साहित्य में अपूर्व आनंद मिला। वे फिर यूरोप को उससे परिचित कराने लगे। यूरोप में फिर प्रेम और अध्यात्म का उदय हुआ। उनके आविर्भाव से यूरोप में रोमांस के दिन फिरे। सूफियों का रंग फिर जमने लगा। मुसलिम शासन में जो आख्यान, कथानक अथवा उपाख्यान यूरोप में प्रचलित हो गए थे उनके आधार पर उपन्यासों की नींव पड़ी। प्रेम के प्रसंग फिर नए ढंग से छिड़े और गजल, कसीदे तथा मसनवियों के प्रचलित भाव यूरोप के काव्य में स्पष्ट दिखाई पड़ने लगे। फ्रांस, जर्मनी, इँगलैंड प्रभृति देशों में रोमांटिक दल उभर पड़ा, और बायरन, गेटे, शेली सरीखे पारखी कवियों ने प्राची के प्रेम को पहचाना। परंतु प्राची के प्रतिदिन के पराभव और यूरोप की जातीय संकीर्णता के कारण उसको उचित प्रोत्साहन न मिला। भोग-विलास की लिप्सा और विषय-वासना के लोभ ने उसको धर दबाया। वह बहुत कुछ बिगड़े रूप में जनता के सामने आने लगा। अर्वाचीन काव्य-धारा में प्रेम-प्रवाह तो बहा, पर उसमें वह भाव कहाँ जो तसव्वुफ में उमड़ रहा था! यूरोप आज छल-छंद का पोषक है। उसे प्रेम से कहीं अधिक छंद ही पसंद है। उसके सामने उमर खय्याम

---

(१) The Legacy of Islam P, 199

का आदर्श है, रूमी, फारिज या हाफिज जैसे सच्चे सूफियों का नहीं। वासना के लोलुप प्रेम-पंथ में असफल होने पर जो गीत गाते हैं उनमें संवेदना की वास्तविक झंकार नहीं मिलती। वासना के क्षेत्र में छंद का प्रचार करना तसव्वुफ या वास्तविक प्रेम नहीं, हृदय की एक घातक चाल है जिसे आज-कल के प्रेमी लक्षणा के आधार पर विलक्षणता के साथ व्यक्त करते हैं और उसे हिंदीवाले खूब शौक से अपनाते हैं। सूफी इसे इश्क हकीकी या सच्ची वेदना नहीं कह सकते। शायद इश्क मजाजी कहने में भी उन्हें संकोच हो।

सूफियों का प्रभाव यूरोप से कहीं अधिक भारत पर पड़ा। अध्यात्म की दृष्टि से तसव्वुफ में भारत के लिये कोई नवीन सामग्री भले ही न रही हो, पर उसमें प्रेम का प्रतिपादन और मादनभाव का प्रदर्शन था। भारतीय भक्तिभावना में सूफियों ने जो योग दिया उससे एक संत-धारा अलग ही चल पड़ी। वेदांत के कतिपय आचार्यों पर भी सूफियों का प्रभाव पड़ा और भारत में भी अनेक पंथ चल पड़े। क्या आचार, क्या विचार; क्या भाषा, क्या साहित्य; क्या धर्म, क्या कर्म; हमारे सभी अंगों पर सूफियों का गहरा प्रभाव पड़ा। सूफियों ने भारत में राम-रहीम की एकता का जो प्रयत्न किया उसके कारण संस्कारों की कठोर भिन्नता रहते हुए भी हिंदू और मुसलमान बहुत कुछ एक से हो गए थे। अब पश्चिम की जातीयता और नीति के कारण उनमें कुछ अनबन हो चली है। भारत के भविष्य में सूफियों का क्या योग रहेगा यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। पर इतना अवश्य है कि हिंदू-मुसलिम-एकता का प्रशस्त मार्ग केवल वही है जिस पर सूफी बराबर चलते आए हैं और इसलाम के पाबंद भी बने रहे हैं। भारत को बहुत से पंडितों ने तसव्वुफ

का जन्मस्थान माना है और मुसलिम भी उसे आदम का शरण्य मानते हैं। ऐसी स्थिति में यह संभव नहीं कि भारत और सूफियों के संबंध को यहाँ अच्छी तरह स्पष्ट कर दिया जाय। भारत में बसकर सूफियों ने जो कुछ किया उसका परिचय स्वतंत्र रूप से फिर कभी दिया जायगा। यहाँ तो इतना ही कह देना काफी है कि यदि सूफ़ी न होते तो इसलाम भारत में कभी जड़ नहीं पकड़ता। इसलाम के प्रति जो कुछ हमारी श्रद्धा है उसका सारा श्रेय इन्हीं सूफियों को है और भारत का कट्टर मुसलमान भी अंशतः सूफी अवश्य है। भारत को आज उन्हीं सच्चे सूफ़ियों की जरूरत है जो काबा और बुतखाना को एक ही समझते हों और खुद दिल के चिराग से रोशन हों; किसी आसमानी चीज के अंध भक्त नहीं।

भारत की भाँति ही भारत के उपनिवेशों में भी इसलाम का प्रचार हो गया। जावा, सुमात्रा, बोर्नियो प्रभृति द्वीपों में भारत के तिजारती मुसलमान जाते थे और अवसर देखकर तलवार भी चला लेते थे। एशिया में इसलाम को जिस व्यापक और प्रतिष्ठित मत का सामना करना था वह बौद्धमत था। अशोक ने बौद्ध शासकों के सामने जो आदर्श स्थापित किया था वह देश-दृष्टि से घातक था। इसलाम की सफलता का एक प्रधान कारण बौद्धमत का विराग और तृष्णाक्षय भी था। अहिंसावादी बौद्धों ने भारत के बल-वीर्य को बहुत कुछ अपाहिज और भ्रष्ट कर दिया था। उनके सद्‌गुणों और सद्भावों को सूफियों ने ग्रहण कर लिया था। अतएव उन्हीं के कारण सूफियों के आश्रय में इसलाम भी भला मालूम होता था। मुसलिम बन जाने से लोग इसलामी क्रूरता से बच जाते थे और उन्हें अनेक सुविधाएँ भी मिल जाती थीं। निदान उक्त द्वीपों में भी इसलाम का आतंक छा गया। पर यह

इसलाम मुल्ला या काजियों का इसलाम न था; प्रत्युत यह तो सूफियों का इसलाम था। सूफियों के प्रयत्न एवं हिंदू-मुसलिम संस्कारों के संबंध से जिस संकर मत का प्रसार चीन आदि भूखंडों में हो रहा था उसका उम्मी रसूल के इसलाम से नाम मात्र का नाता था। सूफियों के प्रेम तथा अपनी उदात्त वृत्तियों के कारण चीन के उदार शासक[1] मुसलमानों को मसजिद बनवाने की केवल अनुमति ही नहीं देते थे, स्वयं भी अपनी प्रिय मुसलिम प्रजा के मंगल के लिये उसे बनवा भी देते थे। इसलाम के कट्टर उपासकों की चालों से जब चीनी परिचित हो गए तब सूफियों के मार्ग में भी कुछ विघ्न उपस्थित होने लगे और मुसलिम जनता ने बहुत कुछ चीनी संस्कृति और सभ्यता का स्वागत किया। चीनी संख्या और बल में कम न थे कि मुसलिम सहसा उन्हें दबा लेते। उन्हें स्वतः चीनियों की शरण में रहना पड़ा। उन पर चीनियों का पूरा प्रभाव पड़ा, किंतु वे चीनियों को प्रभावित न कर सके। जो इसलाम चीन में रहा वह तसव्वुफ के रूप में रहा, कट्टर इसलाम से वह बहुत दूर पड़ गया। जापान पर तो उसका असर एक प्रकार से कुछ भी न हुआ। पर जावा, सुमात्रा आदि द्वीपों पर इसलाम का शासन हो गया और सूफियों तथा ताजिरों के साथ मुसलिम संस्कार भी उनमें फैल गए। मुसलमान हो जाने पर भी उनमें प्राचीन संस्कारों तथा आचार-विचारों की प्रधानता रही और सूक्ष्मतया विचार करने पर वे इसलाम की अपेक्षा हिंदू मत के अधिक समीपी सिद्ध हुए। वास्तव में उनके मत को इसलाम नहीं, तसव्वुफ कहना चाहिए। वे पीर-परस्ती और मुरीदी के पक्के भक्त हैं, सब मुहम्मद साहब को खुदा का महबूब मानते हैं।

---

(१) Islam in China p. 97-98

इस प्रकार अरब के उम्मी रसूल का एकदेशी मत विश्वव्यापक बन गया और संसार के सभी मत उसके संसर्ग में आ गए। सूफियों के शील-स्वभाव तथा प्रेम को देखकर अन्य मतावलंबी उसके प्रति उदार हुए। शामी मतों में मूसा का मत सबसे पुराना था। यह्वा के उपासकों ने प्रेम को खदेड़ दिया था। यहूदी मादनभाव से चिढ़ते थे। उनमें संकीर्णता, कठोरता और कर्मकांडों की प्रधानता थी। जिस भाव को शामी भक्तों ने परमेश्वर की प्रसन्नता के लिये उखाड़ फेंका था वही कालांतर से तसव्वुफ के रूप में पनपा। उसका स्वरूप इतना सुंदर था, उसकी रूप-रेखा इतनी मनोरम थी, उसके रंग-ढंग इतने मोहक और भव्य थे कि यहूदी भी उसकी ओर आकर्षित हुए। यहूदी मत से गुह्यता का सर्वथा लोप नहीं हो गया था। वह प्रच्छन्न रूप से उसमें चली आती थी। सूफियों ने मादन भाव और गुह्यविद्या को जब प्रतिष्ठित कर दिया और मसीही भी उनके अनुष्ठान में जब लग गए, तब अकेले यहूदी कब तक उनका विरोध करते। उनमें भी कबाला का सत्कार हुआ। मादन भाव एवं गुह्य कृत्यों का विधान किया गया। स्पेन में मसीहियों की तरह यहूदियों ने भी सूफियों से बहुत कुछ सीखा। उनका पवित्र नगर यूरूसलम तो मुसलिम शासन में पड़ा ही था, फिर उनमें कबाला का प्रसार क्यों न होता? मसीही भी तो मिस्टिक बन गए थे। फिर यहूदी ही क्यों पीछे रहते? निष्कर्ष यह कि शामी मतों में सूफियों के प्रयत्न से फिर भी मादन भाव की प्रतिष्ठा और गुह्य विद्या का प्रचार हो गया। उनके अधिदेव की जातीय कट्टरता जाती रही और वह भक्तों का महबूब बन गया।

उपर्युक्त विवेचन से इतना तो स्पष्ट ही हो गया होगा कि सूफीमत का सभी मतों पर कुछ न कुछ ऋण अवश्य है। सूफी संसर्ग में आएँ, उनसे संपर्क बढ़े और उनका किसी हृदय पर कुछ

भी प्रभाव न पड़े, यह असंभव है। सूफ़ी वास्तव में प्रेम के व्यापारी हैं। उनका व्यापार त्याग से बढ़ता और संग्रह से नष्ट हो जाता है। उनके पास वेदना का अनमोल हीरा है। जिसका जी चाहे उनसे मुफ्त में माँग ले और उसके प्रकाश से अपने हृदय के अंधकार को दूर करे। लोगों ने सूफियों के हीरे का सौदा किया। जो प्रेमी थे उनको उसका फल मिल गया, जो लोभी थे उससे उनका पेट न भरा। वे मृगतृष्णा में मर मिटे। सूफियों के प्रेम में योगियों को योग मिला। उसके आधार पर उन्हें प्रियतम का साक्षात्कार हो गया और वे भव-सागर से पार हो गए। पर भोगियों को भोग भी सूफियों के इश्क में ख़ूब मिला। वे उसके पीछे पागल हो गए और अंत में कहीं के न रह गए। सच बात तो यह है कि सूफियों के इश्क ने बहुतों को बरबाद किया और अधिकतर लोग हकीकी की ओट में मजाजी के शिकार हुए। फिर भी यह कहना ही पड़ता है कि सूफियों ने क्या मुहम्मदी, क्या मसीही, क्या यहूदो, क्या हिंदू संसार के सभी मतों में प्रेम का प्रचार किया और सभी जातियों में उनको मादन भाव के कुछ मनचले आशिक मिल गए। उनमें से जिन लोगों को उनकी सहानुभूति और संवेदना का ठीक ठीक अनुभव हुआ वे तो इश्क-मजाजी के ज़ीने से अपने प्रियतम के पास पहुँच गए और रति के सेतु पर चलकर उन्होंने भवसागर को पार भी कर लिया; पर जिन लोगों को आशिक बनने का खब्त सवार हुआ और जो लोग जिंदादिली का दम भरने लगे उनके सामने हुस्न का ऐसा जाल बिछा कि वे इसी में फँसकर रह गए। वे मजाजी के ज़ीने से लुढ़क पड़े और रति के पुल से खसककर भवसागर में डूब मरे।

---

(३) महाकवि श्रीजयदेव और उनका गीतगोविंद

[लेखक—श्री शिवदत्त शर्म्मा, देहली]

"गीतगोविंद" संस्कृत भाषा का एक सुप्रसिद्ध गीति काव्य है। इसकी रचना "जयदेव" कवि ने की, किंतु जयदेव नाम के कई एक ग्रंथकार हुए हैं। "प्रसन्नराघव" नाटक का कर्त्ता नैयायिक जयदेव कौंडिन्य-गोत्रोद्भव था। उसकी माता का नाम सुमित्रा और पिता का नाम महादेव था। "शृंगारमाधवीय" चंपू का प्रणेता जयदेव "कृष्णदास"-उपपद-धारी था। "गंगास्तव प्रबंध" का रचयिता "धीर जयदेव" था। "छंदःशास्त्र" का रचयिता "जयदेव" था। इस ग्रंथ पर हर्षट कृत टीका विद्यमान है। यह जयदेव ई० सं० ९५० से पूर्व हुआ ऐसा प्रतीत होता है—देखो The Poona Orientalist भाग १, अंक १। गीतगोविंद के रचयिता जयदेव के पिता का नाम श्री भोजदेव, माता का राधादेवी या रामादेवी और स्त्री का पद्मावती था ऐसा उस ग्रंथ से ही प्रतीत होता है[१]। पराशर नाम का इनका एक सुहृद् था। उमापतिधर, शरण, गोवर्धनाचार्य्य और धोयी कविराज इस कवि के समकालीन थे[२]। इसका कुलवृत्तिग्राम "किंदु-

---

(१) श्रीभोजदेवप्रभवस्य रामा[राधा]देवीसुतश्रीजयदेवकस्य।
पराशरादिप्रियवर्गकण्ठे श्रीगीतगोविन्दकवित्वमस्तु ॥

(श्लोक ११ सर्ग १२)

जयति पद्मावतीरमणजयदेवकविभारती—सर्ग १०। श्री शंकरमिश्र की टीका के अनुसार गीत का ८ वाँ पद।

(२) वाचः पल्लवयत्युमापतिधरः संदर्भशुद्धिं गिरां
जानीते जयदेव एव शरणः श्लाघ्यो दुरूहद्रुतेः।

बिल्व" था[१]। यह कवि परम कृष्ण-भक्त था। आज-कल जो प्राचीन संस्कृत की पुस्तकें छापी जाती हैं उनके साथ यथाशक्ति ग्रंथकर्त्ता का परिचय, अनुक्रमणी, पाठांतर, यथास्थान अनुसंधानादि दे देते हैं, जो अनेक प्रकार से उपयोगी सिद्ध होते हैं, किंतु पहले ऐसी शैली का प्रचार न होने से बहुत से वांछनीय तथ्यों की रक्षा नहीं हुई। हाँ, कई टीकाकारों ने इनमें से कई न्यूनताओं को पूरा करने का यत्न कर पाठकों को बहुत लाभ पहुँचाया है। उदाहरण के लिये "किंदुबिल्वसमुद्रसंभव..." की टीका करते हुए शंकर मिश्र ने लिखा है "किंदुबिल्वो जयदेवकुलवृत्तिग्रामः स एव महत्त्वात्समुद्र इव तत्र संभवो यस्य तादृशेन रोहिणीरमणेन पूर्ण चन्द्रेण, तस्योन्नतिर्यथा क्रियते तथा तत्कुलस्योन्नतिर्जयदेवेन कृतेति चन्द्रसादृश्यम्"। टिप्पणी में उद्धृत "वाचः पल्लवयत्युमापतिधरः" श्लोक की टीका करते हुए कुंभनृपति लिखते हैं—इति षट् पण्डिता-स्तस्य[२] राज्ञो लक्ष्मणसेनस्य प्रसिद्धा इति रूढिः॥

शंकर मिश्र ने उमापतिधर को लक्ष्मणसेन का अमात्य बताया है। जयदेव लक्ष्मणसेन की सभा के कवि माने जाते हैं। लक्ष्मणसेन बल्लालसेन का पुत्र था और वह १११९ ई० में सिंहासनासीन हुआ किंतु उसने कब तक राज्य किया इसका पता नहीं, ऐसा

शृंगारोत्तरसत्प्रमेयरचनैराचार्यगोवर्धन-
स्पर्धी कोऽपि न विश्रुतः श्रुतिधरो धोयी कविः क्ष्मापतिः॥
(श्लोक ४ सर्ग १)

(१) किंदुबिल्वसमुद्रसंभव—सर्ग ३ (गीति)। तिंदुबिल्व, केंदुबिल्व भी पाठांतर हैं।

(२) कुंभनृपति ने १ उमापतिधर, २ शरण, ३ गोवर्धन, ४ श्रुतिधर, ५ धोयी, ६ जयदेव माना है किंतु शंकर मिश्र ने श्रुतिधर को धोयी का विशेषण माना है। श्री A. B. Keith साहब ने भी (देखो Classical Sanskrit literature) पाँच ही कवि माने हैं।

श्रीयुत राखालदास बनर्जी ने "The Palas of Bengal" में लिखा है। यह संवत् उन्होंने एक प्राचीन लेख के आधार पर लिखा है। अस्तु। इस कवि को हुए आठ सौ वर्ष बीत गए। उनकी समाधि "केंदुली" ग्राम में, जो बंगाल के वीरभूम प्रांत में है, बनी हुई है और वहाँ हर साल मकर की संक्रांति पर बड़ा भारी मेला होता है जिसमें हजारों वैष्णव एकत्र होते हैं और उनकी समाधि के चारों ओर संकीर्तन करते हैं।

संस्कृत भक्तमाल में जयदेव की जीवनी—इस कवि का कुछ जीवनचरित चंद्रदत्त कवि ने अपनी भक्तमाल के विष्णुखंड के ३९ से ४१ सर्गों में दिया है जिसका सार नीचे दिया जाता है:—

उत्कल देश के जगन्नाथ पुरी प्रांत में "बिंदुविल्व"[१] नाम का एक ग्राम है जिसमें ब्राह्मणों की बहुत बस्ती है। वहाँ पुरुषोत्तम-पूजक, शांत, विद्याभ्यासरत द्विजवर जयदेव का जन्म हुआ। वहीं देवशर्मा नामक एक ब्राह्मण रहता था। उसके कोई संतान नहीं थी। उसने भगवान् जगन्नाथ से प्रार्थना की कि यदि आपके प्रसाद से मुझको संतति प्राप्त हो तो मैं पहली संतान आपकी सेवा में समर्पण करूँगा। कालांतर में उसके एक कन्या हुई, तदनंतर पुत्र भी हुए। वह सहर्ष सपत्नीक जगन्नाथजी के यहाँ आया और पूर्व संकल्प के अनुसार पुत्री को, हाथ पकड़ भगवान् के अर्पण किया और पूजकों को अथ से इति तक पूर्व-प्रतिज्ञा का वृत्तांत सुनाया। रात्रि में पुजारी को स्वप्न में भगवान् ने कहा कि मैं देवशर्मा की कृतज्ञता से प्रसन्न हूँ। मैंने उसकी कन्या स्वीकार की। किंतु उसे जयदेव को दो। वह मुझको प्रिय है।

पुजारी ने इस स्वप्न की चर्चा देवशर्मा से की और कन्या को लेकर जयदेव के पास गया। वह ग्राम से बाहर पर्णकुटी में रहता

---

(१) गोस्वामि नाभाजी की हिंदी भक्तमाल में ''किंदुबिल्लु'' नाम दिया है।

था, दरिद्र और निरपेक्ष था किंतु बड़ी श्रद्धा से शास्त्रावलोकन तथा जगन्नाथजी की भक्ति किया करता था। देवशर्मा ने पूर्व वृत्तांत कहते हुए अपनी कन्या पद्मावती उसे देनी चाही किंतु उसने संकोच-वश उसे स्वीकार नहीं किया। तब वह पुत्री से यह कहकर कि यह तेरा पूज्य पति है, तू इसकी सेवा करना, अपने आश्रम को चला गया। तदनंतर जयदेव ने कन्या से कहा कि तेरे माता-पिता तुझको अकेली छोड़कर चले गए हैं। तू अकेली जंगल में कैसे रहेगी? पद्मावती ने उत्तर दिया कि भगवन्, मेरे माता-पिता मुझको आपके लिये दे गए हैं। भला आपके होते हुए मैं अकेली कैसे? हाँ, आप अपने अनन्य भक्त को बिसारें तो बात दूसरी है। उसके त्यागने में सचमुच महान् दोष समझ वह उसे लेकर उसके पिता के निवास-स्थान को गया और वहाँ उससे विधिवत् पाणिग्रहण संस्कार किया[१]। तदनंतर वे दंपती एकप्राण होकर नाचते-गाते श्रीकृष्णार्चन में तत्पर होते हुए कालक्षेप करने लगे।

एक दिन जयदेव ने सोचा कि पर-निर्मित उच्छिष्ट गान से क्या लाभ, भगवान् को निज-निर्मित गीत से संतुष्ट करना चाहिए। इस संकल्प से उसने "गीतगोविंद" की रचना प्रारंभ की। एक दिन वह एक पद रचने की उलझन में पड़ गया[२]। पुस्तक को छोड़ स्नान करने चला गया। पीछे से जयदेव का रूप धर भगवान् कृष्ण आए और पद्मावती से पुस्तक ले पाठ पूर्ण कर चले गए।

---

(१) श्रीयुत W. W. Hunter साहब अपने 'उड़ीसा' नामक ग्रंथ के प्रथम भाग में लिखते हैं कि जयदेव ने एक ब्राह्मण-कन्या के कारण, जो जगन्नाथजी के अर्पण कर दी गई थी, अपने तपस्वी जीवन से हाथ खींच लिया।

(२) यहाँ "स्मरगरलखंडनं मम शिरसि मंडनं धेहि पदपल्लव-मुदारम्" पद, जो सर्ग १० में है, अभिप्रेत हैं। ऐसा लिखने में कवि को संकोच हो रहा था।

कुछ देर बाद जयदेव लौटा और निज कल्पित पद्य पुस्तक में लिखने को समुद्यत हुआ तो देखता क्या है कि वहाँ पहले ही पाठ लिखा हुआ विद्यमान है। उसने स्त्री से पूछा कि प्रिये! मेरी पुस्तक में यह कौन लिख गया, मेरे तो अक्षर हैं नहीं। वह बोली नाथ! यह आपका क्या भ्रम है! आप स्नान करने गए थे किंतु तुरंत ही लौट आए, मुझसे पुस्तक माँगी, स्वयं लिखा और लिखकर शीघ्र स्नान करने चल दिए। भला आपसे भिन्न कौन इन पंक्तियों का लेखक है। प्रिया के ये वाक्य सुन कवि अति विस्मित हुआ। स्वप्न में उसे सारा भेद ज्ञात हुआ। वह अपनी पत्नी को साक्षात् पुरुषोत्तम का दर्शन की हुई मान उसे धन्य मानने लगा। तब से वह पत्नी सहित, असीम भक्ति से, गीतगोविंद को गाते हुए भगवान् को प्रसन्न करने लगा।

एक दिन वहाँ का राजा[१] गीतगोविंद को सुन बहुत प्रसन्न हुआ। उसने वैसा ही काव्य बनाकर यह आज्ञा दी कि आज से मेरा बनाया हुआ गीतगोविंद पढ़ा और गाया जाना चाहिए। जो ऐसा नहीं करेगा उसको दंड मिलेगा। किंतु जयदेव निज निर्मित गीत ही गाता रहा और राजा के आक्षेप करने पर डरते हुए कहा कि मैंने आपका काव्य स्वीकार किया परंतु उससे भगवान् इतने प्रसन्न नहीं होते जितने मेरे बनाए हुए से होते हैं। आप भले ही परीक्षा कर लें। यह सुन राजा ने अपनी और जयदेव की पुस्तकों को भगवान् पुरुषोत्तम की प्रतिमा के सामने रख दिया और कहा कि इनमें से जो आपको प्रिय हो उसे ऊपर कर दें। इतना कह किवाड़ बंद कर सब बाहर चले गए। कुछ देर बाद जब द्वार खोला तो सब के सब क्या देखते हैं कि जयदेव का काव्य ऊपर

---

(१) इस राजा का नाम नहीं दिया है। बारंबार "राजा" शब्द का ही प्रयोग किया गया है।

और राजा का नीचे स्थापित है[१]। इससे सबको परम आश्चर्य हुआ। राजा अपनी धृष्टता से लज्जित हो स्वयं भक्तिपूर्वक गीत-गोविंद को पढ़ने लगा और देश-देशांतर तथा द्वीप-द्वीपांतर में उसका प्रचार कराया।

एक दिन एक स्त्री वृंताकक्षेत्र में शरद् काल की रात में जगह जगह से वृंताक [बैंगन] तोड़ती जाती थी और बड़े प्रेम और भक्ति से "गीतगोविंद" का पद गाती जाती थी। भगवान् जगन्नाथ उस गीत से आकर्षित हो स्वयं वहाँ गए और अपने कपड़े काँटों से छिदा लाए। प्रातःकाल पुजारी और राजा प्रतिमा के वस्त्रों की दुर्दशा देख बहुत संकट में पड़ गए किंतु स्वप्न में राजा को सारा भेद ज्ञात हो गया। राजा ने उस शूद्रा शाक-विक्रयिणी को बुला जीविका दे पुरी में बसाया और देवालय में गान करने को नियुक्त किया। तब से राजा जयदेव को भक्तराज मानने लगा।

एक दिन राजा का एक बंधु मर गया। उसकी सुव्रता स्त्री ने सती होने का निश्चय किया। पुरवासी जन उस सती का दर्शन करने जा रहे थे। उसी समय जयदेव की स्त्री पद्मावती रानी से मिलने गई। रानी ने उसे देखते ही पूछा, क्या आप सती को देखने को जा रही हैं। पद्मावती बोली—अहो! यह तो पाषण्ड है। सती तो वह जो पति का मरण सुनते ही तत्क्षण देह से उत्पन्न अग्नि में भस्मीभूत हो जाय। रानी ने ये अवसर के असदृश वचन अपने मन में रखे और एक दिन परीक्षा के उद्देश्य से पद्मावती को बुलाकर कपट से विह्वल होकर कहा कि महाराज के साथ तुम्हारे प्राणपति देव-दर्शन को गए थे, वहाँ अकस्मात् उनका देहावसान हो गया। यह सुनते ही पद्मावती

---

(१) नाभाजी ने लिखा है कि जयदेव के गीतगोविंद में भगवान् ने हार लपेट दिया और राजावाली पुस्तक अलग फेंक दी।

के प्राण-पखेरू उसी दम उड़ गए। रानी अपनी कुमति के भयंकर परिणाम से अत्यंत दुखी हो हाहाकार करने लगी। राजा भी यथार्थ वृत्तांत जान बहुत दुखी हुआ और रानी से बोला कि तू ने इस सती का वृथा प्राण हरण किया। मैं स्त्री-वध नहीं करना चाहता। तुझको त्यागता हूँ। जहाँ जी चाहे जा। जयदेव ने इस सब वृत्तांत को सुन रानी पर दयाकर भगवान् का स्मरण[1] किया जिसके प्रभाव से पद्मावती सचेत हो गई।

एक दिन जयदेव किसी ग्राम में गए। वहाँ शिष्यों ने वस्त्र-अलंकारादि से उनका सम्मान किया। मार्ग में लौटते हुए उन्हें सशस्त्र निर्दय डाकू मिले। जयदेव ने उस घड़ी अपने प्राणों की कुशलता न समझ उनसे कहा—प्यारे तुम कहाँ जा रहे हो। वे बोले पुरुषोत्तमपुरी को। यह सुन उसने मधुर वाणी से कहा—भाई मुझे भी वहीं जाना है, किंतु मैं बूढ़ा हूँ। मेरे सामान को तुम ले चलो तो बहुत दया हो। यों कह सब कुछ उनको दे दिया और मन में यह समझ कि "प्राण बचे लाखों पाए" धीरे धीरे चलने लगा।

ठगों ने मन में विचार किया कि यह ब्राह्मण पक्का धूर्त्त है। यह गाँव में पहुँचकर हम लोगों को पकड़वा देगा इसलिये इसको मारकर हमको आगे बढ़ना चाहिए। बस फिर क्या था, उन निर्दय पुरुषों ने उसको बाँधकर फेंक दिया। इतना ही नहीं, किंतु उनमें से एक नराधम ने तलवार से उसके हाथ-पाँव काट दिए। जयदेव ने मन में सोचा कि यह प्रारब्ध भोग है। अतः वह भगवान् जगन्नाथ का चिंतन करता हुआ वहीं भूखा-प्यासा पड़ा रहा। दैवयोग से ऐसा हुआ कि शिकार के प्रसंग में राजा उस स्थल

---

(१) जयदेव ने इस अवसर पर "प्रिये चारुशीले मुञ्च मयि मानम् निदानम्" गीति (जो गीतगोविंद के १०वें सर्ग में है) का गान किया ऐसा लिखा है।

पर आया और जयदेव को देख उसे पालकी में बिठाकर निज नगर को ले गया। वहाँ साध्वी पद्मावती को बुलवाया और उचित सेवा का प्रबंध कर दिया। कुछ दिन पीछे वे ही चोर साधु का वेष धारण कर जयदेव के घर आए। कवि ने उन्हें पहचान लिया किंतु निर्विकार रह अपनी स्त्री को बुलाकर उनका आतिथ्य करवाया और राजा को बुलाकर कहा कि ये मेरे गुरु के समान हैं। धनादि से आप इनका सत्कार करें। राजा ने अनेक प्रकार के रत्न, वस्त्र और आभरण दिए और जब वे उनको लेकर जाने लगे तब कवि ने राजा से निवेदन किया कि मार्ग में अत्यंत भीषण वन पड़ता है। वहाँ से इनको सकुशल पार करने के लिये इनके साथ राजसेवक भेज दें तो अच्छा हो। यह सुन राजा ने पाँच पदाति उनके साथ भेज दिए। मार्ग में जाते-जाते जब वे सब विश्राम करने के लिये एक वृक्ष की छाया में बैठे हुए थे तब राजसेवकों ने उनसे पूछा कि आप लोगों का कवि से क्या संबंध है जिसके कारण उसने राजा से आप लोगों का सत्कार करने की प्रार्थना की। इसके उत्तर में उन दुष्टों ने कहा कि "कर्नाट" राज के निकट हम विचर रहे थे। वहाँ पर यह धनार्थी भी आया और इस अधम ने एक पुरुष के घर चोरी कर ली। वहाँ यह पकड़ा गया और राजा ने आज्ञा दी कि इस पापी को चांडाल मेरे राज्य से बाहर ले जाकर तलवार से मार दें। हमने उस घोर संकट में इसकी सहायता की थी। उन राजपुरुषों से हमने कहा कि तुम इसे राज्य के बाहर अवश्य ले चलो किंतु इसका प्राण हरण मत करो। केवल दो अँगुलियाँ काटकर ले जाओ और राजद्वार में कह दो कि राजाज्ञा का यथावत् पालन कर दिया गया है। उन लोगों ने हमारी प्रार्थना स्वीकार की और केवल हाथ पैर काटकर इसे छोड़ दिया। उस पूर्व

उपकार का स्मरण कर इसने राजा से हमारा यह सत्कार करवाया है। इन कृतघ्नियों के ऐसा कह चुकते ही आकाश में घोर शब्द हुआ और अकस्मात् उनके सिर पर बिजली पड़ी जिससे वे तुरंत नाश को प्राप्त हुए। राजपुरुष भी इस घटना से अचंभे में रह गए। फिर सब सामान को साथ लेकर जयदेव के घर, जहाँ उस समय राजा भी विद्यमान था पहुँचकर, उन लोगों ने सारी कथा सुनाई। कवि उनका मरण सुन हाथ-पैर मल हाहाकार करने लगा। भगवान् की कृपा से इसके उसी क्षण कटे हुए हाथ-पैर पूर्ववत् अच्छे हो गए। राजा ने कवि से सारा रहस्य पूछा तब जयदेव ने प्रारंभ से कथा कही कि इन्हीं लोगों ने मेरे हाथ-पाँव काट दिए थे। अपकारी के साथ भी उपकार करनेवाले इस महात्मा जयदेव की राजा ने बहुत प्रशंसा की।

बुढ़ापे में भी जयदेव देवार्चन सदा तत्परता से करते रहे। वे गंगा-स्नान करने प्रतिदिन पैदल जाया करते थे। दुर्बलता के कारण वे एक दिन मार्ग में मूर्च्छित होकर गिर पड़े फिर भी पैदल ही जाते रहे। वाहन का उपयोग करना स्वीकार नहीं किया। उनकी दृढ़ता से प्रसन्न हो स्वयं भगवती भागीरथी उनकी वाणी में आ विराजी।

लखनऊ की छपी सटीक हिंदी भक्तमाल में लिखा है कि गंगाजी की धारा जयदेव के आश्रम से अठारह कोस थी। नई गंगा "जयदेई-गंगा" कहलाती है जो किंदुबिल्व ग्राम के पास है। यह ग्राम प्रायः दस कोस दक्षिण की ओर अजय नद के उत्तर में है।

ग्रंथ का संक्षिप्त परिचय—इस ग्रंथ में १२ सर्ग हैं जिनके नाम क्रमशः १ सामोद दामोदर, २ अक्लेश केशव, ३ मुग्ध मधुसूदन, ४ स्निग्ध मधुसूदन, ५ साकांक्षपुंडरीकाक्ष, ६ धन्य वैकुंठ,

७ नागरनारायण, ८ विलक्ष्य लक्ष्मीपति, ९ मुग्धमुकुंद, १० चतुर चतुर्भुज, ११ सानंददामोदर और १२ सुप्रीत पीतांबर धरे हैं। प्रत्येक सर्ग का अंक-क्रम से सारांश नीचे दिया जाता है।

प्रथम सर्ग में ग्रंथ में प्रतिपादित विषय के अनुरूप मंगलाचरण के पश्चात् समकालीन विशिष्ट कवियों का नाम ले दशावतारों का वर्णन किया है तदनंतर भगवान् कृष्ण की मनोहर स्तुति करते हुए कथा प्रारंभ की गई है। वस्तुत: कवि का उद्देश्य कथा निर्माण में चमत्कृति लाने का नहीं था। उसको तो गोविंद-संबंधी सुंदर गीतियाँ रचनी थीं जैसा कि ग्रंथ के नाम से संकेत किया है और इस रचना में उसने निस्संदेह अपूर्व सफलता प्राप्त की। इन गीतियों से जो कथा बनती है वह, संक्षिप्त रूप में, इस प्रकार है:—

श्रीकृष्ण के वियोग से सबाधा राधा से एक सखी आकर कहती है कि इस ऋतुराज वसंत के समय जब शीतल मंद सुगंध समीर बह रहा है, भ्रमर और कोकिलाएँ कूज रही हैं हरि युवतियों के साथ यमुना के किनारे वृंदावन में विहार कर रहे हैं। उनका श्यामल शरीर चंदन से समलंकृत है, वे पीतांबर धारण किए हुए हैं, गले में वनमाला पहिने हुए हैं। क्रीड़ा के कारण कंपायमान कुंडलों से उनके कपोल अलंकृत हो रहे हैं और मंद मुसक्यान कर रहे हैं। वे शृंगाररस के अवतार रास-रस में किसी क्रीड़ाशील गोपी का आलिंगन कर रहे हैं, किसी के साथ खेल रहे हैं, किसी को देख रहे हैं॥ १ ॥ राधा अपने को कृष्ण की सब से अधिक प्यारी समझती है अत: उसके मन में कृष्ण की उसके प्रति उदासीनता बहुत खटकती है किंतु उस अकृत्रिम प्रेम धारण करनेवाली का मन ऐसे असंतोष के अवसर पर भी उनके प्रति परितोष धारण करता है और वह सखी से कृष्ण के साथ अनु-

संधान की अभिलाषा प्रकट करती है ॥ २ ॥ इधर कृष्ण का मन भी राधा के प्रति आकर्षित होता है और वे व्रज-सुंदरियों को त्याग एकांत में जा पश्चात्ताप करते हैं कि वस्तुतः मुझसे राधा का निरादर हो गया। वह मुझको गोप-वधू-समूह से वेष्टित देखकर चली गई। मैं उसे रोक भी नहीं सका। वे सानुनय उसका स्मरण करते हैं और उनकी उत्कंठा बहुत बढ़ जाती है। वे कहते हैं :—

हृदि विसलताहारो नायं भुजंगमनायकः
कुवलयदलश्रेणी कंठे न सा गरलद्युतिः।
मलयजरजो नेदं भस्म प्रियारहिते मयि
प्रहर न हरभ्रांत्यानंग क्रुधा किमु धावसि॥

आशय—हे अनंग! तू शिव की भ्रांति में प्रिया-रहित मुझ पर प्रहार मत कर। विरह-जन्य संताप की शांति के लिये मैंने यह मृणाल-लता-हार धारण किया है, यह सर्पराज वासुकि नहीं है। मेरे गले में नीलोत्पलपत्रों की पंक्ति है, यह गरल द्युति नहीं है। मेरे शरीर पर चंदन की धूलि है, भस्म नहीं। फिर तू क्यों मेरी ओर लपक रहा है॥ ३॥

राधिका नाम की सखी माधव को सूचना देती है कि राधा तुम्हारे विरह में बहुत दीन हो रही है। वस्तुतः जैसे कोई हरिणी व्याघ्र से त्रसित, चारों ओर आग लगी हुई और सामने व्याध का जाल लगा हुआ देखकर किं-कर्तव्य-विमूढ़ हो ऐसी उसकी दशा हो रही है। हरि, हरि बोल वह मौत को मुक्ति समझती है। उसको रोमांच होता है, सीत्कार होता है, विलाप होता है, कंप होता है, ग्लानि होती है, भ्रम होता है, प्रलाप होता है, गिर पड़ती है तथा मूर्छित हो जाती है॥ ४॥

तदनंतर संकोच वश स्वयं जाने में असमर्थ कृष्ण सखी से कहते हैं कि तुम राधा को अनुनय-वचन कहकर यहाँ बुला लाओ। वह राधा के पास आकर कृष्ण की विरह-वेदना का वर्णन करती है और अपने हृदयेश के पास बिना विलंब चलने की प्रेरणा करती है ॥ ५ ॥ दूती राधा को किसी कुंज में स्थापित कर उसकी चेष्टा को कृष्ण से निवेदन करती है ॥ ६ ॥ इस समय चंद्रोदय हो जाता है और अभी तक कृष्ण के संकेत-स्थान पर नहीं मिलने से राधा दुखी होती है और सखी को केवल अकेली आते हुए देख मन में अनेक प्रकार की कल्पनाएँ करती हुई समझती है कि किसी अधिक गुणवती युवती ने कृष्ण को वश में कर लिया है—

नायातः सखि निर्दयो यदि शठस्त्वं दूति किं दूयसे
स्वच्छन्दं बहुवल्लभः स रमते किं तत्र ते दूषणम् ।
पश्याद्य प्रियसंगमाय दयितस्याकृष्यमाणं गुणै-
रुत्कंठार्तिभरादिव स्फुटदिदं चेतः स्वयं यास्यति ॥

अपने कर्तव्य में असफल होने से दुखी हुई दूती कहती है कि हे सखी राधे! वह निर्दयी नहीं आया। राधा उत्तर देती है कि यदि वह शठ है तो तू क्यों दुखी होती है। वह कहती है कि वह कृष्ण अनेकनायिकाप्रिय है अतः निःशंक रमण करता है। राधा कहती है कि इसमें तेरा क्या दूषण है। देख आज प्यारे के गुणों से आकर्षित हुए, उत्सुकता और पीड़ा से भरे हुए मेरे प्राण स्वयं उसके पास जायँगे ॥ ७ ॥ स्मरशरजर्जरित राधा जैसे तैसे रात बिताती है किंतु प्रातःकाल कृष्ण के नम्र और प्रेम भरे वचनों के कहने पर भी फटकारकर कहती है कि आप मुझसे छल के वचन न कहिए। आपके नेत्र क्या साक्षी दे रहे हैं? आप उसी के पास पधारिए जो आपका विषाद हरे। आपका मन

आपके शरीर के समान (काला) है ॥ ८ ॥ राधा ने प्रणय-कोप से कृष्ण को प्रतारित तो कर दिया परंतु वह स्वयं बहुत उपतप्त हो जाती है। निदान सखी समझाती है कि आप माधव से दुराग्रह त्याग दें। अपने विपरीत आचरण से आपने स्वयं शीतांशु को चंडांशु, हिम को हुतवह, विनोद को वेदना बना लिया है ॥ ९ ॥ तदनंतर स्वयं हरि सुमुखी राधा के पास आकर उसके विमुखीभाव को हरने का प्रयत्न करते हैं ॥ १० ॥ उनके चले जाने पर सखी राधा को कृष्ण के पास जाने के लिये प्रोत्साहित करती है। वह उसकी प्रेरणा से चल देती है किंतु कुंज के भीतर जाने से उसे लज्जा आती है क्योंकि वह कृष्ण से पहले निष्ठुर वचन कह चुकी थी। सखी उसकी शंका निवृत्ति कर साहस का संचार करती हैं और वह ससाध्वस सानंद लीलागृह में प्रवेश करती है और हरि को देखते ही हरी हो हर्षाश्रु बहाती है ॥ ११ ॥ तदनंतर हरि उससे सप्रेम वार्त्तालाप करते हैं और वे दोनों परस्पर निःशंक यथेष्ट आनंदास्वादन करते हैं ॥ १२ ॥

गीतगोविंद का गौरव और प्रचार—जयदेव की जो जीवनी दी जा चुकी है उससे प्रकट होता है कि "गीतगोविंद" का प्रचार उसके बनते ही हो गया था। उसके समान ग्रंथ रचे गए किंतु उससे बढ़कर सिद्ध नहीं हुए। कपिलेंद्र अथवा कपिलेश्वर नाम के महापात्र ने राजसिंहासन दबाकर उड़ीसा देश पर ई० स० १४३५ से १४७० तक राज्य किया। यह बहुत प्रतापी नरेश था। इसने यह व्यवस्था की थी कि पुरी में जगन्नाथजी के मंदिर में भोग के समय सायं धूप से बड़े शृंगार तक नृत्य हुआ करे। इस संबंध में तैलंगाना से कई नृत्य-विद्या-विशारद बुलवाए गए थे और यह भी नियम किया था कि

चार वैष्णव जयदेव के गीतगोविंद का देवालय में गान किया करें। प्रतापरुद्र के समय, जो ई० सन् १४९७वें में सिंहासनारूढ़ हुआ था, गीतगोविंद का प्रचार बहुत ही बढ़ गया। इसी समय श्रीकृष्ण चैतन्य महाप्रभु हुए जिन्होंने श्रीकृष्ण-भक्ति का अपूर्व प्रचार किया। इस समय तो उड़ीसा में गीतगोविंद का पढ़ा जाना और गाया जाना अनिवार्य धर्म हो गया था। केवल इसी ग्रंथ की गीतियाँ जगन्नाथजी के सामने गाई जाती थीं। यदि कोई और गीतियों को गाता तो वह दोषी गिना जाता था[१]।

गीतगोविंद का निम्नलिखित श्लोक वंगदेशीय श्री विश्वनाथ कविराज ने स्व-रचित साहित्यदर्पण के दशम परिच्छेद में वृत्त्यनुप्रास के उदाहरण में उद्धृत किया है। ये ईसा की चौदहवीं शताब्दी में हुए थे। तत्कालीन विद्वान् इस ग्रंथ को, सत्काव्यता के कारण, साहित्यिक दृष्टि से बड़े गौरव से देखते थे ऐसा निर्विवाद प्रकट होता है।

उन्मीलनमधुगन्धलुब्धमधुपव्याधूतचूताङ्कुर-
क्रीडत्कोकिलकाकलीकलरवैरुद्गीर्णकर्णज्वराः।
नीयन्ते पथिकैः कथं कथमपि ध्यानावधानक्षण-
प्राप्तप्राणसमा समागमरसोल्लासैरमी वासराः॥

सर्ग १, श्लोक ११.

श्रीयुत Theodor Aufrecht के सुप्रसिद्ध कटोलोगस कटोलोगोरम में लिखा है कि दक्षिण में गीतगोविंद को अष्टपदी कहते हैं और इस ग्रंथ पर अग्रलिखित टीकाएँ रची गईं।

---

(१) देखो पृष्ठ ३०१ और ३३४, हिस्ट्री आव उड़ीसा, भाग पहला, श्री आर० डी० बनर्जी-कृत।

संख्या	टीका का नाम	टीका बनानेवाले का नाम
१	बालबोधिनी	चैतन्यदास
२	वचनमालिका	×
३	भावविभावनी	उदयनाचार्य्य
४	रसिकप्रिया	कुम्भकरण महेंद्र
५	(साहित्य,रत्नमाला	(शेष)कमलाकर
६	अर्थरत्नावली	गोपाल
७	पदद्योतिनी	नारायण भट्ट
८	सर्वांगसुंदरी	नारायणदास
९	रसकदंबकल्लोलिनी	भगवद्दास
१०	माधुरी	रामतारण
११	सानंद गोविंद	रूपदेव
१२	श्रुतिरंजनी	लक्ष्मण सूरि
१३	गीतगोविंद प्रथमाष्टपदी विवृत्ति	विट्ठल दीक्षित
१४	श्रुतिरंजनी	विश्वेश्वर भट्ट
१५	रसमंजरी	शंकर मिश्र
१६	साहित्यरत्नाकर	शेषरत्नाकर
१७	पदभावार्थचंद्रिका	श्रीकंठ मिश्र
१८	गीतगोविंद तिलकोत्तम	हृदयाभरण
१९	अनूपोदय	अनूपसिंहदेव
२०	सारदीपिका	जगद्धर
२१	पदाभिनयमंजरी	वासुदेव वाचासुंदर
२२	गीतगोविंद प्रबोध	रमाकांत

इनके अतिरिक्त कृष्णदत्त, कृष्णदास, चैतन्यदास, पीतांबर, भावाचार्य्य, मानांक, रामदत्त, लक्ष्मण भट्ट, वनमालिन् भट्ट (वनमालीदास), शालिनाथ, श्रीहर्ष, तिरुमाल, चिदानंद भिक्षु, धृतिधर, कुमार खान ने भी इस ग्रंथ पर टीकाएँ रचीं ऐसा उपर्युक्त ग्रंथ से प्रतीत होता है।

उपर्युक्त टीकाओं में से दो टीकाएँ प्रथम कुंभकर्ण महेंद्रकृत "रसिकप्रिया" और द्वितीय शंकर मिश्र कृत "रसमंजरी" मूल ग्रंथ के साथ छापकर बंबई के सुप्रसिद्ध निर्णयसागर प्रेस ने प्रकाशित की हैं। श्री कुंभकर्ण अथवा कुंभ नृपति "कुंभा" नाम से अधिक प्रसिद्ध है। यह चितौड़ के राज्यसिंहासन पर ई० स० १४३३ में बैठा। मेवाड़ के इस महाप्रतापी महाराणा ने दानशीलता, वीरता और विद्वत्ता के कारण अनेक विरुद प्राप्त किए। इसका विद्या-संबंधी विरुद "नव्य भारत" तथा "अभिनव भरताचार्य्य" था। इसी ने मालवा के सुलतान को हराकर उस विजय के उपलक्ष्य में चित्तौड़ में सुप्रसिद्ध कीर्त्ति-स्तंभ बनवाया जिसका महत्त्व देहली के कुतुबमीनार से कम नहीं है। यह अनेक विषयों के शास्त्रों का पंडित था। शिल्प और संगीत शास्त्रों में बहुत निपुण था। इसने कई ग्रंथ लिखे। ई० स० १४६८ में इस नररत्न को इसके नराधम पुत्र ने अचानक कटार से मार डाला[१]।

महामहोपाध्याय दिनेश्वरात्मज महामहोपाध्याय शंकर मिश्र ने श्री शालिनाथ की प्रेरणा से संस्कृत भाषा में इस ग्रंथ पर "रसमंजरी" नाम की टीका लिखी किंतु इस विद्वान् के समय का तथा जीवनी का परिचय प्राप्त नहीं हुआ है। जैसा कि आगे चलकर बताया जायगा, यह विद्वान् कुंभनृपति से पहिले हुआ प्रतीत होता है। फ्रेजर साहब ने टाड साहब के आधार पर अपनी "A literary History of India" में लिखा है— Mira Bai's commentary on the "Gita Govinda" shows her passionate devotion to the form of

(१) देखो महामहोपाध्याय रायबहादुर पंडित गौरीशंकरजी ओझा का "उदयपुर का इतिहास" तथा अँगरेजी भाषा में दीवान बहादुर हरविलासजी का "कुंभा"।

Krishna she worshipped, while songs of her own composition are sung far and wide from Dwarka to Mithila. भक्त-शिरोमणि मीराबाई महाराणा साँगा के पुत्र भोजराज की पत्नी थी। इसके—ईश्वर-भक्ति के—सैकड़ों भजन भारत भर में प्रसिद्ध हैं। इसने "राग-गोविंद" नामक कविता का एक ग्रंथ बनाया था। कदाचित् उपरोक्त गीतगोविंद की टीका से रागगोविंद अभिप्रेत है।

करीब ३०० वर्ष हुए कलिंग के धरणीधर पंडित[१] ने गीतगोविंद का छंदोबद्ध अनुवाद किया था। वहीं के पंडित कृष्णदास ने भी इस ग्रंथ का उड़िया में अनुवाद किया था। हिंदी भाषा में श्रीयुत मेहरचंद्र, विंध्येश्वरीप्रसाद, काशीनाथ वाजपेयी कृत इस ग्रंथ के अनुवाद हमारे देखने में आए हैं। समय समय पर इस ग्रंथ की अनेक भाषाओं में अनेक टीकाएँ तथा अनेक अनुवाद हो चुके हैं[२]। विदेशी विद्वानों ने जयदेव और गीतगोविंद के विषय में क्या क्या लिखा है इसका परिचय कराने के निमित्त उनकी लिखी पुस्तकों से कुछ अंश समुद्धृत करते हैं। श्रीयुत Weber साहब अपनी History of Indian Literature में लिखते हैं:—

In general, this love poetry is of the most unbridled and extravagantly sensual description,

---

(१) देखो—श्री W. W. Hunter कृत 'उड़ीसा', दूसरी जिल्द, पृष्ठ २०२ और २०५।

(२) प्रयाग की हिंदी-शिक्षावली चौथे भाग में लिखा है "इसका अनुवाद अँगरेजी, जर्मन, लैटिन आदि योरोप की कई भाषाओं में हो गया है। हिंदी पद्य में भी इसके तीन अनुवाद हैं। एक डालचंद की आज्ञा से रायचंद कृत, दूसरा अमृतसर के प्रसिद्ध भक्त स्वामी रत्नहरिदास कृत, और तीसरा बनारस के बाबू हरिश्चंद्र भारतेंदु कृत है। मराठी, बँगला आदि

yet examples of deep and truly romantic tenderness of feelings are not wanting.

श्रीयुत R. W. Frazer साहब अपनी A literary History of India में लिखते हैं :—

There is no direct evidence that the poem itself was written with any religious purpose. It simply tells of the longings and laments of Rādhā, the favourite of Krishna, for her lord and lover. Still all Vaishnavites take the poem as the mystic rendering of the longing of the soul for the Divine.

The poem opens with the customary reverence to Ganesa the deity of all good efforts. १

श्रीयुत Arthur A. Macdonell अपनी "A History of Sanskrit Literature" में लिखते हैं :—The transitional stage between pure lyric and pure drama is represented by the Gitagovinda, or "Cowherd in song", a lyrical drama, which, though dating from the twelfth century, is the earliest

---

भाषाओं में भी अनेक अनुवाद हैं। गीतगोविंद दक्खिन में बहुत गाया जाता है और बालाजी में सीढ़ियों पर द्राविड़ अक्षरों में खुदा हुआ है।"

(१) गीतगोविंद का प्रारंभ तो "मेघैर्मेदुर" श्लोक से हुआ है। निर्णयसागर प्रेस की पुस्तक में "श्रीगणेशाय नमः" भी नहीं है। संभव है उनको इस ग्रंथ की ऐसी प्रति प्राप्त हुई हो जिसमें प्रारंभ में गणेशजी की स्तुति का श्लोक या श्रीगणेशाय नमः हो।

literary specimen of a primitive type of play that still survives in Bengal, and must have preceded the regular dramas. Making abundant use of alliteration and the most complex rhymes occuring, as in the Nalodaya, not only in the end, but in the middle of the metrical lines the poet has adapted the most varied and inclodious measures to the expression of exuberant erotic emotions, with a skill which could not be surpassed. The German poet Rückert, has, however, come as near to the highly artificial beauty of the original, both in form and matter, as is feasible in any translation.

श्रोयुत Ernst Horrwitz अपनी A Short History of Indian Literature में लिखते हैं :—

The Gita Govinda, like Soloman's song, is an allegorical poem. Krishna stands for the soul which, again and again, is attracted by the objects of the senses, the Gopis, until Divine Love (Rādha) reclaims the dear wanderer. His heart is bruised and weary, and he longs for rest "Return,

Sweet messenger of rest,
I hate the sins that made thee mourn,
And drove thee from my breast."

इस पुस्तक में ग्रंथ की कथा का संक्षिप्त सार भी दिया है जिसका अनुकरण श्रीयुत वेदव्यास के "संस्कृत साहित्य का इतिहास"—प्रथम भाग—नाटक और काव्य—में किया हुआ है। श्रीयुत Arnold साहब ने अँगरेजी छंदों में गीतगोविंद का प्रदर्शन कराया है :—

"Mark this song of Jayadev !
Deep as pearl in ocean's wave,
Lurketh in its lines—a wonder,
Which the wise alone will ponder."

श्रीयुत A. B. Keith अपनी "Classical Sanskrit Literature" में लिखते हैं :—

It is idle to seek for the divisions of action appropriate to the true drama, instead the poet divides his work into twelve cantos, and twenty four sections, composed in varied metres to be sung in sets of eight stanzas to different tunes. It has been suggested that the presence of end and middle rhyme, as well as the yamakas common to Sanskrit poetry, is a proof of origination from an Apabhranisa version, but it would be wrong to imagine that the poem had any popular model, we may justly suspect that he practically created the genre. All else that we have of him is a tiny Hindi eulogy of Hari Govinda which is preserved in the Ādi Granth of the Sikhs.

विशेष क्या लिखें प्रत्येक विदेशी विद्वान् ने इस ग्रंथ के रचना-चातुर्य की मुक्तकंठ से प्रशंसा की है। कई विद्वानों को इस ग्रंथ में जो मानवी प्रेम-रस की मात्रा अधिक टपकाई है खटकी है किंतु अँगरेजी भाषा में भी "सालोमन का सांग" है जो इसी शैली का है। वे गीतगोविंद की हरिस्मरण और विलास-कथा-कुतूहल की तुलना सालोमन सांग से करते हैं। कृष्ण आत्मा है जिसे इंद्रियों के विषय-रूपी गोपियाँ मुहुर्मुहुः आकर्षित करती हैं। अंत में राधारूपी ज्ञान भक्ति आत्मा को परमात्मा से संयोजित करती हैं। बाबू राजेंद्रलाल मित्र ने Antiquities of Orissa के पहले भाग के पाँचवें अध्याय में लिखा है कि डाक्टर Adam Clarke गीतगोविंद और सालोमन सांग की समता से इतने चमत्कृत हुए कि उन्होंने इसे अपनी रची बाइबल की टीका में स्थान दिया। डाक्टर Mason Good ने सालोमन सांग का अनुवाद करते हुए उसके कई पद गीतगोविंद के पदों द्वारा समझाए हैं और श्रीयुत Hartwell Horne ने, जिनकी Introduction to the Scriptures पुस्तक प्रसिद्ध है, गीतगोविंद में आध्यात्मिक अर्थ का दर्शन किया है। स्काट साहब का कहना है कि ऐसे वर्णन आजकल की विचार-दृष्टि से हृदयंगम नहीं किए जा सकते।

गीतगोविंद के विषय में यह मानना कि यह उस शैली का रूपक है जो पूर्णशैली को प्राप्त नाटकों के पहिले विद्यमान होनी चाहिए ठीक नहीं जँचता क्योंकि भास आदि महाकवियों ने इससे बहुत पूर्व अच्छे अच्छे नाटक रच दिए थे।

इस ग्रंथ पर लिखी हुई अनेक टीकाएँ, इसके अनेक देशी और विदेशी भाषाओं में अनुवाद और अनुसरण, इसके पदों का अनेक ग्रंथों में उद्धृत किया जाना इसकी अपूर्वता का साक्षात् प्रमाण

है। जैसे कई एक प्राचीन देवालयों पर कतिपय भोगासनों की प्रतिमाओं को देखकर लोग किंचित् संकुचितचित्त होते हैं परंतु उन अद्भुत स्थानों के निर्माण-कौशल की प्रशंसा किए बिना नहीं रह सकते वैसे ही संकोच को अवकाश गीतगोविंद के कतिपय पद्यों में भी निस्संदेह प्राप्त होता है परंतु इसकी मधुर कोमल कांत पदावली सहृदयों के हृदय में लोकोत्तर आह्लाद उत्पन्न कर अपूर्व सुधासिंधु में निमग्न कर देती हैं। वस्तुत: राधा का प्रचार जयदेव ने ही किया। श्रीमद्भागवत में राधा का वृत्तांत नहीं प्राप्त होता। अभी तक गीतगोविंद का गौरव विद्वानों में ज्यों का त्यों बना हुआ है। मैसूर में अखिल भारतवर्षीय प्राच्य परिषद् के अधिवेशन के समय श्रीमती विदुषी पुत्ताम्मा ने सोमवार ३० दिसंबर सन् १९३५ ई० को अमरुशतक आदि ग्रंथों के कतिपय पद्यों के साथ गीतगोविंद के अष्टम सर्ग के पहिले दो पदों का स-हावभाव गान कर श्रोतागणों के चित्त को चमत्कृत किया था। वस्तुत: जयदेव ने जो अपना गुण-कीर्तन निम्न-लिखित शब्दों में किया है वह यथार्थ है :—

साध्वी माध्वीकचिन्ता न भवति भवत: शर्करे कर्कशासि
द्राक्षे द्रक्ष्यन्ति के त्वाममृतमृतमसि क्षीरनीरं रसस्ते।
माकन्दक्रन्दकांताधरधर न तुलां गच्छ यच्छन्ति भावं
यावच्छृङ्गारसारं शुभमिव जयदेवस्य वैदग्ध्यवाच: ॥

गीतगोविंद का मूल पाठ

जैसा लिखा गया है, मुंबई के निर्णयसागर प्रेस ने गीतगोविंद काव्य को कुंभनृपति की रसिकप्रिया तथा शंकर मिश्र की रसमंजरी टीका सहित छापा है किंतु शंकर मिश्र की टीका कई श्लोकों पर नहीं विद्यमान है, उनको प्रेस के टिप्पण सहित नीचे आगे लिखते हैं—

रासोल्लासभरेण विभ्रमभृतामाभीरवामभ्रु वा-
अभ्यर्णे परिरभ्य निर्भरमुरः प्रेमान्धया राधया।
साधु त्वद्वदनं सुधामयमिति व्याहृत्य गीतस्तुति-
व्याजादुद्भटचुम्बितस्मितमनोहारी हरिः पातु वः॥

सर्ग १ श्लोक १२ (अंतिम)—"इयं पद्यं रसमंजरीव्याख्या-कृता न टीकितं वा तट्टीकालेखादिप्रमादाद् भग्ना वेति नावगम्यते।"

साकूतस्मितमाकुला कुलगलद्धम्मिल्लमुल्लासित-
भ्रूवल्लीकमलीकदर्शितभुजामूलोर्ध्वहस्त मूलार्धदृष्ट)स्तनम्।
गोपीनां निभृतं निरीक्ष्य गमिताकाङ्क्ष (दयिताकाङ्क्ष)श्चिरं चिन्तय-
न्नन्तर्मुग्धमनोहरं हरतु वः क्लेशं नवः केशवः॥

सर्ग २ श्लोक १२ (अंतिम)—"अस्य पद्यस्य व्याख्या रस-मंजरीटीकापुस्तके गलितास्ति।"

तिर्यक्कण्ठविलोलमौलितरलोत्तंसस्य वंशोच्चर-
द्दीप्तिस्थान(द्गीतस्थान)कृतावधानललनालक्षैर्न संलक्षिताः।
संमुग्धे मधुसूदनस्य मधुरे राधामुखेन्दौ सुधा-
सारे (मृदुस्यन्तं) कन्दलिताश्चिरं दधतु वः क्षेमं कटाक्षोर्मयः॥

सर्ग ३ श्लोक १६ (अंतिम)—"अस्य श्लोकस्य व्याख्यानं रसमञ्जर्याख्यटीकादर्शपुस्तके नोपलभ्यते।"

वृष्टिव्याकुलगोकुलावनरसा(वनवशात्)दुद्धृत्य गोवर्धनं
बिभ्रद्वल्लववल्लभाभिरधिकानन्दाच्चिरं चुम्बितः।
दर्पेणैव तदर्पिताधरतटीसिन्दूरमुद्राङ्कितो
बाहुर्गोपतनोस्तनोतु भवतां श्रेयांसि कंसद्विषः॥

सर्ग ४ श्लोक १३ (अंतिम)—"वृष्टिव्याकुल इत्यादि श्लोकस्य टीका नोपलभ्यते मूलादर्शपुस्तके।"

राधामुग्धमुखारविन्दमधुपस्त्रैलोक्यमौलिस्थली-
नेपथ्योचितनीलरत्नमवनीभारावतारान्तकः।

स्वच्छन्दं व्रजसुन्दरीजनमनस्तोषप्रदोषोदय: (तोषप्रदोषश्चिरम्)
कंसध्वंसनधूमकेतुरवतु त्वां देवकीनन्दन: ॥

सर्ग ५ श्लोक ७ (अंतिम)—"अत्र राधामुग्धेत्यादि श्लोकस्य टीका नोपलब्धादर्शपुस्तके ।"

किं विश्राम्यसि कृष्ण भोगिभवने भाण्डीरभूमीरुही
भ्रातर्याहि न दृष्टिगोचरमित: सानन्दनन्दास्पदम् ।
राधाया वचनं तदध्वगमुखान्नन्दान्तिके गोपतो
गोविन्दस्य जयन्ति सायमतिथिप्राशस्त्यगर्भा गिर: ॥

सर्ग ६ श्लोक ४ (अंतिम)—"किं विश्राम्यसीत्यादि श्लोकस्य व्याख्यानं नोपलभ्यतेऽस्यां टीकायाम् ।"

प्रातर्नीलनिचोलमच्युतमुर: संवीतपीताम्बरं
राधायाश्चकितं विलोक्य हसति स्वैरं सखीमण्डले ।
व्रीडाचञ्चलमञ्चलं नयनयोराधाय राधानने
स्वादु स्मेरमुखोऽयमस्तु जगदानन्दाय नन्दात्मज: ॥

सर्ग ७ श्लोक १० (अंतिम)—"अत्र प्रातरित्यादि श्लोक- टीका नोपलब्धादर्शपुस्तके ।"

अंतर्मोहनमौलिघूर्णनचलन्मन्दारविभ्रंशन(-बलन्मन्दारविस्रंसन)
स्तम्भाकर्षणदप्तिहर्षण(स्तब्धाकर्षणदृष्टिहर्षण)-
महामन्त्र: कुरङ्गीदृशाम्।
दृप्यद्दानवदूयमानदिविषद्दुर्वारदु:खापदां
भ्रंश: कंसरिपोर्विपोलयतु (रिपोर्व्यपोहयतु वोऽश्रेयांसि)
व: श्रेयांसि वंशीरव: ॥

सर्ग ८ श्लोक ३ (अंतिम)—"अन्तर्मोहनेत्यादि श्लोक टीका नोपलभ्यते लब्धादर्शपुस्तके ।"

सान्द्रानन्दपुरन्दरादिदिविषद्वृन्दैरमन्दादरा-
दानाम्रैर्मुकुटेन्द्रनीलमणिभि: संदर्शितेन्दिन्दिरम् ।

स्वच्छन्दं मकरन्दसुन्दरमिलन्मन्दाकिनीमेदुरं
श्रीगोविन्दपदारविन्दमशुभस्कन्दाय वन्दामहे ॥

सर्ग ९—श्लोक ३ (अंतिम)—"अत्र सान्द्रानन्देति श्लोकस्य टीका नोपलभ्यते आदर्शपुस्तके।"

स प्रीतिं तनुतां (प्रीतिं वस्तनुतां) हरिः कुवलयापीडेन सार्धं रणे
राधापीनपयोधरस्मरणकृत्कुम्भेन सम्भेदवान्।
यत्र स्विद्यति मीलति क्षणमपि क्षिप्रं तदालोकन-
(क्षणमथ क्षिप्ते द्विपे तत्क्षणात्)
व्यामोहेन जितं जितमभूत्कंसस्य कोलाहलः
(कंसस्यालमभूज्जितं जितमिति व्यामोहकोलाहलः) ॥

सर्ग १०—श्लोक ८ (अंतिम)—"अत्र सप्रीतिमित्यादिश्लोक-टीका नोपलभ्यते आदर्शपुस्तके।"

सानन्दं नन्दसूनुर्दिशतु मितपरं संमदं मन्दमन्दं
राधामाधाय बाह्वोर्विवरमनु दृढं पीडयन्प्रीतियोगात्।
तुङ्गौ तस्या उरोजावतनुवरतनोर्निर्गतौ (तनुचलतनोः) मा स्म भूतां
पृष्ठं निर्भिद्य तस्माद्बहिरिति वलितग्रीवमालोकयन्वः ॥

जयश्रीविन्यस्तैर्महित इव मन्दारकुसुमैः
स्वयं सिन्दूरेण द्विपरणमुदा मुद्रित इव।
भुजापीडक्रीडाहतकुवलयापीडकरिणः
प्रकीर्णासृग्बिन्दुर्जयति भुजदण्डो मुरजितः ॥

सौन्दर्यैकनिधेरनङ्गललनालावण्यलीलापुषो
राधाया हृदि पल्वले मनसिजक्रीडैकरङ्गस्थले।
रम्योरोजसरोजखेलनरसित्वादात्मनः ख्यापय-
न्ध्यातुर्मानसराजहंसनिभतां देयान्मुकुन्दो मुदम् ॥

सर्ग ११—श्लोक १०, ११, १२ (अंतिम)—"अत्र 'सानन्दमिति', 'जयश्रीति', 'सौन्दर्येति' श्लोकत्रयस्य टीका नोपलब्धादर्शपुस्तके।"

व्याकोशः (व्यालोलः) केशपाशस्तरलितमलकैः
स्वेदमोचौ (स्वेदलोलौ) कपोलौ
क्लिष्टा बिम्बाधरश्रीः (स्पृष्टादृष्टाधरश्रीः) कुचकलशरुचा
हारिता हारयष्टिः।
काञ्चीकान्तिर्हताशा (काञ्ची काञ्चिद्गताशां)
स्तनजघनपदं पाणिनाच्छाद्य सद्यः
पश्यन्ती सत्रपा सा (पश्यन्ती चात्मरूपं) तदपि विलुलिता
मुग्धकान्तिर्धिनोति (विलुलितस्रग्धरेयं धिनोति) ॥
ईषन्मीलितदृष्टि मुग्धविलसत् (मुग्धहसितं) सीत्कारधारावशा-
दव्यक्ताकुलकेलिकाकुविकसद्दन्तांशुधौताधरम् ।
शान्तस्तब्धपयोधरं भृश(श्वासोत्कम्पि पयोधरोपरि)
परिष्वङ्गात्कुरङ्गीदृशो
हर्षोत्कर्षविमुक्ति निःसहतनोर्धन्यो धयत्याननम् ॥

सर्ग १२—श्लोक ६, ७—"अत्र 'व्याकोश' इत्यादि तथा 'ईषन्मीलित'इत्यादि श्लोकद्वयस्य टीका नोपलब्धादर्शपुस्तके।"

अथ सहसा सुप्रीतसुरतान्ते सा नितान्तखिन्नाङ्गी ।
राधा जगाद सादरमिदमानन्देन गोविन्दम् ॥

शंकरमिश्रकृतरसिकमञ्जरीटीकायामस्या आर्यायाः स्थाने निम्न-लिखितः श्लोको वर्तते—

अथ निर्गतबाधा सा राधा स्वाधीनभर्तृका ।
निजगाद रतिश्रान्तं कान्तं मण्डनवाञ्छया ॥

सर्ग १२—श्लोक ८

इत्थं केलिततीर्विहृत्य यमुनाकूले समं राधया
तद्रोमावलिमौक्तिकावलियुगे वेणीभ्रमं बिभ्रति ।
तत्राह्लादिकुचप्रयागफलयोर्लिप्सावतोर्हस्तयो-
र्व्यापाराः पुरुषोत्तमस्य ददतु स्फीतां मुदां संपदम् ॥

सर्ग १२—श्लोक १३ (अंतिम)—"अयं श्लोकः प्रक्षिप्त इति भाति आदर्शपुस्तकान्तरेष्वदर्शनात् ॥"

उपरिलिखित तालिका से यह प्रतीत होता है कि जो गीतगोविंद की पुस्तक महामहोपाध्याय शंकर मिश्र के पास थी उसमें बारहों सर्गों के अंतिम श्लोक तथा चार और श्लोक (जो कुंभनृपति की पुस्तक में थे) विद्यमान नहीं थे। कुंभनृपति जयदेव से ३०० वर्ष पश्चात् हुए और इतने समय में गीतगोविंद जैसी गायनप्रधान पुस्तक में कुछ श्लोकों का हेर-फेर हो जाय तो आश्चर्य नहीं, किंतु अनुज्झितक्रम श्लोकों का एक टीका में न मिलना किसी विशेष अभिप्राय को सूचित करता है। गोस्वामी श्री नाभाजी ने हिंदी भाषा की भक्तमाल में जयदेव का चरित लिखते हुए लिखा है :—

नीलाचल धाम तामैं पंडित नृपति एक,
करी यही नाम धरि पोथी सुखदाइऐ।
द्विजनि बुलाइ कही "वही है, प्रसिद्ध करो,
लिखि लिखि पढ़ौ देश देशनि चलाइऐ" ॥
बोले मुसुकाइ विप्र छिप्र सो दिखाइ दई
"नई यह कोऊ मति अति भरमाइऐ"।
धरी दोऊ मंदिर मैं जगन्नाथदेवजू के;
दीनी यह डारि, वह हार लपटाइऐ ॥ १४८ ॥
परयो सोच भारी, नृप निपट खिसानो भयो,
गयो उठि सागर मैं बूड़ों वही बात है।
अति अपमान कियो, कियो मैं बखान सोई,
गोई जात कैसे ? आँच लागी गात गात है ॥
आज्ञा प्रभु दई "मत बूड़े तू समुद्र माँझ,
दूसरो न ग्रंथ ऐसो, वृथा तनुपात है।

द्वादश सुश्लोक लिखि, दीजे सर्ग द्वादश मैं,
ताहि संग चलै जाकी ख्याति पात पात है ॥ १४९ ॥

उपर्युक्त छंद में जो वर्णन लिखा है कि भगवान् ने आज्ञा दी कि हे राजा तू अपनी पुस्तक के १२ श्लोक गीतगोविंद पुस्तक में लिखकर मिला दे, यह संस्कृत की भक्तमाल में नहीं पाया जाता। चंद्रदत्त ने संस्कृत की भक्तमाल हिंदी की भक्तमाल के आधार पर लिखी है। संभव है गीतगोविंद में उपर्युक्त मिलावट का पता न लगा सकने से उन्होंने यह वृत्तांत लिखना ठीक न समझा हो किंतु जो तालिका हमने ऊपर दी है उससे तो नाभाजी के कथन की पुष्टि होती है। ऐसा प्रतीत होता है कि महामहोपाध्याय शंकर मिश्र कुंभनृपति से पहिले हुए और उनके समय में ये श्लोक गीतगोविंद में नहीं थे। नाभाजी[1] तुलसीदासजी के समकालीन थे। उन्होंने किस आधार पर "द्वादश सुश्लोक लिखि, दीजे सर्ग द्वादश में, ताहि संग चलै जाकी ख्याति पात पात है" लिखा है

---

(१) इनके विषय में देखो श्रीयुत रामचंद्र शुक्ल-रचित हिंदी-साहित्य का इतिहास।

श्रीयुत George A. Grierson साहब के The Modern Vernacular Literature of Hindustan से ज्ञात होता है कि नाभादास अपरनाम नारायणदास दक्षिण के थे। ये डोम जाति के बताये जाते हैं। ये जन्म के प्रज्ञाचक्षु थे और पाँच वर्ष की अवस्था में इन्हें माँ-बाप वन में छोड़ चल दिए। अग्रदास और कील को यह बालक अनाथ अवस्था में मिला और वे उसे अपने मठ पर ले गए। वहीं इसको दीक्षा-शिक्षा प्राप्त हुई। नाभाजी ने व्रजभाषा में भक्तमाल ग्रंथ रचा। यह इस भाषा का कठिन ग्रंथ है। इस पर प्रियादासजी ने ई० सन् १७१२ में टीका लिखी। दूसरी उर्वसी नाम की टीका लालजी कायस्थ ने ई० सन् १७५१ में लिखी। ई० सन् १८५४ में तुलसीराम अग्रवाल ने इसका उर्दू भाषा में अनुवाद किया जिसका नाम भक्तमाल-प्रदीपन रखा। नाभाजी का जन्म १५५८ ई० में हुआ।

यह पता नहीं चलता। नाभाजी ने "राजा" शब्द का ही प्रयोग किया है। यदि राजा का नाम लिख देते तो कई बातों के अनुसंधान करने में बहुत सहायता मिलती। हम अभी तक इस बात का संतोषजनक निश्चय नहीं कर पाए हैं कि ये श्लोक किस नृपति के रचे हुए हैं। राजा को उड़ीसा का राजा होना चाहिए। यद्यपि उड़ीसा के इतिहास के विषय में अँगरेजी भाषा में तीन-चार महत्त्वपूर्ण ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं परंतु उनसे नाभाजी का संकेत किया हुआ राजा नहीं निश्चित होता। विद्वानों के विचारार्थ ये कतिपय पंक्तियाँ लिखी हैं। गीतगोविंद की रसिकप्रिया की दो और रसमंजरी की एक हस्तलिखित पुस्तक प्राप्त कर निर्णयसागर प्रेस ने इस ग्रंथ को छापा है। अन्य हस्तलिखित प्रतियों के मिलान से जो ज्ञात होगा वह फिर लिखा जायगा।

इस लेख के लिखने में वयोवृद्ध महामहोपाध्याय रायबहादुर पंडित गौरीशंकरजी ओझा, अजमेर तथा रायबहादुर पंडित काशीनाथजी दीक्षित, एम० ए० से जो सहायता और परामर्श प्राप्त हुआ, उसके लिये मैं उनका आभारी हूँ।

---

(४) अनुकृति

[लेखक—प्रो० लालजी शर्मा, एम० ए०, बी० टी०, काशी]

अनुकृति मनुष्य की उस मूल प्रवृत्ति का नाम है जिसके कारण वह दूसरों को किसी प्रकार का आचरण करते देख स्वयं भी उसी प्रकार का आचरण करने लगता है। अनुकृति एक प्रकार के निर्देश का कार्य है। निर्देश का प्रभाव विचारों पर पड़ता है, निर्देश देनेवाले के अनुसार पात्र के विचार बदल जाते हैं, पर अनुकृति में क्रिया की प्रधानता रहती है। किसी को कोई क्रिया करते देख स्वयं भी वैसी ही क्रिया करने लग जाना अनुकृति की प्रवृत्ति द्वारा ही होता है।

यह मूल प्रवृत्ति पशु-पक्षियों में भी पाई जाती है। जब एक भेड़ कोई मार्ग ग्रहण कर लेती है तब दूसरी भेड़ों को उसके पीछे जाने से रोकना कठिन हो जाता है। रात को जब एक सियार बोलना आरंभ करता है तब आसपास के सभी सियार बोलने लगते हैं। इसी प्रकार एक कुत्ते को भूँकते हुए देखकर दूसरे कुत्ते भी भूँकने लगते हैं। चिड़ियों का चहचहाना, उनका एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना इत्यादि अनेक कार्य अनुकृति के वश हुआ करते हैं। शुक और मैना में अनुकृति की प्रवृत्ति इतनी अधिक मात्रा में हुआ करती है कि वे मनुष्य के कार्य-कलापों का ही नहीं वरन् उनकी वाणी तक का यथेष्ट सफलतापूर्वक अनुकरण कर लेते हैं। बंदर अपनी अनुकृति की प्रवृत्ति के लिये प्रसिद्ध ही है। एक टोपी बेचनेवाले ने किस प्रकार उनकी इस प्रवृत्ति से लाभ उठाकर अपनी टोपियाँ लौटाईं, यह कहानी बहुत प्रसिद्ध है। कहने का तात्पर्य यह है कि समाज में रहनेवाले सभी

प्राणियों के दैनिक जीवन में अनुकृति का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसी के द्वारा पशु-पक्षियों के बच्चे बोलना, उड़ना, भोजन ढूँढ़ना, घातक प्राणी से अपनी रक्षा करना, जल में तैरना, घोंसला बनाना इत्यादि अनेक आवश्यक कार्य सीखते हैं। मनुष्य के जीवन-विकास में अनुकृति का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। पशु-पक्षियों के बच्चों के समान छोटे छोटे बालक-बालिकाओं में भी अनुकरण की प्रवृत्ति बड़ी प्रबल होती है। माँ इसी के द्वारा बालक को चलना, बोलना, खाना-पीना आदि सिखाती है। बालक भी दूसरों को देख देखकर अनेक क्रियाएँ सीख लेता है। बालक जो कार्य दूसरों को करते हुए देखता है, उसे स्वयं अपने मनबहलाव के लिये करने लग जाता है। श्रीमती मार्जरी न्यूमन 'बालहित' नामक पत्र में लिखती हैं :—"एक छोटी बालिका अपनी माँ को सिलाई करते हुए या भोजन पकाते हुए देखती है और फिर वह घर के एक कोने में बैठकर कल्पित अग्नि पर डिब्बों या कल्पित बर्तनों में घास या पत्तों की काल्पनिक तरकारी आदि व्यंजन बनाने लगती है। और कभी इधर-उधर से बटोरे हुए चिथड़ों को लेकर उन्हें सीने का उपक्रम करती है। एक छोटा बालक किसी किसान को हल चलाते हुए अथवा पशुओं को सँभालते हुए देखता है, वह किसी जुलूस या जलसे को देखता है और अपने खेलों में उनका अभिनय करता है। इसी तरह वह अपने बड़ों के कामों को भी नाटक के रूप में प्रदर्शित करता है।......इन खेलों से बालक को अपने आगे आनेवाले जीवन के कार्यों से अच्छा परिचय हो जाता है। जिस प्रकार एक बिल्ली का बच्चा अपने माता-पिता से शिकार खेलना सीखता है उसी प्रकार मनुष्य का बच्चा भी अपने माता-पिता अथवा बड़ों से कई प्रकार के विचार, कई तरह के काम, नियम-कानून इत्यादि सीखता है।

अनुकृति की प्रवृत्ति का प्रत्यक्ष कार्य अनुकरण है। यह दो प्रकार का होता है, ज्ञात और अज्ञात। ज्ञात अनुकरण में अनुकरण करनेवाले को अपने अनुकरण की क्रिया का ज्ञान रहता है अर्थात् वह क्रिया उसके विचार द्वारा संचालित होती है पर अज्ञात अनुकरण में ऐसा नहीं होता। यह एक प्रकार की अंध-प्रवृत्ति का कार्य होता है। अनुकरण करनेवाले को यह ज्ञान नहीं रहता कि मैं अनुकरण कर रहा हूँ। यह एक निर्देश की सूक्ष्म क्रिया का फल है। प्रत्येक छोटी या बड़ी घटना मन पर अपना संस्कार छोड़ जाती है और प्रत्येक संस्कार में कार्यशीलता होती है। संस्कार जितना ही अधिक प्रभावशाली होता है उतना ही वह आप ही आप क्रिया द्वारा अभिव्यक्त होंने को उद्यत रहता है। बालक अपने जीवन के अनेक कार्य इसी अज्ञात अनुकरण द्वारा सीखता है। हम देखते हैं कि हमारा बोलने का ढंग, हमारे वस्त्राभरण, वेष-भूषा आदि का चुनाव कमरे की सजावट इत्यादि कार्य दूसरों के अज्ञात अनुकरण मात्र हैं। अज्ञात अनुकरण एक ऐसी सहज क्रिया है जिसे करते समय मनुष्य उसे अपनी स्फूर्तिपूर्ण क्रिया समझकर करता है। यदि उसे यह ज्ञान हो जाय कि मैं अमुक कार्य करने में दूसरों का अनुकरण कर रहा हूँ तो संभवतः वह उसे करना छोड़ दे। जब हम किसी भीड़ को एक ओर जाते हुए देखते हैं तब हम भी अनायास उस ओर चल देते हैं। इस प्रकार हम भीड़ को और भी बढ़ा देते हैं। जब हम अपने साथियों को कोई खेल खेलते देखते हैं तो हम भी खेलने की चेष्टा करने लगते हैं। किसी को तबला बजाते देखकर हमारा भी हाथ या पाँव वही गत बजाने लग जाता है। विगत महायुद्ध के समय अमेरिका में बहुत सी ऐसी फिल्में दिखाई गई थीं जिससे लोगों में युद्ध के भावों का प्रचार हो और दर्शक फिल्म में देखे हुए पात्रों के समान स्वयं

भी कार्य करने लग जायँ। बंबई की सरकार ने कांग्रेस की फिल्म को प्रकाशित नहीं होने दिया क्योंकि अज्ञात अनुकरण की प्रवृत्ति के कारण लोगों में उसी प्रकार की भावनाएँ भर जाने और वैसा ही कार्य करने की इच्छा होने की आशंका थी। यदि कोई मनुष्य बार-बार चोरी के दृश्य देखता जाय तो निश्चय ही वह चोर बन जायगा। अभी हाल ही में एक लड़का साइकिल की चोरी में पकड़ा गया। जब उससे पूछा गया कि उसने चोरी कब और कैसे सीखी तो उसने उत्तर दिया कि सिनेमा में चोरी करने का ढंग देखकर मुझे चोरी करने की इच्छा हुई। यह सब अज्ञात अनुकरण का परिणाम है।

ज्ञात अनुकरण में मनुष्य जब अनुकृत व्यक्ति तथा क्रिया को ठीक-ठीक जान लेता है तब वह अपने इच्छानुसार उसी तरह का आचरण करने की चेष्टा करता है। इसमें आदर्श को सदा ध्यान में रखना आवश्यक होता है। शब्दों का उच्चारण, लिखना-पढ़ना, गाना-बजाना, अनेक कलाएँ, हाथ की कारीगरी के काम जैसे सीना-बुनना, नक्काशी करना, चित्र बनाना इत्यादि मनुष्य ध्यानपूर्वक दूसरों का अनुकरण करने से सीखता है। अनुकृत व्यक्ति को आदर्श मानकर अनुकरण करनेवाला व्यक्ति अनुक्रियमाण क्रिया में अथवा कार्य में उसकी समता प्राप्त करने का यत्न करता है।

ज्ञात अनुकरण भी दो प्रकार के होते हैं। एक को हम दीन अनुकरण कह सकते हैं और दूसरे को स्वाभिमानी अनुकरण। पहले प्रकार के अनुकरण में अनुकारी व्यक्ति अनुकृत व्यक्ति के प्रति श्रद्धाभाव रखता है और उसे अपना आदर्श मानकर चलता है। वह उसके समान बन जाने में ही अपना गौरव समझता है। अतएव वह अनुकृत व्यक्ति की बहुत सी ऐसी क्रियाएँ भी करने लग जाता है जिनका वह स्वयं अर्थ नहीं समझता अथवा

जिनका महत्त्व अनुकृत व्यक्ति के जीवन में तो है पर अनुकरण करनेवाले के जीवन में नहीं। जैसे बहुत से हिंदुस्तानी साहब लोगों की नकल करके गलत हिंदी बोलने लग जाते हैं—"टुम क्या कहने माँगटा है", "हम बाहर जाने माँगटा है" इत्यादि। इसी प्रकार नेता बनने के इच्छुक लोग किसी बड़े देशभक्त नेता के रहन-सहन एवं खान-पान के ढंगों का अनुकरण करने लगते हैं। इसमें दीन अनुकरण का कार्य है। लार्ड बायरन के एक पैर में कुछ दोष था, जिससे वह लँगड़ाकर चलता था। उसकी देखा-देखी उस समय के नवयुवकों में लँगड़ाकर चलना एक फैशन हो गया था। सिकंदर की गर्दन कुछ टेढ़ी थी; अतएव उसकी सभा के सब लोग टेढ़ी गर्दन करके चलते थे। इसी प्रकार भारतवर्ष के निवासियों में नेकटाई लगाना, टोप (हैट) पहनना तथा अँगरेजी भाषा बोलने में ठीक अँगरेजों जैसा उच्चारण करने की चेष्टा करना दीन अनुकरण के कार्य हैं। यह एक प्रकार की मानसिक दासता है जो कुछ काल तक जीवनविकास के लिये अति उपयोगी है, पर अधिक काल तक रहने से यह मनुष्य के मन को दृढ़ शृंखलाओं से जकड़े रहती है।

स्वाभिमानपूर्ण अनुकरण मानसिक दासता की स्थिति नहीं है। इसमें अनुकरण करनेवाला व्यक्ति अनुकृत व्यक्ति की क्रियाओं का बिना समझे बूझे अनुकरण नहीं करता। अनुकरण करनेवाला अपने को योग्य व्यक्ति मानता है; पर साथ ही दूसरों से सीखने के लिये तैयार भी रहता है। वह अपने लाभ की वस्तु किसी से भी ग्रहण करने को उद्यत रहता है। जब एक विद्यार्थी किसी दूसरे विद्यार्थी को किसी विषय में अधिक नंबर पाते देखकर अपनी पढ़ाई का ढंग उस विद्यार्थी के समान बना लेता है तब वह उसका अनु-करण अवश्य करता है; पर वह उस विद्यार्थी को अपने से बड़ा

नहीं मानता। उसमें जो गुण हैं केवल उन्हीं को ग्रहण करने की चेष्टा करता है, उसके दोषों को नहीं। महात्मा गांधी ने अँगरेजों का अनुकरण उनकी समय-पाबंदी के लिये, पं० मदनमोहन मालवीय ने उनकी देश-भक्ति के लिये तथा पं० जवाहरलाल नेहरू ने उनकी स्वातंत्र्य-प्रियता के लिये किया। ऐसा अनुकरण सराहनीय है। इससे मनुष्य का जीवन विकसित और पूर्ण होता है। इसमें व्यक्ति-विशेष पर कोई श्रद्धा नहीं रहती वरन गुण-विशेष पर दृष्टि रहती है। इस प्रकार का अनुकरण करनेवाला मनुष्य लकीर का फकीर नहीं होता; वह सर्वदा गुणग्राही होता है। उसमें प्रतिद्वंद्विता का भाव छिपा रहता है। अनुकरण करनेवाले को विश्वास रहता है कि मैं कुछ काल के अभ्यास के अनंतर अनुकृत व्यक्ति से अधिक बढ़ जाऊँगा।

स्पर्धा भी अनुकृति की प्रवृत्ति का एक स्वरूप है। स्पर्धा में एक ही प्रकार के कार्य में एक व्यक्ति दूसरे से आगे बढ़ने का यत्न करता है। एक पढ़नेवाला बालक दूसरे पढ़नेवाले बालक से आगे बढ़ने का यत्न करता है। एक तैराक दूसरे तैराक से आगे बढ़ने का उद्योग करता है। इसी प्रकार एक चित्रकार दूसरे चित्रकार से बढ़कर चित्र बनाने की कोशिश करता है। इन सब कार्यों में अनुकरण की प्रवृत्ति छिपी हुई है; अथवा यों कहें कि ये उसके विकसित रूप हैं।

व्यक्तिविकास में स्पर्धा का कितना महत्त्वपूर्ण स्थान है, इसे प्रत्येक अनुभवी व्यक्ति जानता है। यदि स्पर्धा न रहे तो बालक आगे बढ़ने की चेष्टा ही न करें। बालकों को कक्षा में उनके प्राप्तांक सुना दिए जाते हैं जिससे सब बालक एक दूसरे से आगे बढ़ने की चेष्टा करें। जब जीवन में स्पर्धा के लिये स्थान नहीं रहता तब जीवन निःसार रूप प्रतीत होने लगता है। स्पर्धा

अनुकृति और द्वंद्व बुद्धि का सम्मिश्रण है। जब द्वंद्व-बुद्धि अधिक प्रबल हो जाती है तब स्पर्धा का स्वरूप नष्ट हो जाता है और वह ईर्ष्या का रूप धारण कर लेती है।

ऊपर हमने दो प्रकार के अनुकरण बताए हैं—ज्ञात और अज्ञात। कोई कोई लेखक अनुकरण के कार्यों को स्फूर्तिपूर्ण और ध्यानपूर्ण अनुकरण के नाम से दो भागों में विभक्त करते हैं। स्फूर्तिपूर्ण अनुकरण एक सहज क्रिया है। जब हम किसी व्यक्ति को एक कार्य करते देखते हैं तब स्वयं भी वैसा करने लग जाते हैं, जैसे एक आदमी को गाते देख हम स्वयं भी गाने लग जाते हैं—तबला बजाते हुए व्यक्ति की गति को देख सारी सभा के लोग तबलची बन जाते हैं। यह कार्य ज्ञात और अज्ञात दोनों प्रकार से होता है। बहुत से लोगों को गंगा-स्नान के लिये जाते देख एक बालक भी उसकी तैयारी करने लगता है। दूसरों को कसरत करते देख स्वयं भी कसरत करने की चेष्टा करता है। ये कार्य सहज क्रिया के फल हैं। परंतु ये ज्ञात अनुकरण हैं। ध्यानपूर्वक किए गए सभी अनुकरण ज्ञात अनुकरण होते हैं। ध्यानपूर्वक अनुकरण वे हैं जिनमें निश्चय की प्रधानता होती है और मन को दूसरे विषयों से अलग कर अनुकृत पदार्थ की ओर लगाना पड़ता है। बच्चों का पढ़ना-लिखना सीखना, कारीगरी का काम सीखना तथा अन्य प्रकार के सामाजिक नियम आदि सीखना इसी के प्रतिफल हैं।

कुछ विद्वानों के मत से एक तीसरे प्रकार का अनुकरण भी होता है। इसे विपरीत अनुकरण कहते हैं। विपरीत अनुकरण वह क्रिया है जिसमें अनुकरण करनेवाला व्यक्ति अनुकृत व्यक्ति के ठीक विपरीत आचरण करता है। जैसे यदि अनुकृत व्यक्ति टोपी या साफा पहनता है तो अनुकरण करनेवाला नंगे सिर

चलेगा। यदि एक लंबी धोती पहनता है तो दूसरा लुंगी पहनेगा। जिन व्यक्तियों या स्थानों को एक श्रद्धा की दृष्टि से देखता है दूसरा उन्हीं को घृणा की दृष्टि से देखेगा। इस प्रकार की अनुकृति से अनेक समाज अपना संगठन दृढ़ रखते हैं। यदि विपरीत अनुकरण की यह क्रिया अपना काम न करे तो वे आस-पास के समाजों में संहत अनुकरण के कारण विलीन हो जायँ। पर इस प्रवृत्ति के कारण वे दूसरों से अपना पार्थक्य स्थापित रखते हैं। एक अँगरेज के रहन-सहन का ढंग एक फ्रांसीसी के रहन-सहन से भिन्न होगा। वह अपने रहन-सहन में कुछ न कुछ अंतर केवल इसलिये डाल देगा कि दूसरे लोगों से वह भिन्न दिखाई पड़े। एक मुसलमान हिंदू जैसा पहनावा नहीं पहनेगा और आचार-व्यवहार भी वैसा नहीं रखेगा, क्योंकि यदि वह ऐसा करने लग जाय तो बहुसंख्या वाले समाज में वह अपना अस्तित्व नहीं रख सकेगा और उसमें विलीन हो जायगा। थोड़ी मात्रा में इस प्रवृत्ति का रहना प्रत्येक समाज के लिये आवश्यक है। इसके कारण बालकों में अपने स्कूल के प्रति श्रद्धाभाव बना रहता है तथा एक देश के निवासियों में एकत्व और राष्ट्रीयता की भावना प्रबल होती है। परंतु जब यह प्रवृत्ति अधिक मात्रा में बढ़ जाती है तब एक बीमारी का रूप धारण कर लेती है और इससे समाज को भारी हानि होने की आशंका रहती है। ऐसा समाज दूसरे समाज के गुणों को ग्रहण नहीं करता और उसमें वह शक्ति नहीं आती जो दूसरों की अच्छी बातें सीखने से आती है। अनुकरण की क्रिया के तीन नियम बड़े महत्त्व के हैं। पहला नियम यह है कि अनुकरण की गति ऊपर से नीचे की ओर होती है न कि नीचे से ऊपर को। जो लोग बल, विद्या अथवा आयु में बड़े होते हैं उनका अनुकरण उनसे कम बल, विद्या अथवा आयुवाले करते हैं। प्रौढ़ लोगों का

अनुकरण युवक किया करते हैं और युवकों का प्रायः बालक। विद्वानों का अनुकरण साधारण पढ़े-लिखे लोग करते हैं और बलवानों का अनुकरण उनसे कम बलवाले। जिस प्रकार व्यक्तियों में इस नियम की व्याप्ति पाई जाती है उसी प्रकार जातियों और समाजों में भी। मुसलमान शासकों के समय में मुसलमानों का अनुकरण शासित हिंदुओं ने किया था। इसी प्रकार ब्रिटेन-निवासियों ने रोमवालों की भाषा, धर्म तथा रहन-सहन और रीति-रवाजों का अनुकरण किया था। यदि किसी देश के नेता अपना आचरण तथा रहन-सहन विशेष प्रकार का बना लें तो उस देश के अनेक साधारण लोग उसी प्रकार के आचरण और रहन-सहन बनाने का यत्न करते हैं। अध्यापक जैसा कपड़ा पहनता है, जैसी भाषा बोलता है, जैसा उच्चारण करता है उसी प्रकार के कपड़े पहनने, भाषा बोलने और उच्चारण करने की प्रवृत्ति उसके विद्यार्थियों में पाई जाती है। इसी लिये शिक्षक तथा नेता को चाहिए कि जिन बातों को वे अपने विद्यार्थियों तथा अनुयायियों को सिखाना चाहते हैं उनको स्वयं अपने जीवन में परिणत कर लें। केवल मौखिक उपदेश से काम नहीं चलता। जब तक कोई बात व्यवहार में नहीं लाई जाती तब तक दूसरों पर उसका प्रभाव अधूरा ही रह जाता है।

"यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरे जनाः।
स यत् प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥"

आचरण का प्रभाव ही स्थायी होता है। जैसा श्रेष्ठ पुरुष आचरण करता है वैसा ही दूसरे लोग भी करने लगते हैं। जो शिक्षक स्वयं समय पर काम नहीं करता वह अपने विद्यार्थियों को समय की पाबंदी कभी नहीं सिखा सकता। जो बीड़ी-सिगरेट या भंग पीता है वह अपने बालकों को इन लतों से कभी नहीं बचा सकता।

चलेगा। यदि एक लंबी धोती पहनता है तो दूसरा लुंगी पहनेगा। जिन व्यक्तियों या स्थानों को एक श्रद्धा की दृष्टि से देखता है दूसरा उन्हीं को घृणा की दृष्टि से देखेगा। इस प्रकार की अनुकृति से अनेक समाज अपना संगठन दृढ़ रखते हैं। यदि विपरीत अनुकरण की यह क्रिया अपना काम न करे तो वे आस-पास के समाजों में संहत अनुकरण के कारण विलीन हो जायँ। पर इस प्रवृत्ति के कारण वे दूसरों से अपना पार्थक्य स्थापित रखते हैं। एक अँगरेज के रहन-सहन का ढंग एक फ्रांसीसी के रहन-सहन से भिन्न होगा। वह अपने रहन-सहन में कुछ न कुछ अंतर केवल इसलिये डाल देगा कि दूसरे लोगों से वह भिन्न दिखाई पड़े। एक मुसलमान हिंदू जैसा पहनावा नहीं पहनेगा और आचार-व्यवहार भी वैसा नहीं रखेगा, क्योंकि यदि वह ऐसा करने लग जाय तो बहुसंख्या वाले समाज में वह अपना अस्तित्व नहीं रख सकेगा और उसमें विलीन हो जायगा। थोड़ी मात्रा में इस प्रवृत्ति का रहना प्रत्येक समाज के लिये आवश्यक है। इसके कारण बालकों में अपने स्कूल के प्रति श्रद्धाभाव बना रहता है तथा एक देश के निवासियों में एकत्व और राष्ट्रीयता की भावना प्रबल होती है। परंतु जब यह प्रवृत्ति अधिक मात्रा में बढ़ जाती है तब एक बीमारी का रूप धारण कर लेती है और इससे समाज की भारी हानि होने की आशंका रहती है। ऐसा समाज दूसरे समाज के गुणों को ग्रहण नहीं करता और उसमें वह शक्ति नहीं आती जो दूसरों की अच्छी बातें सीखने से आती है। अनुकरण की क्रिया के तीन नियम बड़े महत्त्व के हैं। पहला नियम यह है कि अनुकरण की गति ऊपर से नीचे की ओर होती है न कि नीचे से ऊपर को। जो लोग बल, विद्या अथवा आयु में बड़े होते हैं उनका अनुकरण उनसे कम बल, विद्या अथवा आयुवाले करते हैं। प्रौढ़ लोगों का

अनुकरण युवक किया करते हैं और युवकों का प्रायः बालक। विद्वानों का अनुकरण साधारण पढ़े-लिखे लोग करते हैं और बलवानों का अनुकरण उनसे कम बलवाले। जिस प्रकार व्यक्तियों में इस नियम की व्याप्ति पाई जाती है उसी प्रकार जातियों और समाजों में भी। मुसलमान शासकों के समय में मुसलमानों का अनुकरण शासित हिंदुओं ने किया था। इसी प्रकार ब्रिटेन-निवासियों ने रोमवालों की भाषा, धर्म तथा रहन-सहन और रीति-रवाजों का अनुकरण किया था। यदि किसी देश के नेता अपना आचरण तथा रहन-सहन विशेष प्रकार का बना लें तो उस देश के अनेक साधारण लोग उसी प्रकार के आचरण और रहन-सहन बनाने का यत्न करते हैं। अध्यापक जैसा कपड़ा पहनता है, जैसी भाषा बोलता है, जैसा उच्चारण करता है उसी प्रकार के कपड़े पहनने, भाषा बोलने और उच्चारण करने की प्रवृत्ति उसके विद्यार्थियों में पाई जाती है। इसी लिये शिक्षक तथा नेता को चाहिए कि जिन बातों को वे अपने विद्यार्थियों तथा अनुयायियों को सिखाना चाहते हैं उनको स्वयं अपने जीवन में परिणत कर लें। केवल मौखिक उपदेश से काम नहीं चलता। जब तक कोई बात व्यवहार में नहीं लाई जाती तब तक दूसरों पर उसका प्रभाव अधूरा ही रह जाता है।

"यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरे जनाः।
स यत् प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥"

आचरण का प्रभाव ही स्थायी होता है। जैसा श्रेष्ठ पुरुष आचरण करता है वैसा ही दूसरे लोग भी करने लगते हैं। जो शिक्षक स्वयं समय पर काम नहीं करता वह अपने विद्यार्थियों को समय की पाबंदी कभी नहीं सिखा सकता। जो बीड़ी-सिगरेट या भंग पीता है वह अपने बालकों को इन लतों से कभी नहीं बचा सकता।

अनुकरण की गति का दूसरा नियम यह है कि अनुकरण का कार्य सदा भीतर से बाहर की ओर होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि अनुकृत क्रिया का अनुकरण करनेवाले के मन पर बार बार संस्कार पड़ना अथवा संस्कार का ग्रहण होना आवश्यक है तभी वह व्यक्ति अनुकरण के कार्य में परिणत होता है। हमारी समस्त शारीरिक चेष्टाएँ मन द्वारा नियंत्रित रहती हैं। जिस प्रकार के विचार हमारे मन में उठा करते हैं उसी प्रकार का हमारा आचरण हुआ करता है। जिस व्यक्ति को लोग श्रद्धा की दृष्टि से नहीं देखते उसका अनुकरण कोई नहीं करता। जिस काम को करने की हमारी मानसिक तैयारी नहीं रहती उसे हम कदापि नहीं करते। पाठकों ने देखा होगा कि बड़े बड़े स्टेशनों पर 'पेयर्स सोप' तथा "स्वान इंक" के विज्ञापन बड़े बड़े अक्षरों में लिखे हुए टँगे रहते हैं। इन विज्ञापनों को देखकर हमारा मन उन वस्तुओं को प्राप्त करने तथा विज्ञापनों में दिखाए गए चित्रों का अनुकरण करने का इच्छुक होता है। इस प्रकार विज्ञापनदाताओं का स्वार्थ सिद्ध होता है। कोई भी मनुष्य दूसरों का अनुकरण एका-एक नहीं करने लगता। उसके लिये बहुत समय की तैयारी की आवश्यकता होती है। कई दिनों के संचित संस्कार उसे अनुकरण करने को उद्यत करते हैं।

अनुकरण की गति का तीसरा नियम उसकी संक्रामकता है अर्थात् अनुकरण एक छूत के रोग की तरह है। अनुकरण करने-वालों की संख्या दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ती है। यदि कोई विप-रीत भावना इसका घोर विरोध न करे तो यह समस्त संसार में फैल जाती है। सिगरेट का पीना, तरह तरह के फैशन का प्रचार और क्रीम तथा पाउडर लगाना इसी प्रकार संसार में फैले। इसलिये यदि कोई बुराई समाज में घुस जाय तो हमें अविलंब

उसका दमन करना चाहिए नहीं तो संक्रामक रोग की तरह सारा समाज उसका शिकार हो जायगा। जिस प्रकार आग की एक छोटी सी चिनगारी एक बड़े नगर को जला डालती है उसी प्रकार एक छोटी सी नगण्य बुराई अनुकरण की संक्रामकता से समाज में फैलकर उसे नष्ट करने में समर्थ हो जाती है। जो शिक्षक अपनी कक्षा में नियमबद्धता चाहता है उसे चाहिए कि वह पहले नियम तोड़नेवाले को कभी न क्षमा करे। यदि आरंभ में ही नियम तोड़नेवाले को क्षमा दान मिला तो अन्य बालकों में नियम-विरुद्ध आचरण करने की प्रवृत्ति को घर करते देर न लगेगी। जो राजा अपनी सत्ता को स्थिर रखना चाहता है वह एक ही क्रांतिकारी की खोज में लाखों रुपये खर्च कर डालता है। यदि वह उस एक क्रांतिकारी का दमन नहीं कर पाता तो एक न एक दिन उसे अपना राज्य खोना पड़ता है अथवा एक बड़े भारी विद्रोह का सामना करना पड़ता है। मेजिनी अकेला ही व्यक्ति था जब उसने इटली की स्वतंत्रता का संकल्प किया था। परंतु शीघ्र ही उसके पाँच अनुयायी हो गए। आस्ट्रिया का साम्राज्य उनका नाश नहीं कर पाया। वरन् उन्हें तुच्छ समझकर उनके प्रति उदासीनता दिखाता रहा, पर यही लोग "ज्योमेट्रिकल प्रोग्रेशन" की भाँति दिन दूने रात चौगुने बढ़ते गए और फिर एक दिन आस्ट्रिया का अधिकार इटली पर से उठ गया। इसी प्रकार शिवाजी अकेला व्यक्ति था जिसने मुगल साम्राज्य का नाश करने की ठानी थी परंतु देखते-देखते समस्त भारत में मुसलमानों के विरोधी उत्पन्न हो गए और उनकी बनी बनाई सत्ता मिट गई। प्रत्येक क्रांतिकारी आंदोलन अनुकरण की संक्रामकता से ही सफल होता है। स्कूलों और कालेजों में हड़ताल किस प्रकार देखते देखते हो जाती है इसका अनुभव पाठकों को भली भाँति होगा।

यहाँ एक दूसरा ऐतिहासिक उदाहरण देना अनुपयुक्त न होगा। रोम साम्राज्य का एक शासक सीरिया का अधिकारी था। वहाँ यह नियम था कि सब लोग राजा की मूर्ति का आदर करें। जो उसकी मूर्ति का निरादर करता था उसे फाँसी का दंड होता था। ईसाई मत के माननेवाले एक संत ने राजा की मूर्ति की पूजा करना पाप बताया और उसका निरादर किया। फल यह हुआ कि वह पकड़कर कारागार में डाल दिया गया और उसे खुले आम फाँसी दिए जाने का हुक्म सुनाया गया। वह संत फाँसी पर लटकने नहीं पाया था कि नगर के दूसरे लोगों ने भी उसी प्रकार मूर्ति का निरादर किया और उसके फलस्वरूप उन्हें भी फाँसी का हुक्म हुआ। इसी प्रकार की देखादेखी नगर के सब लोग संत का अनुकरण करने लगे। उन लोगों के मन में यह बात घर कर गई थी कि जो व्यक्ति अपने धर्म के लिये मरता है उसे स्वर्ग मिलता है। बस फिर क्या था, जैसे जैसे वह रोमन शासक लोगों को फाँसी पर लटकाता गया वैसे वैसे फाँसी पर लटकनेवालों की संख्या बढ़ती गई। अंत में वह तंग आ गया और उसने लोगों से कहा कि "यदि तुम मरने के लिये इतने उत्सुक हो तो पहाड़ से गिरकर क्यों नहीं मर जाते? मैं तुम्हें कहाँ तक फाँसी पर लटकाऊँ?"[1] आरंभ में इसी प्रकार ईसाई धर्म का प्रचार हुआ।

एक व्यक्ति को वीरता के साथ मरते देखकर हजारों मरने को तैयार हो जाते हैं। इसी प्रकार एक प्रतिष्ठित व्यक्ति अथवा नायक को लड़ाई से भागते देखकर सारी सेना भाग खड़ी होती

(1) "You wretch! if are so anxious to die seek ropes and precipices." Signobos--Medieval civilization,

है। अनंगपाल की हार का कारण भारतीय इतिहास के विद्यार्थी भली भाँति जानते हैं। यही कारण है कि यूरोपवालों—विशेष कर अँगरेजों—के सैनिक नियम बड़े कठोर होते हैं। उनके यहाँ लड़ाई से भागनेवाले सैनिक को मारशल कोर्ट तुरंत गोली से मार डालने की आज्ञा करती है। यदि ऐसा न किया जाय तो अनुकरण की संक्रामक गति के अनुसार सारी सेना भाग खड़ी हो। ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे भली भाँति स्पष्ट हो गया होगा कि अनुकरण का समाज में क्या स्थान है। इसी के द्वारा पुरानी संस्कृति और साहित्य की रक्षा होती है। किसी देश अथवा जाति या समाज के एक काल के लोगों के अनुभव से दूसरे देश अथवा कालवाले लोग लाभ उठाते हैं। नए-नए विचारों का प्रचार भी इसी प्रवृत्ति के कारण हुआ करता है। विलियम जेम्स कहते हैं कि "अनुकरण और आविष्कार मनुष्य-समाज के दो पैर हैं जिनसे वह सदा चलता आया है।" समाज की उन्नति और रक्षा के लिये दोनों ही आवश्यक हैं। आविष्कार के बिना अनुकरण की प्रवृत्ति मनुष्य को जड़ता की ओर ले जाती है। समाज सदा पुरानी रूढ़ियों से ग्रस्त होने के कारण उन्नतिशील नहीं होता। पर जिस समाज में अनुकरण करना बुरा माना जाता है उसका संगठन शिथिल हो जाता है और लोग किसी काम को मिलकर नहीं कर पाते। यदि समाज के सभी व्यक्ति आविष्कार पर निर्भर रहने लगें और अनुकरण से कोई लाभ न उठावें तो समाज में कोई नेता नहीं रह जाता और सब लोग अपनी अपनी डफली अपना अपना राग अलापने लगते हैं और ऐसा समाज कभी उन्नति की ओर अग्रसर नहीं होता।

उन्नत समाज के लोग विचारपूर्वक दूसरों का अनुकरण करते हैं। अन्ध अनुकरण की प्रवृत्ति को रोकते हैं। जापान-

वाले यूरोपवालों के बल का अनुकरण कर स्वयं उन्हीं के समान शक्तिशाली हो गए। ऐसे उन्नत राष्ट्रों के लोग एक ऐसे व्यक्ति को—जिसमें बुद्धिबल, सेवाभाव और त्याग की मात्रा होती है—अपना नेता मानकर उसका अनुकरण करते हैं।

एक सभ्य समाज अपनी पुरानी सभ्यता की अच्छी अच्छी बातों की रक्षा किस प्रकार करता है इसका उदाहरण हम समाज की कारीगरी, कला-कौशल, साहित्य तथा रीति-रवाजों में देखते हैं। जो त्योहार किसी समाज के पुराने लोग मानते आए हैं उसे आज भी लोग मानते हैं। फ्रांस की राज्यक्रांति के समय क्रांतिकारियों ने गुलामी के काल से पूरा संबंध तोड़ देने अथवा उसे भूल जाने के उद्देश्य से सब रीति-रवाजों को बदल देने का प्रयत्न किया था। प्राचीन काल से एक मास में चार सप्ताह होते और हैं परंतु फ्रांस के क्रांतिकारियों ने मास को तीन सप्ताहों में बाँटा। इसी प्रकार प्रत्येक महीना ३० दिन का माना। ईसा के सन् को मिटाकर नया संवत् चलाया। महीनों के नाम नए रख दिए, नए नए माप और पैमाने निकाले। कहने का तात्पर्य यह है कि अपनी शक्ति भर प्राचीनता का नाम-निशान मिटा देने का पूरा यत्न किया पर मनुष्य की अनुकरण की प्रवृत्ति ने प्राय: इन सबों को फिर से वापस बुला लिया। कोई भी समाज अपना निर्माण नए सिरे से नहीं कर सकता। पुरानी सभ्यता और संस्कृति पर ही नई सभ्यता की नीव पड़ती है।

उपर्युक्त कथन से यह सिद्ध होता है कि अनुकरण करने की प्रवृत्ति मनुष्य के जीवन के लिये उतनी ही लाभकारी है जितनी आविष्कार-बुद्धि तथा आविष्कार बुद्धि का लाभ भी वह समाज नहीं उठा सकता है जिसमें अनुकरण करने की प्रवृत्ति की निंदा नहीं की जाती। अनुकरण की संक्रामकता के कारण अनेक नए-नए

आविष्कारों का देश में थोड़े ही समय में प्रचार हो जाता है। इस प्रकार समाज नई-नई बातें सीखता है। टार्डो महोदय ने समाज-संगठन का मुख्य कारण अनुकरण की प्रवृत्ति बताकर कोई भूल नहीं की थी। समाज-संगठन में दूसरी शक्तियों का भी कार्य होता है पर अनुकरण की प्रवृत्ति का स्थान कुछ कम महत्त्व-पूर्ण नहीं है।

——

(५) गढ़वाली भाषा के 'पखाणा' (कहावतें)

[लेखक—श्री शालिग्राम वैष्णव, कर्णप्रयाग, गढ़वाल]

प्रस्तावना

किसी भी भाषा की कहावतें उस भाषा तथा उसके भाषियों की अमूल्य निधि हैं। क्योंकि समस्त जाति के व्यावहारिक अनुभवों का सार खिंचकर कहावतों में आ जाता है। जीवन का कोई क्षेत्र ऐसा नहीं जो भाषा के मंदिर में लोकोक्तियों की भेंट न चढ़ा जाता हो। जीवन-व्यापार से संबंध रखनेवाले विशेष कौशलों से सबकी जानकारी नहीं हो सकती। परंतु जीवन-व्यापार के प्रत्येक विभाग में विशेष कौशलों से भिन्न बहुत से ऐसे अनुभव भी प्राप्त होते रहते हैं जो सर्वसाधारण की मानसिक सत्ता के अंग होकर उसकी संपन्नता को बढ़ा सकते हैं। ये ही अनुभव कहावतों का रूप धारण करते हैं।

लोकानुभव प्रायः घटना-मूलक होता है। कोई घटना घटित होती है और हमें अनुभव दे जाती है। हम देख पाएँ, चाहे न देख पाएँ, मानव जाति के प्रत्येक अनुभव के पीछे कोई घटना अवश्य छिपी होती है। इसलिये प्रत्येक कहावत के पीछे भी एक छोटी-मोटी कहानी छिपी रहती है, जिसका वह संकेत देती है। यही कारण है कि कहावत को गढ़वाली भाषा में 'अखाणो*' या 'पखाणो*' (—एकवचन; ब० व०—'अखाणा',

* गढ़वाली भाषा अधिकतर 'ओ-कार'-बहुला है। इस संबंध में ब्रज-भाषा से उसका मेल है। यह ओ-कार-बहुलता उसे राजस्थानी से दान में मिली है।

'पखाणा') कहते हैं। अखाणो आख्यान से बना है और पखाणो उपाख्यान से।

परंतु घटना-मूलक होने पर भी कहावत 'कहावत' है। हर घड़ी की बातचीत में अथवा साहित्यिक रचनाओं में पद पद पर सारी कहानी बार बार नहीं दुहराई जा सकती। हाँ कहावत के द्वारा उसका संकेत दे दिया जा सकता है। इसी से गढ़वाली भाषा में कहावत को 'आणो*' (एकवचन; ब० व०—'आणा') तथा संस्कृत में आभाणक कहते हैं। आणो और आभाणक एक ही हैं। आभाणक ही आणो हो गया है। (आभाणक, आहाणअ, आआणअ, आणा+ओ, आणो।) इसमें मूल धातु भण् है जिसका अर्थ होता है 'कहना'।

परंतु यह कहना होना चाहिए चतुराई भरा हुआ। अनुभव तो बहुत आदमियों को हो सकता है परंतु उसे कहावत बनाता है किसी एक वाक्यपटु का चतुराई भरा कहना (उक्ति-चातुर्य) ही। लार्ड रसेल ने इसी अर्थ में कहावत को 'बहुतों की बुद्धिमानी और एक की चतुराई' ('दि विज़्डम ऑव मैनी एँड दि विट् ऑव् वन्') कहा था। सब की संपत्ति बनने योग्य कोई लोकानुभव अथवा लौकिक सत्य जब किसी एक व्यक्ति की चतुरता से सबको आकर्षित कर सकनेवाला रूप प्राप्त कर लेता है, तब कहावत का जन्म होता है। बिना चटपटेपन के कहावत कहावत नहीं। उक्ति की चतुराई ही कहावत को चटपटी बनाती है। कहावत का एक बार जन्म हो जाने पर चटपटापन ही उसे चलता बनाए रखता है। सुननेवाले उचित अवसर आने पर उसे फिर फिर व्यवहार करने की इच्छा करते हैं और कहावत चल पड़ती है। नई नई कहावतें बराबर पैदा होती रहती हैं।

जन्म हो जाने पर भी कहावत का नामकरण तब तक नहीं हो सकता जब तक वह चल नहीं पड़ती। किसी उक्ति में अनुभव भरा है, वह चटपटी भी है, परंतु हो सकता है कि वह लोगों की आँखों में न आई, अथवा कानों में न पड़ी हो, और इस कारण उसका प्रचार न हुआ हो। ऐसी दशा में वह कहावत न कहायगी क्योंकि कहावत उक्ति मात्र नहीं है, लोक की उक्ति है, इसी से उसे 'लोकोक्ति' कहते हैं। कहावत एक आदमी के कहने से नहीं होती, लोक के स्वीकार करने से, लोक में प्रचार पाने से होती है। जब तक लोग उसे **प्रायः बोलने नहीं लगते** तब तक वह कहावत लोकोक्ति अथवा प्रायोवाद नहीं कही जा सकती। संस्कृत के 'प्रायोवाद'[१] का जो अभिप्राय है, वही अँगरेजी के 'प्रौ-वर्ब'[२] का।

इसके अतिरिक्त कहावत स्वभावतया छोटी होती है। इससे उसको लोगों की जबान पर चढ़ने में आसानी होती है। भारी भरकम वाक्यों को याद रखना कठिन होता है। इसीसे छोटी छोटी उक्तियाँ ही कहावतों का स्थान प्राप्त कर सकती हैं। चटपटेपन के योग में कहावत का छोटापन (लाघव) उसके सारे प्रभाव को एकमुख कर उसे नुकीला बना देता है, वह चुभनेवाली हो जाती है। समझाने के जिस ढङ्ग में बातों का विस्तार होता है, उसमें प्रभाव भी फैलकर निर्बल पड़ जाता है। इसलिए उसमें की बातें बहुधा चिकने घड़े पर पड़ती हैं। बड़ी बड़ी बातों को सुनने-पढ़ने के लिये आदमी सचेत होकर जाता है। यह सचेतनता भी उनके प्रभाव में बाधक होती है। परंतु कहावत अचानक

---

(१) संस्कृत में प्रवाद भी इस अर्थ में प्रयुक्त होता है, किंतु हिंदी में वह दूसरे अर्थ में रूढ़ हो गया है।

(२) Pro-verb.

अप्रत्याशित रूप से आती है और अपना काम कर जाती है। व्याख्यान और उपदेशों की रमणीयता तथा उनके प्रभाव को कहावत बढ़ा देती है।

उक्ति का एक रमणीय स्वरूप दूसरा भी है जिसे सूक्ति अथवा सुभाषित कहते हैं। लोकोक्ति को समझने के लिये सूक्ति और उसका भेद समझना आवश्यक है। सूक्ति चमत्कार-भरी उक्ति को कहते हैं। सूक्तियाँ अधिकतर पद्य में ढूँढ़ी जाती हैं। इसका कारण यही है कि हमारा प्राचीन साहित्य प्रायः पद्य में ही है। परंतु पद्यमय होना सूक्ति का आवश्यक गुण नहीं है। गद्य में भी सूक्तियाँ हो सकती हैं और होती हैं। सूक्ति में गद्य और पद्य का भेद नहीं मानना चाहिए। सूक्ति का चमत्कार-भरा होना ही काफी है। इससे आगे बढ़कर उसमें लोकानुभव भी हो सकता है, परंतु उसका होना आवश्यक नहीं। जिन सूक्तियों में चमत्कार के साथ साथ लोकानुभव भी रहता है, वे कहावत बन सकती हैं। कवियों तथा लेखकों की कई लोकानुभवमयी सूक्तियाँ कहावत हो जाती हैं। मेघदूत के कई श्लोकों के अंतिम चरण कहावतों की भाँति काम आते हैं। किंतु प्रत्येक सूक्ति कहावत नहीं कही जा सकती।

संक्षेप में, कहावत छोटी, अर्थभरी, चटपटी और सर्वप्रिय होती है। इसी बात को अँगरेजी में अपने चुटीले ढंग से कहते हुए हावेल ने कहा है कि, कहावत की विशेषताएँ हैं 'छोटापन, अर्थ और नमक' ('लाघव, सार्थकता और लावण्य'—'शार्ट्नेस, सेंस्, एँड् साल्ट्')*। इन्हीं गुणों के कारण वह सर्वप्रिय भी होती है।

---

* 'Shortness, sense and salt.'

सालनों में जो काम मसाले का होता है, साहित्य में वही काम कहावत का है। गढ़वाली मुहावरे का प्रयोग करें तो कह सकते हैं कि कहावत बातचीत तथा साहित्य का 'तुड़का' (तड़का) है जो बहुत थोड़े परिमाण में प्रयुक्त होने पर भी व्यंजनों को विशेष रुचिकर बना देता है।

साहित्य के उत्कर्ष के लिये उसके चटपटेपन को बढ़ानेवाली इस सामग्री के संग्रह का महत्त्व स्पष्ट है। सुभाषित और कहावत में कुछ अंतर होने पर भी सुभाषित के संबंध में निम्नलिखित श्लोक में जो कुछ कहा गया है, वह कहावत के संबंध में भी बहुत कुछ सत्य है—

खिन्नं चापि सुभाषितेन रमते स्वीयं मनः सर्वदा
　　श्रुत्वान्यस्य सुभाषितं खलु मनः श्रोतुं पुनर्वांछति ॥
अज्ञाञ्ज्ञानवतोऽप्यनेन हि वशीकर्तुं समर्थो भवेत्
　　कर्तव्यो हि सुभाषितस्य मनुजैरावश्यकः संग्रहः ॥

गढ़वाली भाषा की कहावतों के संबंध में यह महत्त्वपूर्ण कार्य विद्वद्वर श्रीयुक्त पंडित शालग्रामजी वैष्णव ने किया है। सरकारी नौकरी के सिलसिले में वैष्णवजी को गढ़वाल के कोने कोने में जाने का अवसर मिला है जिसका उन्होंने नाना प्रकार से सदुपयोग किया है। अपनी धार्मिक प्रवृत्तियों के बीच साहित्यिक कृतियों के लिये भी वे समय निकालते रहे हैं, यह सौभाग्य की बात है।

गढ़वाली भाषा की कहावतों का संग्रह एक दूसरी दृष्टि से भी आवश्यक है। गढ़वाली अबाध गति से बदल रही है। यदि परिवर्तन की यही द्रुत गति रही तो एक दिन ऐसा आवेगा जब केवल ढाँचा भर गढ़वाली रह जायगा और रूप सब तत्सम (संस्कृत) के आजायेंगे। अतएव गढ़वाली की ही रक्षा की दृष्टि से नहीं, बल्कि भाषा-विज्ञान की दृष्टि से भी यह आवश्यक

से वह काम बिगड़ता चला जाय, अथवा कोई विद्यार्थी पीछे का पढ़ा हुआ भूल जाय और आगे पढ़ता जाय।

अगनैं[1] की सुछ्याली[2] लगीक[3] पिछनैं[4] ही औंदी[5] [१ आगे, २ जलती हुई लकड़ी, ३ जलकर, ४ पीछे ही, ५ आती है] प्र०—जहाँ कहीं कोई किसी के साथ बुरा व्यवहार करनेवाले पर दूसरा आकर वैसा ही व्यवहार करे।

अगाणा[1] निछोड़नो सामल[2], वीदा[3]नी छोड़णी कामल[4]। [१ भरे हुए पेट, २ भोजन-सामग्री, सम्बल, ३ बिना बर्षा के दिन, ४ कंबल] प्र०—आनेवाली कठिनाई को रोकने के लिये पहले से यत्न करनेवाले पर।

अजाण की पूजा अजाण मानो। प्र०—ग्राम-देवताओं को पूजने का मंत्र, अथवा किसी शिष्ट पुरुष के आतिथ्य के बाद क्षमा-प्रार्थना पर।

अठारा माथ[1]दौ नी[2], माणा[3] माथ गौंनी। [१ ऊपर, २ दाव नहीं, ३ बदरीनाथ से आगे गढ़वाल की अंतिम सीमा पर बसे हुए एक गाँव का नाम] प्र०—जब किसी काम का प्रयत्न चरम सीमा को पहुँच जाय।

अडसारा[1] तिकड़ो[2] टूटद। [१ सहारा, २ कमर] प्र०—अपने करने का काम किसी और के सुपुर्द करने पर जब वह काम बिगड़ने लगता है।

अड़ै[1] अड़ै फुंडो[2] प.ल्यै[3] प.ल्यै खुंडो[4]। [१ शिक्षा देते देते, २ उधर, ३ धार को तेज करने के लिये घिसना, ४ कुंठित] प्र०—जहाँ कहीं सुधार का प्रयत्न व्यर्थ जाने लगता है।

---

* समानार्थी श्लोक—अतिदानाद्बलिर्बद्धो अतिगर्वाच्च रावणः। अतिरूपवती सीता अति सर्वत्र वर्जयेत्॥ भावार्थ—अति दान देनेवाला राजा बलि

अणी मणी तीन भणी[1]। [१ जन, मनुष्य-स्त्री-वाचक] प्र०—जहाँ कहीं काम करनेवालों की संख्या दो-तीन या ऐसी ही कुछ हो अर्थात् अधिक न हो।

अती लाड़[1], **बड़ी खाड़**[2]। [१ प्यार, २ खड्ड] प्र०—मामूल से अधिक प्यार या प्रयत्न के निष्फल होने पर।

* **अत्ती**[1] **जौ**[2] **खत्ती**[3]। [बहुत ज्यादे, २ जाता है, ३ बिखरना] प्र०—जहाँ कहीं मामूली से ज्यादा कोई काम करने पर हानि होती है।

अदोखा[1] **दोख**[2], **गती न**[3] **मोख**[4]। [१ निर्दोष, २ दोष, कसूर, ३ सुगति नहीं मिलती, ४ मोक्ष नहीं होता] प्र०—निर्दोष पर झूठा कलंक या कसूर लगानेवाले की निंदा करते हुए।

* **अन्न नमान्**[1] **खाणो वस्तर नमान् लाणो**। [१ मात्र] प्र०—सादा जीवन व्यतीत करने के लिये।

अपणा खैड़ा[1] **का साँस**[2]। [१ खाल, २ श्वास, वायु] प्र०—अपनी सम्मति देते हुए जब दूसरा उसे मानने को तैयार नहीं होता है।

अपणा गिच्चै की[1] **बौराण**[2]। [१ मुँह की, २ बड़ी रानी] प्र०—जहाँ कोई अपने मुँह अपनी प्रशंसा करे।

बाँधा गया, अति गर्व करनेवाला रावण मारा गया, अति रूपवती सीताजी हरी गई, इस कारण अति को सर्वदा त्यागना चाहिए।

सम-वाक्य—अति का भला न बरसना अति की भली न धुप्प। अति का भला न बोलना अति की भली न चुप्प ॥—कबीर।

* समानार्थी पद—गर उसने उढ़ाया तो लिया ओढ़ दुशाला, कंबल जो दिया तो वही कंधे पै है डाला। चादर जो उढ़ाई तो वही हो गई बाला, बँधवाई लँगोटी तो वही हँस के सँभाला। पोशाक में, दस्तार में, रूमाल में, खुश हैं, पूरे हैं वही मर्द, जो हर हाल में ख़ुश हैं ॥—नजीर।

अपणा गोरू[1] को सी मर्‌यूँ[2]। [१ गाय, २ मारा हुआ, जखम किया हुआ] प्र०—जो अपनी भूल से होती हुई हानि को सह लेता है।

अपणा पल्ला अफू आफत बाँधणी। प्र०—जो आप ही अपने को फँसानेवाला काम करे उस पर।

* **अपणा खुट्टा[1] अफुई[2] कुल्हाड़ी।** [१ पैर, २ आप ही] प्र०—ऊपर के समान।

अपणा बल्दै,[1] पैनै सिंग। [१ बैल का] प्र०—अपनी ओर के किसी भी व्यक्ति की सफलता पर प्रसन्नता प्रकट करते हुए।

अपणा का मन्न[1] ते मीत कोही मन्नो भलो। [१ मरना] प्र०—ऐसे संकीर्ण विचारवाले लोगों की निंदा पर जो अपने स्वार्थ के लिये मित्रों के स्वार्थ को लात मार देते हैं।

अपणी अक्कल और विराणो[1] धन कवै[2] कम नी समझद। [१ दूसरे का, २ कोई भी] प्र०—जब कोई अपनी अक्ल को और पराए धन को अधिक ही समझे।

अपणी इज्जत अपणा हाथ। प्र०—किसी ओछे मनुष्य से तकरार न करने के लिये।

† **अपणी करणी पार उतरणी।** प्र०—भले-बुरे किए हुए का फल भोगना पड़ता है इस पर।

अपणी कौण्यू[1], पिठलो[2]। [१ कगुनी का, २ पिसान, आटा] प्र०—अपने परिश्रम से थोड़ा बहुत जो कुछ मिल जाय उस पर संतोष करने के लिये।

---

* आप अकारज आपनो करत कुसंगति साथ, पाँव कुल्हाड़ी देत है मूरख अपने हाथ ॥—वृंद।

† समानार्थी पद्य—जो पार उतारे औरों को उसकी भी नाव उतरती है। जो गर्क करे फिर उसकी भी यों डुबकों डुबकों करती है। शमशेर बबर बंदूक सना और नश्तर तीर नहरनी है, जो जैसी-तैसी करनी है फिर वैसी पार उतरनी है ॥—नजीर।

अपणी गंगा, क्वै उँदो[1] न्हौ[2] उबो[3] न्है। [१ नीचे, २ नहावे, ३ ऊपर] प्र०—जहाँ किसी दूसरे को कोई ऐसा काम करते हुए देखे जो अपनी पसंद का न हो पर उसे उस काम से रोकने का स्वयं कुछ प्रयत्न न करे।

* **अपणी खाट देखीक खुट्टा[1] पसारना।** [१ पैर] प्र०—अपने सामर्थ्यानुसार काम करने की शिक्षा देते हुए।

अपणी खै[1] विराणी[2] अखै[3]। [१ खाना अर्थात् सुख भोगना, २ पराई, ३ अखै अर्थात् दुख भोगना] प्र०—जहाँ कोई पराया नुकसान करके लाभ उठावे।

अपणी चाडी[1] को गधाकू जुहार[2]। [१ गरज, २ प्रणाम] प्र०—जहाँ कोई गरज पड़ने पर नीच की प्रशंसा वा खुशामद करे।

† **अपणी चीज पराया की भौंदी[1]।** [१ अधिकार में] प्र०—जहाँ अपनी वस्तु दूसरे के अधिकार में होने के कारण समय पर अपने काम न आवे।

अपणी जांघ कन्यैक[1] फूरी[2]। [१ खुजलाकर, २ सफेद] प्र०—जहाँ कोई अपनी उस गुप्त बात को, जिसके प्रकट होने पर लज्जित होना पड़े, प्रकट कर देता है।

अपणी डफड़ी अपणो राग। प्र०—जहाँ लोगों में ऐकमत्य न हो सके।

‡ **अपणी डेली[1] कुकूर[2] सैंक[3]।** [१ दर्वाजे, २ कुत्ता, ३ सामर्थ्यवान्] प्र०—जहाँ कोई अपने घर पर दूसरे का निरादर करे।

---

* अपनी पहुँच बिचार के करतब करिए दौर।
तेतो पाँव पसारिए जेती लाँबी सौर ॥—वृंद।

† स०—सोई अपनो आपनो रहे निरंतर साथ।
होत परायो आपनो शस्त्र पराए हाथ ॥—वृंद।

‡ एक बार महादेवजी विष्णु भगवान् के समीप बैठे हुए थे। वहाँ पर विष्णु भगवान् के वाहन गरुड़ को देखकर महादेवजी के कंठ में लिपटा हुआ

अपणी न लगैाणी बात भी उधारी[1], **विराणी खोजणी साई**[2] **सुधारीं**[3]। [१ अधूरी, २ सीधी, ३ सुधारी हुई] प्र०—जहाँ कोई अपनी वस्तु देने की बात भी न करने दे और दूसरे की बनी-बनाई वस्तु को चाहे।

अपणी दवाई अपणा काम। प्र०—जहाँ कोई दूसरे को फँसाने का प्रयत्न करते हुए स्वयं फँस जाय।

अपणी पार्थी[1] **पकोड़ी**[2]। [१ पोई हुई, २ बड़े] प्र०—जहाँ किसी को अपनी की हुई बुराइयों का कुफल आप ही भुगतना पड़े।

अपणी पीड़ौ[1], **किरमुलो**[2] **भी चड़ाक**[3] **दैंद**। [१ दर्द से, २ चिउँटी, ३ डंक मारना] प्र०—जहाँ बलवान् से सताया हुआ निर्बल अपना बदला ले वहाँ।

अपणी बारी खरी प्यारी। प्र०—अपने भरसक कोई बुरा काम न होने देना और अयश की चिंता न करना, इस नीति पर।

अपणो घर दिल्ली से सूझ[1]। [१ दिखाई देता है] प्र०—कितना ही दूर रहने पर भी अपने घर की सुध नहीं भूलती, इस पर।

अपणो डुंडो[1] **खुट्टो अलसा मूड़े**[2]। [१ लँगड़ा पैर, २ घास के नीचे] प्र०—जहाँ अपनी कमजोरी देखकर तटस्थ ही रहना पड़े।

अपणो दीक[1] **वैर**। [१ देकर] प्र०—जहाँ अपनी उधार दी हुई वस्तु माँगने पर अनरस हो जाय।

सर्प फुफकारे छोड़कर उसे डराने लगा। इस पर गरुड़ कहने लगा—"स्थानं प्रधानं न बलः प्रधानं स्थानवला कापुरुषा वदन्ति। जानामि नागेन्द्र तव प्रभावं कंठच्युता गर्जति शंकरस्य॥" अर्थात् स्थान की ही प्रधानता होती है न कि बल की। कायर लोग स्थान ही के बल से बकते रहते हैं। हे सर्पराज! तेरे प्रभाव को मैं तब जानूँ जब तू महादेवजी के कंठ से छूटकर भी ऐसी ही गर्जना करे।

अपणो दँदारो[1], कोणो[2] अंध्यारो। [१ देनेवाला, २ कोठरी का कोना, ३ अँधियारा] स०—निशि अँधियारी परसैया अपनो। प्र०—जहाँ कोई सार्वजनिक लाभ पहुँचाने का कार्य ऐसे बेईमान लोगों के अधिकार में हो जो उसकी समुचित व्यवस्था न करके केवल अपने ही लोगों को लाभ पहुँचावें।

अपणो नाक काटिक बिराणो असगुन। प्र०—जहाँ कोई दुश्मन को नुकसान पहुँचाने के लिये अपने नुकसान की कुछ पर्वाह न करे।

* **अपणो पेट कुत्ता भी पाल्द[1]।** [१ पालता है] प्र०—कुछ पुरुषार्थ न कर केवल अपना पेट पालनेवाले पर।

अपणो भलो त बोलनी, बुरो त तको नी[1]। [१ चाहै नहीं] प्र०—अपने हितैषी की कड़वी जबान भी लाभदायक होती है इस पर।

अपणो मारिक[1] भितनै[2], विराणो[3] मारिक भैनैं[4]। [१ ताड़ना करके, २ भीतर की ओर, ३ पराया, ४ बाहर की ओर] प्र०—बच्चों की ताड़ना पर। स०—माँ मारे माँ ही पुकारे।

अपणो मुंड अफुही नि मुड़ेंद। प्र०—जब कभी अपने काम बनाने में अपनी बुद्धि काम न दे।

अपणो सी मुख लीक रैगे[1]। [१ रह गया] प्र०—अपनी गलती पर पछतानेवाले पर।

अपणो हाथ अपणो जगन्नाथ। प्र०—जिसके काम की जाँच करनेवाला कोई न हो उस पर।

अपैंदान[1] पायो, गोजा घालीक[1] खायो। [१ जिसको कोई वस्तु अप्राप्य हो, २ पल्ले के नीचे छिपाकर]

---

* काकोऽपि जीवति चिरायु बलिं च भुंक्ते। अर्थ—काकबलि से पेट पालता हुआ कौआ भी बहुत दिनों तक जीवित रहता है।

प्र०—खाने की वस्तु पाकर साथियों को न बाँटकर आप ही आप खानेवाले पर।

अपैंदा कू भंगतेज मिट्ठो। प्र०—जिसे अच्छी वस्तु अप्राप्य है वह निकम्मी वस्तु को ही पाकर प्रसन्न हो जाता है इस पर।

* **अफुइ[1] आग लगै अफुइ पाणिकु दौड़।** [१ आप ही] प्र०—ऐसी कुटिल नीतिवाले पुरुष पर जो आप ही दूसरों में झगड़ा कराकर आप ही मेल कराने का प्रयत्न करे।

अफुइ औतारो[1] अफुइ पुजारो। [१ देवता औतरने-वाला अर्थात् नाचनेवाला] प्र०—जिसके काम की कोई जाँच करनेवाला न हो, आप ही सर्वेसर्वा हो और जो अपने अधिकार का दुरुपयोग करे उस पर।

अफू कोढ़ी गिंजगिंज[1] पाको[2], औरुकु[3] दवै बतौ[4]। [१ गलते हुए कोढ़ से, २ पकता रहे, ३ औरों को, ४ बतावे] प्र०—जो स्वयं बुरा काम करे पर औरों को न करने की शिक्षा दे उस पर। स०—और को नसीहत आप फजीहत।

अफ चौड़ा बाजार सांगुड़ा[1]। [१ संकीर्ण, तंग] प्र०—झूठी शेखी दिखलानेवाले घमंडी पर अथवा किसी से बातचीत करने में अपनी ही तक समझनेवाले अकड़बाज पर।

अफू छारा[1] मां, शेखी घोड़ा मां। [१ राख में] प्र०—किसी दुर्दशा प्राप्त घमंडी पर जिसकी ऐंठ न छूटी हो।

† **अफू भला त जग भलो।** प्र०—भलेमानस की प्रशंसा पर।

---

* बातन सों मोहि रिस उपजाई। पिय सों कहे जु लेउ मनाई॥
ए जाने सो गाथा गावे। आग लगाय के जल के धावे॥

† स०—पिय बोले कैसे नहिं जाउँ। हौं काहू को धरौं न नाउँ॥
मो लखि निधरक करु कोउ छल्ला। आप भले तब सब जग भल्ला॥

अफू मर्यां बिना स्वर्ग नि देखेंद। प्र०—जहाँ कोई काम अपने किए बिना न हो सके।

अभागी का पड़्या[1] पाल़ा, काट्याँ[2] माछा लग्या डाल़ा। [१ पल्ले पड़ने से, २ कटी हुई मच्छियाँ, ३ पेड़ में चढ़ गई] प्र०—जहाँ दुर्भाग्य से सब प्रयत्न विपरीत फल दें।

अभागी कमौलो भागी खालो। प्र०—जहाँ कहीं कंजूस की कमाई को कोई और भोगे।

अल़्सी[1] को कुत्ता मोटो, किसाण[2] को ब़ल्द[3] मोटो। [१ आलसी, २ आलस्य-रहित, खेत में काम करनेवाला, ३ बैल] भावार्थ यह है कि बचा हुआ भोजन आलस्यवाला दरवाजे के सामने आए हुए कुत्ते को दे देता है और आलस्य-रहित मनुष्य गोशाला में ले जाकर बैल को देता है। प्र०—आलसी मनुष्य की निंदा के लिये।

अ़ल़्सी ग्वीर[1] का जरजरा[2] भैं, नेड़ु नेड़ूनि जैं दुरु दुरु जैं। [१ ग्वाला, २ मोटे खरखरे] प्र०—जो मूर्ख काम को बिगड़ता देख शुरू में उसे सुधारने का कुछ उपाय नहीं करता, जब सुधारना कठिन हो जाता है तब उपाय करने लगता है उसकी मूर्खता पर।

अल़्सी रड़्या[1], डेरा पड़्या। [१ फिसल पड़ा, २ डेरा पड़ गया] प्र०—आलसी की निंदा करते हुए।

असमान थेगली[1] लगौंद[2]। [१ पैबंद, २ लगाता है] प्र०—जो झूठ-मूठ बातें बनाकर अपना काम बनाना चाहता है उस पर।

असमान्यू[1] लोटि पड़[2], बड़गान्यूँ[3] भूख मर। [१ जिसकी नजर आस्मान ही पर रहे, रास्ते पर न रहे, २ गिर पड़े, ३ जो भोजन करने में शरमावे, भूख रहते हुए भी न माँगे] प्र०—जहाँ कोई अपनी गलती या लापरवाही से नुकसान उठावे।

असल ते खता नी, कमग्रस्ल से बफा नी। प्र०—असल कमअस्ल के गुण दोषों पर।

अस्सी ग्रामद, चौरासी खर्च। प्र०—ग्रामदनी से अधिक खर्च करनेवाले पर।

अस्वाण्या[1] बुवारी[2] की कुराण्या[3] बाच। [१ ना-पसंदीदा, २ बहू, ३ कर्कश, किरकिरी, बे रसीली बोली] प्र०—जहाँ डाह से किसी के सद्गुणों को भी बुरा बताया जाय वहाँ।

ग्राई गई पार उतरी। प्र०—जहाँ कोई काम आरंभ होकर पूरा हो जाय और उसमें कुछ करने की गुंजायश शेष न रहे वहाँ पछतावा न करने के लिये।

ग्राई दाढ़ी, बात बिगाड़ी, ग्राई सोच, पडी सोच। प्र०—चिंतारहित बाल्यावस्था के गुजरने और चिंतायुक्त युवावस्था में प्रवेश होने पर।

ग्राऊ को नाऊ, चोर को साहू। प्र०—जहाँ कोई गुण-वान् की कदर न करके दुर्गुणी का आदर-सत्कार करे।

ग्राखिर बड़ान बड़ो पछाणे[1]। [१ पहचाना] इसकी मूल कहानी इस प्रकार है कि एक दिन बड़ी सुबह एक धुनवा (रुई धुननेवाला) अपना धनुष कंधे पर डाले एक जंगली रास्ते से जा रहा था। उधर से उसी रास्ते पर एक स्यार आ पहुँचा। उसने धुनवा को शिकारी समझा और डर के मारे काँपता हुआ कहने लगा "काँधे धनुष हाथ में बाना, कहाँ चले दिल्ली सुल्ताना" इसका जवाब धुनवा ने इस प्रकार दिया "बन के राव विकट के राना, आखिर बड़े ने बड़े को पहिचाना"। प्र०—जहाँ कहीं कोई निम्न श्रेणीवाला अपने ही समान किसी दूसरे नीच की बड़ाई और आदर-सत्कार करता दिखाई दे।

***आँख्यू देखी सच्ची, कनड़ू की सूणी झुट्टी।** प्र०—जहाँ सुनी हुई बात पर विश्वास न हो।

ओगड़ा की अडेसी[1] कखळई[2]। [१ ओढ़ना और बिछौना दोनों, २ कहाँ हो सकती है, अर्थात् नहीं हो सकती]। प्र०—जहाँ थोड़ी पूँजी या छोटी वस्तु से बड़ा काम लेने का प्रयत्न किया जाय।

आगाश निजौ वास[1], कौआ नि पै गास[2], तैंगोंकी नि करनी आस। [१ सुगंधि अर्थात् यहाँ यज्ञ की सुगंधि आकाश को न पहुँचे, २ ग्रास अर्थात् तहाँ पित्रों के निमित्त काकबलि न दी जाय। प्र०—जिस घर से कोई कुछ न पावे।

†**आँगुली[1] पकड़िक पैंठ[2] पकड़द।** [१ अँगुली, २ पहुँचा] जहाँ कोई थोड़ा थोड़ा करके अधिक ले लेता है।

आग फूकीक फिलंगारो[1] पायूँछ। [१ जलता अंगारा] प्र०—जहाँ कोई वस्तु बड़े परिश्रम से हाथ लगे और बड़ी हिफाजत से रखी जाय।

आग्यू, डाड्य[1] दौड़यो पाणी, तख पाई आग दूणी। [आग का जला हुआ] प्र०—जहाँ उपाय करने पर विपरीत फल हो अथवा रिशवतखोर हाकिम के फैसले पर।

आज गीज्यो काखड़ी, भोल गीज्यो बाखरी। प्र०—चोरी की आदत पहले छोटी-छोटी चीजों पर पड़ती है।

---

* अंतर अँगुरी चार को साँच झूठ में होय।
सब माने देखी कही, सुनी न माने कोय ॥—वृंद।

† छवै छिगुनी पहुँची गिनत, अति दीनता दिखाय।
बलि वामन की ब्यौंत लौं को बलि तुम्हें पत्याय ॥—बिहारी।

आज केतू भो.लरौ[1], जो भो.ल[2] औण सो आजै औ। [१ राहु ग्रह, २ दूसरे रोज] प्र०—विपत्ति पर विपत्ति आने पर तंग होकर कहा जाता है।

आज बिटी जै नी कि दांदरो[1]नी। [१ चक्की] प्र०—जहाँ कोई जान-पहिचानवाला धोखा देकर चला जाय या कोई छोटा बच्चा कहना न माने।

आजका[1] पिंडालू[2] तौड़ू खाडै[3] भोल का पिंडालू तौड़ू खाडै। [१ आज के, २ मुइयाँ, ३ खड्ड ही में] प्र०—जहाँ खर्च पर खर्च आ पड़ते हों, बचत न रहे अथवा जहाँ बच्चे होकर मर जाते हों।

आजौ[1] मन्नो भो.ल[2]। [१ आज का मरना, २ दूसरा दिन] प्र०—जहाँ विपत्ति थोड़े समय के लिये टल जाय पर फिर आने की आशंका हो।

*** आत्मा को बैरी जिभ्या[1]।** [१ जीभ] प्र०—जहाँ कहीं अपनी कही हुई बातों के कारण कष्ट उठाना पड़े।

आदि रोग खट्टा सर्वरोग भट्टा। प्र०—भट्टा और खटाई को कुपथ्य बतलाते हुए।

आधा गैं संगराद[1] आध गैं मंदरांद[2]। [१ संक्रांति, २ संक्रांति का दूसरा दिन] प्र०—जहाँ कोई कुछ वस्तु कुछ साथियों को बाँटे कुछ को न बाँटे वहाँ।

आधा[1]मै कामली क्या चै। [१ माघ का आधा महीना गुजर जाने पर] प्र०—जहाँ समय निकल जाने पर किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं रहे।

---

* स०—कभी कभी गुन दोष में उपजत दुक्ख शरीर।
मधुरी बानी बोलिके परत पींजरा कीर॥—वृंद।

आधा को असवाल आधा को गढ़वाल। प्र०—असवाल कौम की बड़ाई में कहा जाता है क्योंकि एक समय असवाल लोगों का इतना प्रभाव था कि आधा गढ़वाल उनके अधिकार में था। उन दिनों गढ़वाल के राजा का अधिकार केवल आधे ही गढ़वाल पर था।

आप घोड़ान बाप घोड़ा, लत्ती[1] लत्यूं न थोंथरू[2] फोड़ा। [१ लात ही लातों से, २ सिर फूट गए] प्र०—जहाँ कोई अपनी पहुँच से बाहर का काम करके नुकसान उठावे।

आप घातिक, महापातिक। प्र०—आत्महत्या की निंदा पर।

आबत[1] ठड्यावो[2] सोरो[3] खड्यावो[4]। [१ मित्र, २ सहायता करके खड़ा करे, ३ सगोत्री भाई-बंधु नुकसान पहुँचाता है।] प्र०—मित्र और सगोत्री के कार्यों पर।

आम का आम गुंठली का दाम। प्र०—जहाँ कहीं किसी काम से दुहरा लाभ हो वहाँ।

आम खाणा कि पेड़ गणना। प्र०—जहाँ कोई मतलब की बात न करके फिजूल बातें करे वहाँ।

आयो मनखी आई धाण[1], गई मनखी गई धाण। [१ काम काज] जहाँ कुटुंब के बढ़ने-घटने पर काम-काज का बढ़ना-घटना नजर आवे वहाँ।

आरूबेडू अफू खै, बैदू मगार[1] लगौ। [१ दोष, कसूर] प्र०—जहाँ कोई कुपथ्य कर बीमारी को बढ़ावे अथवा किसी से छेड़छाड़ करके झगड़े में पड़े।

आलकसी का जोंगा[1] बांगा[2] [१ मूँछ, २ टेढ़े] प्र०—सुस्त आदमी के लिये।

आँसू आँख्यूँ ही औंदा घुँडू[१] थोड़ा ही औंदा। [१ घुटनों पर] प्र०—भला काम भले ही से होता है बुरे से थोड़ी ही होता है—ऐसे मौके पर।

* **अहारे व्योहारे, लज्जा न कारे।** प्र०—आहार-व्यवहार इत्यादि में लज्जा न करने के लिये।

† **इना[१] वचण[२] चुली मन्नोही[३] भलो।** [१ इस प्रकार २ बचने से, ३ मरना ही] प्र०—जो बड़े संताप में दिन काट रहा है उस पर।

उकटदी[१] किरमुल्यूँ पंख लगदा। [१ नष्ट होनेवाली चींटियों को] प्र०—जहाँ कोई नीच संपत्ति पाकर इतराने लगे।

उकाल[१] काटिक[२] सरवट[३]। [१ चढ़ाई, २ तै करके, ३ बेतहाशा दौड़ना] प्र०—जो कोई अपना मतलब साधने को खुशामद करता रहता है और मतलब निकल जाने पर बात नहीं करता उस पर।

उघाड़ी[१] आँख्यू छार डालद। [१ खुली हुई] प्र०—खुले आम धोखा देनेवाले पर।

‡ **उञ्ची डांडी[१] गैण्यू तला[२]।** [१ ऊँचे पहाड़, २ तारों के नीचे] प्र०—ओछे के इतराने पर।

उज्याड़का[१] साऽस ढांगो[२] भूख मरो। [१ खेत में फस्ल चरने के भरोसे, २ बूढ़ा बैल] प्र०—जो अनुचित लाभ की आशा

---

* आहारे व्यवहारे च त्यक्तलज्जः सुखी भवेत्। अर्थात् आहार-व्यवहार में लज्जा छोड़नेवाला पुरुष ही सुखी होता है।—चाणक्य।

† गुजर की जब न हो सूरत गुजर जाना ही बेहतर है।
हुई जब जिंदगी दुशवार मर जाना ही बेहतर है॥ —अकबर।

‡ ओछे बड़े न ह्वै सकैं करि सतरौहैं बैन।
दीरघ होय न नेकहू फारि निहारे नैन॥—वृंद।

किए हुए कुछ काम नहीं करता और अंत में कुछ नहीं पाता, उस पर।

उड्याँ चून[1] पितरू[2] का नौं। [१ उड़ा हुआ पिसान, २ पितरों के अर्पण] प्र०—इच्छा न होने पर भी यदि कोई अच्छा काम अपने आप ही बन जाय तो उस काम को अपना किया हुआ बतलानेवाले पर।

उंडु-पुंडका[1] चुल-पुंड[2] चुला-पुंडुका उंड़ पुंड। [१ इधर-उधर से आए हुए, २ रसोई चौके में] प्र०—जहाँ पुरानों की बेकदरी और नयों की प्रतिष्ठा हो, वहाँ।

उत्तम खेती मध्यम वणज, कठिन चाकरी विकट जोग। प्र०—खेती की श्रेष्ठता और नौकरी की निकृष्टता पर।

उदय माँ, न अस्त माँ। प्र०—जो भले-बुरे किसी गिनती में न हो उस पर।

उपरामा[1] चापरो[2]। [१ ऊपर से लगी हुई लकड़ी के, २ ऊपर चप्पर डालना] प्र०—जहाँ पैवंद के ऊपर पैवंद लगे अथवा जहाँ कोई बिना बुलाए आकर राय देने लगे वहाँ।

***उफली[1] उफ़ली मारूफाली[2] करम की छीना ली[3]।** [१ उछल उछलकर, २ छलाँग मारूँ, ३ दो सेर अनाज] स०—धाओ धाओ कर्म लिखा सो पाओ। प्र०—जहाँ बड़े प्रयत्न करने पर भी थोड़ा ही प्राप्त हो वहाँ।

उलटो चोर कोतवाल डांडो[1]। [१ डंड लेवे] प्र०—जो मनुष्य दूसरे का नुकसान करे और उलटा उसी को धमकावे उस पर।

---

* करम कमंडल कर गहे तुलसी जहँ लग जाय।
सागर सरिता कूप जल बूँद न अधिक समाय॥

एक अनार सौ सौ बीमार। प्र०—जहाँ एक ही वस्तु के कई गाहक हों वहाँ।

एक आसान अर एक नुकसान। प्र०—जहाँ कोई हानि भी पहुँचावे और एहसान भी रखे वह।

एक कव्वा सकद न द्वी लिजाँदा। प्र०—बहुत दुबले पतले के लिये।

एक की एक्कीस, पाँच की पच्चीस। प्र०—उपकार करनेवाले को आशिष देते हुए।

एक की सैर, द्वी को मेलो, तीन को घपला, चार को झमेलो। प्र०—एक दो इत्यादि साथियों के लिये।

*** एक कोढ़ी हैंका[1] कोढ़ी तरकौ[2]।** [१ दूसरों, २ हँसी उड़ावे] प्र०—जो अपने अवगुणों को तो देखे नहीं पर दूसरों के उन्हीं अवगुणों को जाहिर करे उस पर।

एक गुनाः एकी शूल सौ गुनाः एकी शूल। प्र०—जो एक कसूर करने पर और कसूरों को करने के लिये ढीठ हो जाता है उस पर।

एक घेत्या मरजौ द्वी घेत्या बचजौ। प्र०—सारे बोझ को एक ही घेत अर्थात् एक ही बार ले जाने की बुराई और बाँटकर दो बार ले जाने की अच्छाई के लिये।

एक गोरू एक्कू सेटगो[1] सौ गोरू एक्कू सेटगो। [१ गाय हाँकने की छड़ी] प्र०—जहाँ एक काम और अधिक काम के करने में एक ही परिश्रम करना पड़ता हो वहाँ।

एक ढेबरी लत्ता लगबो, एक गोरूछाँ ठेकौ[1]। [१ रोके] प्र०—एक भेड़ और एक गाय पर।

---

* पर को औगुन देखिहै अपनो दृष्ट न होय।

एक दाढ़ खाँदी एक चमलाँदी[1] । [१ खुजलाती] प्र०—जहाँ दो बराबर हक पानेवालों में से एक को दिया जाय और दूसरे को न दिया जाय वहाँ।

एक देवी सौ काणा, कै कै द्यौ[1] आँखा साणा[2] । [१ देवे, २ सुंदर आँखें] प्र०—जहाँ दाता में माँगनेवालों की आवश्यकता पूरी करने की सामर्थ्य न हो वहाँ ।

एक परकंड्याल क्या त करो । इसकी मूल कहानी इस प्रकार है कि परकंडी गाँव का रहनेवाला एक कुली ऊखीमठ-मंदिर के भंडार में काम करता था। परकंडी गाँव का रहनेवाला होने से लोग उसे परकंड्याल नाम से पुकारते थे। एक दिन उसने भंडार में जमे हुए घी का एक डला चुराकर अपने शिर में टोपी के नीचे छिपा दिया। भंडार के दरवाजे पर पिंजरे में बैठी हुई मैना ने उसकी यह चोरी देख ली। वह कहने लगी 'तै परकंड्याल घाम पर धरा' अर्थात् उस परकंड्याल को धूप में रखो। मैना के कहने के मुताबिक परकंड्याल धूप में रखा गया तो उसकी चोरी का घी गल-कर उसके बदन पर चूने लगा। उसकी चोरी पकड़ ली गई और उसे उचित दंड मिला। पीछे एक रोज भंडार में आग लगी। परकंड्याल चीज-वस्तुओं को बचाने लगा पर उसने मैना की ओर देखा भी नहीं। तब मैना खुशामद से कहने लगी 'एक परकंड्याल क्या त करो' अर्थात् एकही परकंड्याल है जिसे सारा काम करना पड़ रहा है। वह कहाँ तक करे। तब से यह कहावत उस प्रांत में ऐसे मौके पर कही जाती है जब कोई किसी की अपने मतलब से झूठी खुशामद करता है।

एक पंथ द्वी काज । प्र०—जहाँ एक प्रयत्न से दो कार्य सिद्ध होते हों वहाँ ।

एक माछो सारो ताल गंदा करदेंद । प्र०—जहाँ एक व्यक्ति के ऐब से सारा स्थान बदनाम हो वहाँ ।

एक स्यान माँ द्वी तलवार नि रै सकदी। जहाँ एक ही स्थान के दो मालिक होना चाहें अथवा एक स्त्री के दो चाहने वाले हों वहाँ।

एक मोचू[1], सबू का आँखा घोचू[2]। [१ ऐबी, २ दुखावे] प्र०—जहाँ एक के क़सूर से सबको शर्मिंदा होना पड़े वहाँ।

एक भैांसी भैांसी अर एक अली अली। प्र०—जहाँ कोई किसी को एक ओर तो आदर-सूचक वाक्य कहे दूसरी ओर से तिरस्कार करे वहाँ।

एक ल्याया पोर[1], स्य[2] होई चोर, एक ल्याया परार[3], स्या कदी करार। [१ पारसाल, २ वह (स्त्रीलिंग), ३ दो साल पहले] प्र०—जहाँ सुधार के सब उपाय व्यर्थ जायँ वहाँ।

एक सिंह रण को, एक सिंह वण को, एक सिंह माधो-सिंह और सिंह कैका। यह कहावत उस वीर योधा माधोसिंह के पराक्रम से उत्पन्न हुई है जिसने तिब्बती लोगों को, जो निलंग की घाटी पर कब्जा कर चुके थे, हटाकर गढ़वाल-राज्य को बचाया था और जिसने पहाड़ पर सुरंग खोदकर मलेथा गाँव (श्रीनगर के पार की तरफ) में गूल पहुँचाई थी। प्र०—जहाँ कोई बड़ा नाम कमाने की झूठी चेष्टा करे वहाँ।

एक हत्या[1] घरबार सौ हत्या[2] खेती ह्वे जौ, सौ हत्या घरबार एक हत्या खेती चल जौ। [१ एक ही हाथ से चलनेवाला, २ सौ हाथ जिसमें चलें, ३ हो जावे] प्र०—घरबार (भंडार के लिये) केवल एक आदमी और खेती के लिये बहुत आदमियों की आवश्यकता पर।

एक हाथन ताली नि बजदी। प्र०—बिना दो के झगड़ा एक ही आदमी नहीं कर सकता इस पर।

एक हंसणो अर एक निकसणो[1]। [१ बनावटी हँसी] प्र०—बनावटी हँसी पर।

ए जुग न वै जुग कखीका नि रया। प्र०—जहाँ कोई दोनों तरफ से मारा जाय अथवा हानि उठावे वहाँ।

ऐंच का किटक्यो, न तला का भिटक्यो। प्र०—जहाँ अचानक कोई आफत आ जाय वहाँ।

ऐ पड़ी सिद्धू का सिर। प्र०—किसी काम के करने को किसी को उत्साह देने के लिये।

ओखल्यूँ[1] **सिरदेणो चोट्टू**[2] **क्या डरणो।** [१ ऊखल में, २ चोटों से] प्र०—जब कोई काम करने को तैयार हो ही गए तो हानि की क्या परवाह इस पर।

ओट्यां कात्यां की कपास। प्र०—जहाँ बना-बनाया काम बिगड़ जाय वहाँ।

ओट्यो कात्यो चार हाथ, घाघरो फूक्यो बत्तीस हाथ। प्र०—जहाँ काम कम और नुकसान अधिक हो वहाँ।

ओंठूसां बंवा.ली[1] **बिलाणी**[2] **छन।** [१ चर्बी, २ गल रही है] प्र०—जिस पर चारों ओर से गरदिश आ पड़ी हो उस पर।

ओडा[1] **तैं लौणो**[2]**, बाँटा तैं खाणो।** [१ खेत के बँटवारे का निशान, २ बाल काटना] प्र०—अपने हक से ज्यादे न चाहने की शिक्षा पर अथवा कम उम्र में मरनेवाले के लिये भी।

ओडु[1] **घर ओड्डा**[2] **वैदू घर रांड्डा।** [१ मिस्त्रियों के घर, २ छप्पर] प्र०—जहाँ किसी काम के जाननेवाले के घर उस काम की कमी देखने में आवे वहाँ।

ओवरा का अड़ाया[1] **बौंड का सट्ट**[2]। [१ शिक्षा देना, २ शिक्षित होना] प्र०—जहाँ शिक्षा किसी को दी जाय और उस शिक्षा से लाभ उठावे कोई और।

ओवरा[1] गयो, मंजु.ला[2] गयो, बठु.लो[3] धोयो, तथी[4] होयो। [१ निचली मंजिल गया, २ ऊपर की मंजिल गया, ३ कटोरा माँजा, ४ इतना ही काम हो सका] प्र०—जहाँ छोटे छोटे गिनती में न आनेवाले कामों के ही करने में समय व्यतीत हो जाय और अधिक काम करने को समय न मिले वहाँ।

ओ.ली न वे.ली। प्र०—ऐसी कम प्राप्ति पर जिससे कुछ भी काम न सरे।

ओ.ली[1] वटिदॆंद त खांदुछौं, घूघू[2]घाली ल्यांद[3] त औंदु छौं। [१ रोटी बना के दे, २ पीठ में चढ़ाकर, ३ ले जावे] जहाँ कोई गरजमंद से ज्यादा खुशामद चाहे वहाँ।

ओस का बुंदून तीस[1] थोड़ी ही जांदी। [१ प्यास] प्र०—ऐसी कम प्राप्ति जिससे आवश्यकता पूरी न हो उस पर।

औता[1] चुली[2] सौतौ[3] भलो। [१ अपुत्रा, २ से, ३ सौत का] प्र०—अपुत्रा रहने से सौतेला पुत्र का होना अच्छा इस पर।

औता तेवरा तिरुवार वांडा वग्वा.ल। प्र०—उत्सव त्योहार सब अमीर-गरीब यहाँ तक कि पशु तक भी मनाते हैं इस पर।

औता धन प्यारो, कोढ़ी ज्यू प्यारो। प्र०—जहाँ ऐसा ही देखने में आवे।

औंदी दौं बामण, जाँदी दौ भाट। प्र०—जहाँ कोई मतलब रहने तक खुशामद करता रहता है, मतलब निकल जाने पर निरादर करता है वहाँ।

औंदी लछमी लात नि मारनी। प्र०—जहाँ कोई सामने आए हुए रुपए को लेने से किसी कारण-वश इनकार कर रहा हो वहाँ।

औंदो को आदर, जांदा को सत्कार। प्र०—आतिथ्य की उपयोगिता पर।

औंरो अगनैं बाळरो पिछनैं। जहाँ पीछे होनेवाली बात पहले हो जाय। औरु कि नजर अथरु बथरु, च्वर कि नजर म्वट वखरु। प्र०—अपने ही मतलब का खयाल रखने पर।

औरे खुंड मेरा मुंड। प्र०—जहाँ कोई अपने किए हुए काम से अपने ऊपर आफत लावे, वहाँ।

औलाु[1] का भागन पाक्या भ्योलु। [१ उल्लू पत्ती] प्र०—जहाँ किसी आलसी को बिना परिश्रम ही कुछ मिल जाय।

अँगरेजौ राज गत्यू कपड़ा न पेटा नाज। प्र०—जिन्हें ऐसा विश्वास है कि अँगरेजी अमलदारी से पहले लोगों के पास खाने-पीने की वस्तुएँ की इफरात रहती थी वे अँगरेजी राज्य की निंदा करते हुए ऐसा प्रयोग करते हैं।

अंग उपज्यो स्वभाव। प्र०—स्वभाव की अटलता अर्थात् न बदलने पर।

अंध्यारी अर ब्यंदारी[1]। [१ बचा देनेवाली] प्र०—जिसका भविष्य मालूम न हो, उस पर।

अंधा का हाथ बुटेर। प्र०—जहाँ किसी को बिना परिश्रम किए कुछ मिल जाय, वहाँ।

अंधो अलोणो पळाणो। प्र०—जो बात साधारणबुद्धि मूर्ख भी समझ सके, उस पर।

अंधौं मां काणो राजा। प्र०—जहाँ मूर्खों के बीच कोई साधारण बुद्धिवाला डींग मारे, वहाँ।

कख गिड़के[1], कख बरखे[2]। [१ बादल गरजा, २ वर्षा हुई] प्र०—जहाँ उद्योग किया जाय किसी के लिये और फल मिले किसी दूसरे को, वहाँ।

कख नारो[1] कख पाणी को धारो। [१ नगर, गाँव] प्र०—जहाँ निकट रहने योग्य वस्तु अति दूर हो वहाँ।

कख[1] राजा भोज, कख बन्दर चोर ? [१ कहाँ] प्र०—बहुत बड़े और बहुत छोटे की तुलना करने में।

कखच कुचलो, कख च कुचलो। प्र०—किसी के अपने आभूषण आदि की ओर हठात् ध्यान आकर्षित करने पर कहा जाता है।

कच्ची की हांडी गै, बिराली को इमान गयो। प्र०—छोटी सी बात पर बेईमानी करनेवाले पर।

कटणौ[1] कालवै हम्याँ ही सुख। [१ कटाई करनेवाला खून।] प्र०—दु:खदायी वस्तु को, जो अच्छी भी हो, छोड़ देने में ही लाभ है, इस पर।

कणोंडी बिराली सूसू मूँ कान कतरौ। प्र०—जब कोई सामर्थ्यवान् किसी कसूर में पकड़ा जाकर दब जाता है अथवा रिश्वतखोर या काम न करनेवाला अफसर अपने मातहतों से दबता है, तब।

कतनी कुखड़ी, कतनो फपटाट। प्र०—जहाँ किसी छोटी बात का बड़ा हल्ला हो, वहाँ।

कथाकाणी, रातव्याणी। प्र०—किसी काम की या किसी बात की समाप्ति पर।

कपटी को कुल नाश, निरकपटी को ज्यू नाश। प्र०—कपटी और निष्कपट काम करनेवाले पर।

कपूत कू क्या पांजणो[1], सपूत कू क्या सांजणो[2]। [१, २ जमा करना] प्र०—कुपुत्र और सुपुत्र पर।

कब थोरी[1] ब्याली, कब खोरी[2] खालो। [१ भैंस की छोटी बछड़ी, २ भाग्य] प्र०—जहाँ इच्छित वस्तु प्राप्त होने के दिन बहुत दूर हों, वहाँ।

कब मरी बूड, कब आया आंसू। प्र०—'अकाल मरी सासू ...' के समान।

कभी बूड गड़गड़ी[1], कभी बुड्या गड़गड़ो[2]। [१, २ नाराज, क्रोधित] प्र०—जहाँ कार्य-सिद्धि में कभी एक बाधक हो और कभी दूसरा।

कभी तैला[1] घाम, कभी सीला[2] घाम। [१ जहाँ धूप बहुत देर तक रहे, २ जहाँ धूप कम देर रहे] प्र०—भाग्य का पल्टा सभी का होता है क्या भला और क्या बुरा। इस पर हार-जीत तथा सुख-दुःख के लिये भी।

कर्‌यूँ कमायूँ भांग का बाड़ा। प्र०—जहाँ बना-बनाया काम बिगड़ जाय, वहाँ।

कल्दा सरीक कौखि बूतणी। प्र०—ऐसे दीर्घसूत्री मनुष्य पर जो विघ्नों के भय से कार्य को आरंभ करने में देर करता रहता है।

कला पर काल गोटणो[1]। [१ रोकना] प्र०—जहाँ छोटी बात पर झगड़ा बढ़े, वहाँ।

कव्वा ककडांदीरौ[1], पीना[2] पाकदीरौ[3]। [१ काँव काँव करता ही रहे, २ तिलहन का हलुवा, ३ पकता ही रहे] प्र०—दुर्जनों के बकवाद पर सज्जन ध्यान नहीं देते, इस पर।

कका बडू का दाई, मामा-फूफू का भाई।

काखडी का चोर, मुठक्यो[1] धो। [१ मुट्ठी की मार] जहाँ छोटे कसूर की छोटी और जल्दी सजा मिले वहाँ।

कागा घाँडीदेश फिरो, सूसा घाँडी दुलना[1] बैठो। [१ छेद] प्र०—मंगते लोग दाताओं को दान देने को उभाड़ने के लिये कहते हैं।

काचा-पाका डाम सब मन मैळन। प्र०—जहाँ कोई निर्बल बलवान् के किए हुए अत्याचारों को सहता चला जाता है और उनका बदला नहीं ले सकता, वहाँ।

काचा मासूकी सी रग डग लगीं छ। प्र०—अति उतावली करनेवाले पर।

काज कौणी अकाज भात। प्र०—विपरीत समय पर काम करनेवाले पर।

काजी की दौड़ मसजिद तक। प्र०—जहाँ कोई किसी काम को अपनी पूरी शक्ति लगाकर भी पूरा न कर सके, वहाँ।

काटकूट[१] बाखरीमां[२] ध्यांगथु ंग[३] अछाणी मां[४]। [१ हथियार की चोटें, २ बकरी पर, ३ चोटों का शब्द, ४ जिस लकड़ी में काटा जावे] प्र०—जहाँ बाहरी काम करनेवालों के कारण मालिक को हानि उठानी पड़ती हो, वहाँ।

कटाण द्यूँ[१] न अणाकटा सैं[२]। [१ काटने दूँ, २ न बिना काटे सहूँ] प्र०—जहाँ कोई न तो काम करने दे और न काम करने पर संतुष्ट रहे।

काट्यां नाक को सिंघाणो। [१ नाक की मैल] प्र०—जहाँ किसी बदनामी के कारण संबंध टूट जाय और फिर उसकी बढ़ती देखकर संबंध जुड़ाया जाय, वहाँ।

काट्यां मां लोण-मर्च। प्र०—जहाँ किसी दुःख-पीड़ित को कोई लगती हुई बात कहकर अधिक दुःख दिया जाय, वहाँ।

काणसा[१] बिटी[२] खश्रोणो[३] जेठा बिटी वेश्रोणो[४]। [१ कनिष्ठ, छोटा, २ से, ३ खिलाना, ४ ब्याह करना] प्र०—कुटु ंबियों का भोजन तथा विवाह करने के लिये अवस्था-क्रम पर।

काणा त्वै[१] क्वा चैंद[२] ? द्वी आँखा साणा[३]। [१ तुझे, २ चाहिए, ३ सुंदर] प्र०—जिस वस्तु को हम चाहें यदि कोई उसी को पूछ कर हमें देना चाहे।

काणा बिराला[१] मांड पत्यूण[२]। [१ बिल्ली, २ संतोष कराना] प्र०—जहाँ किसी को थोड़ा सा देकर संतोष कराया जाय।

"काणा पांडे घैलागू", ये आया झगड़ा का लच्छन[1]। [१ लक्षण] जहाँ किसी की व्याजस्तुति (प्रशंसा की आड़ में निंदा) की जाय।

कातिगी ढाट सी रहंद फिरनू। प्र०—निष्प्रयोजन मस्त फिरनेवाले पर।

काँधी मां जुओ गैं मां खोज। प्र०—जो पास की वस्तु को न देख बाहर खोज करे, उस पर।

काम औ गोरू, खाणौ हैरू। प्र०—जहाँ काम करने-वाले को कुछ भी न मिले, औरों को बिना काम किए दिया जाय।

काम न काजौ[1], ढाइ सेर नाजौ[2]। [१ काज का, २ अनाज का खानेवाला] प्र०—जो काम-काज कुछ न करे केवल खाने का वीर हो उस पर।

काम प्यारो होंद, चाम प्यारो नीहोंद। प्र०—मनुष्य की योग्यता की कसौटी उसका काम होता है न कि खूबसूरती, इस पर।

कमाली ज्यूं ज्यूं भीजो त्यूं त्यूं गरीं[1] होंद। [१ भारी] प्र०—जहाँ देर करने से काम बिगड़ने का डर हो।

कामसणी काम सिखौंद[1]। [१ सिखलाता है] प्र०—कोई भी काम बिना किए नहीं सीखा जाता, इस पर।

काया रखीक[1] करम, पैसा रखीक धरम। [१ बचा-कर] प्र०—काम में उतनी ही शक्ति व्यय करनी चाहिए जिससे शरीर दुर्बल न हो, दान इतना ही तक करना चाहिए जिससे दरिद्रता न आ जाय, इसकी पुष्टि में।

कारा[1] कट्यां छन, भारा बंध्यां छन। [१ कर में दिया जानेवाला अन्न] प्र०—जो रिवाज बहुत पुराने जमाने से बरता जाता हो उसकी अटलता पर।

काल को[1] जोगी घुंडू घुंडू[2] जटा। [१ कल का, २ घुटनों तक] प्र०—नौसिखुए के अत्यधिक दिखलावे पर।

काल को जोगी आजौ[1] सिद्ध। प्र०—ऊपर के समान।

* **काली भली न गोरी भली।** प्र०—जहाँ दोनों में से एक से भी कुछ लाभ की आशा न हो वहाँ।

कालो आखर भैंस बराबर। प्र०—अपढ़ मूर्ख के लिये।

क्या माखो खो क्या जुगारो[1]। [१ जुगाली करना] प्र०—निर्बल और कृश शरीरवाले के लिये।

क्या सौण सपूत, क्या भादो कपूत। प्र०—जहाँ दोनों की आपस में तुलना करने पर कोई बड़ा फर्क न हो।

कि खाव बप-घर, कि खाव अप-घर। या तो पिता ही के घर अच्छी-अच्छी चीजें खाने को मिलती हैं, या जब स्वयं गृहस्वामिनी होती है, तभी, सास आदि के आधिपत्य में नहीं।

कित[1] तोती ही होली कित मैणा ही होली। [१ या तो] प्र०—जो बिना समझे-बूझे ऐसी बात कह बैठे जो प्रसंग के बिलकुल विपरीत हो। इसकी मूल कहानी इस प्रकार है कि कोई राठ के मुल्क का रहनेवाला एक बार भाबर गया। वहाँ उसने हाथी देखा। जब वह घर आया तो उसने गाँव के बूढ़े प्रधान के पास उस जानवर का सारा हुलिया कहा और पूछा कि "ऐसा चड़ा (जीव) मैंने देखा है वह क्या होगा ?" प्रधान ने कहा या तो तोता होगा या मैना होगी।

कितलू[1] का नाग, बिराला[2] का बाघ। [१ केंचुवा, २ बिल्ली] प्र०—जहाँ कोई बात बहुत तूल देकर कही जाय।

---

* द्यौ में घटा सुहावनी को विरहिन के हेत।
कह्यौ कहावत ना सुनी कालो भलो न सेत॥

कित ल्यूँ दूणा, कित रैं कूणा। प्र०—ऐसे अनुभव-रहित व्यापारी पर जो समय का भाव न देखकर अधिक मुनाफा के लिये अड़ा रहकर नुकसान उठावे।

कित न्हैक[1] जाड़ो, कित खैक जाड़ो। [१ नहाकर] प्र०—जाड़ा लगने पर।

कितलो[1] करो, सर्प की स-र[2], चिच्चो[3] कितलो ताणीताणी[4] मर। [१ केंचुवा, २ बराबरी, ३ बेचारा, ४ खिँच खिँच के] प्र०—जहाँ कोई छोटा बड़े की बराबरी करना चाहे और न कर सके।

किलमोड़ा[1] की तलवार। [१ एक कँटीली झाड़ी (रसौंत) जिसकी लकड़ी बिलकुल कच्ची होती है] प्र०—जो केवल डींग मारा करे, उस पर।

किलै पोण्यालो[1] ह्वैछौ, किलै द्वार नी खोलदो। [१ पाहुने को बुलानेवाला] प्र०—जो पहिले भरोसा दे और ऐन मौके पर छिप जाय उस पर।

किसाण ह्वैक[1] कमौणो, राणी ह्वैक खाणो। [१ होकर] प्र०—करना मेहनत से, खाना ऐश से।

कीचमां हाणे[1], मुख ऐ लगे। [१ चोट मारी] प्र०—जहाँ कमीनों से छेड़छाड़ करने पर इज्जत में बट्टा आवे।

कीली का छोर बाछो बुरकदी[1]। [१ छलाँग मारती, कूदती] प्र०—जहाँ कोई निर्बल किसी दूसरे के सहारे बड़े काम में हाथ डाले अथवा किसी बलवान से लड़े।

क्वी (ग्वी) राल खैक खिंकराल। इसकी मूल कथा इस प्रकार है कि गाँवों में गरीब लोग फागुन-चैत के महीने में, जब अन्न की कमी हो जाती है, प्रायः क्वीराल (कचनार) के फूलों पर गुजर करते हैं। ऐसे किसी गाँव के गरीब घर की लड़की, जो किसी

मातबर घर में ब्याही गई थी, एक मर्तबा डांड़ी में चढ़ी हुई यात्रा कर रही थी। जंगल में क्वीराल के फूलों को देखकर पूछने लगी कि "ये पेड़ काहे के हैं जिनमें ये सुफेद फूल लगे हैं?" किसी ने उत्तर दिया बेटी ये वही क्वीराल के फूल हैं जिन्हें तू बचपन में अपने मायके में खाया करती थी। वह बोली "खिंकराल़ खिंकराल़" इस पर वह आदमी बोला "कुइराल़ खाके खिंकराल़।" तब से कहावत चल पड़ी जो कोई अपने उपकार करनेवाले को भूल जाता है उस पर इसका प्रयोग होता है।

क्वीलू मां छाप, अशर्फ्यूँ की लूट। प्र०—जो अय्याशी में हजारों लुटा दे और सत्कार्य में कंजूसी करे, उस पर।

कुकरु का गौं अग्यौं। प्र०—किसी के असंभव बात कहने पर [कुत्तों के गाँव में आग लगना।]

कुक्कर ताणो[1] भैर[2], बिराल़ो ताणो भितर। [१ खींचे, २ बाहर] प्र०—जहाँ सब कोई अपने ही स्वार्थ की ओर लक्ष्य कर बातें करें, वहाँ।

कुकुरू का मुंड बिराल़ा, अर बिराल़ू का मुंड कुक्कर। प्र०—जो इधर की शिकायत उधर और उधर की शिकायत इधर करके लोगों को लड़वावे, उस पर।

कुकुरू की मौत मरनू। प्र०—जो अपने बुरे कामों के कारण बड़ा दुःख पा रहा हो, उस पर।

कुकुरू सूँ कपास, बाँदरू सूँ नर्‌यूल[1]। [१ नारियल] प्र०—जहाँ कोई उपयोगी वस्तु किसी ऐसे मनुष्य के हाथ पड़ जाय जो उसकी कदर या उपयोगिता को न जाने।

कुछ खायो गाँव का चोरुन कुछ बण का मोरुन। प्र०—जहाँ कई तरफ से हानि होती हो।

* कुकुर को पुछड़ो[1] थोला[2] उँदो[3] डालीक[4] भी बांग्वै[5] बांगो। [१ पूछ, २ नली, ३ भीतर, ४ डालकर, ५ टेढ़ा ही] प्र०—जहाँ कोई रोकने पर भी अपनी बुरी आदत को न छोड़े वहाँ।

कुखड़ो च·रो[1] घुड़चो[2] भ·रो[3]। [१ चरे, २ पेट, ३ भरे] प्र०—जहाँ कोई दुर्बल बड़ी कठिनता से अपनी गुजर कर रहा हो उसमें बाधा न डालने के लिये।

कुजगा[1] दुखणो[2] जेठाणो[3] बैद। [१ बुरा (गुप्त) अंग, २ फोड़ा, ३ जेठ] प्र०—जहाँ सहायक से सच्ची स्थिति कहने में संकोच हो वहाँ।

कुँडली[1] क्या देखणी, मुँडली[2] देखणी। [१ जन्म-पत्र, २ सिर (शकल-सूरत)] प्र०—जहाँ शकल सूरत ही देखकर सारा हाल मालूम हो जाय और अधिक जाँच-पूछ करने की आवश्यकता न पड़े। अथवा—रूपासक्ति के सामने कुंडली कोई चीज़ नहीं।

कुमनखी[1] बोल्यूँ मार,[2] कुब.ल्द[3] सिंगू मार[4]। [१ बुरा मनुष्य, २ बोली से मारनेवाला, ३ बुरा बैल, ४ सींग से मारनेवाला] प्र०—कटुवादी पर।

कूटी[1] नि मारे थेगी[2] मारे। [१ कूटकर, २ छोटी छोटी चोट मारकर कूटना] प्र०—जहाँ कोई नुकसान पहुँचानेवाला अपरोक्ष रीति अथवा द्वारांतर से नुकसान पहुँचावे।

कूड़ा[1] को सूत[2] अर ब्यौ[3] को ठ्यौ[4] बदलेंद नी[5]। [१ मकान, २ लंबाई-चौड़ाई की नींव, ३ विवाह, ४ ठहराव, रुपये-पैसे की बात, ५ बदलता नहीं] प्र०—न बदली जानेवाली बात पर।

* जातिस्वभावो दोषोयं कटुकं त्वं न मुञ्चति।

कुत्ता क्या देखणा कुत्ता को ठाकुर देखणा। प्र०—जहाँ मालिक की मुरौवत से उसके नौकर की उद्दंडता क्षमा कर दी जाय वहाँ।

कुत्ता खै न बासी रौं। प्र०—जहाँ कोई बात उचित परिमाण से की जाय।

कूट्यां पीस्यां कि नी चुमकी[1] पौणो आइ पौंछो रुमकी[2]। [१ फाँक, चुटकी, २ शाम को अँधेरा होने पर] प्र०—जहाँ तंगी के समय खर्चीला काम आ पड़े वहाँ।

केतूकी[1] कांडी अर मुसेली[2] की माटी। [१ अपामार्ग का काँटा, २ चूहे के बिल की मिट्टी] प्र०—जिस पर सारे झगड़े का दार-मदार और मूल हो।

केदार[1] न कमायो, मद्मू[2] न समायो। [१ केदारनाथ, २ मध्यमेश्वर] प्र०—जहाँ किसी की कमाई और कोई खावे।

कैको डालो[1] सुप्पो, कैको सोनो[2] रूपो। [१ अनाज भरने के बर्त्तन, २ सोना-चाँदी] प्र०—किसान और महाजनों की तुलना पर।

कै घट्ट फूले। प्र०—जहाँ कोई बूढ़ा नादानों की-सी बातें करे।

कैं चुच्ची[1] रांड द्यूरैं भौजैं[2] नि स्वाव[3]। [१ बेचारी, २ देवर भाभी का सा व्यवहार, मसखरी मजाक, ३ अच्छी न लगे] प्र०—जहाँ कोई मनोवांछित वस्तु बिना प्रयत्न मिल जाय।

क्वै जौ घ‍ड़ा का मोल, क्वै जौ घोड़ा का मोल। प्र०—जहाँ किसी गरीब को छोटा सा भी नुकसान असह्य हो जाय।

कै दिनू नौ नौ साड़ा[1] कै दिनू निनंग नागा[2]। [१ साड़ी, २ बिलकुल नंगा] प्र०—जहाँ किसी की हालत पहिले अमीरी की और पीछे गरीबी की हो जाय।

कै दी[1] धित्यौं[2], कै बोलि[3] पत्यौं[4]। [१ देकर, २ संतोष कराना, ३ बातों से, ४ मना लेना] प्र०—जहाँ भिन्न भिन्न उपायों द्वारा किसी न किसी प्रकार सबको प्रसन्न कर दिया जाय।

कै न खाये खासू मासू[1], कै आया पितलाण्या[2] आँसू। [१ हिलवान का मांस, २ पीले, पीतल के रंग के] प्र०—जहाँ मौज कोई और उड़ावे और मुसीबत किसी और पर आवे।

कै न खाये घ्यूकसार[1], को होये लंपसार[2]। [१ घी और कच्चा हलुवा, २ टाँगें लंबी करके लेट जाना] प्र०—ऊपर के मुवाफिक।

कैं बुधि[1] सेरा लाटा[2] बाच[3] आव। [१ बुद्धि, उपाय से, २ गूँगा, ३ बोलना] प्र०—जहाँ किसी को मनाने में अनेक उपाय किए जायँ।

क्वै बोद[1] क्या खौं, क्वै बोद कीमां[2] खौं। [१ बोलता है, २ काहे में अर्थात् किस साग के साथ] प्र०—अमीर और गरीबों की तुलना पर।

क्वै भैरों कि केरी[1] का, क्वै नरसिंह कि केरी का। [१ उपासक, पूजनेवाले] प्र०—जहाँ सबका एक मत न मिले, सबकी राय भिन्न भिन्न हो।

कोली[1] कोलिणी बिना नाटो। [१ कोरी] प्र०—मूल कारण के न होने से परिणाम के अभाव पर।

कौड़ी पर काल गाटेणो[1] ठीक नी। [१ रोकना] प्र०—छोटी सी बात पर काम को रोकने पर।

कंडाली[1] लगैक[2] गौदान कखछौ। [१ बिच्छूझाड़, २ लगाकर] प्र०—जहाँ किसी से कोई काम उसकी इच्छा के विरुद्ध करवाया जाय।

कुत्ता क्या देखणा कुत्ता को ठाकुर देखणा । प्र०—जहाँ मालिक की मुरौवत से उसके नौकर की उद्दंडता क्षमा कर दी जाय वहाँ।

कुत्ता खै न बासी रौं । प्र०—जहाँ कोई बात उचित परिमाण से की जाय ।

कूट्यां पीस्यां कि नी चुमकी[1] पौणो आइ पौंछो रुमकी[2] । [१ फाँक, चुटकी, २ शाम को अँधेरा होने पर] प्र०—जहाँ तंगी के समय खर्चीला काम आ पड़े वहाँ ।

केतूकी[1] कांडी अर मुसेली[2] की माटी । [१ अपामार्ग का काँटा, २ चूहे के बिल की मिट्टी] प्र०—जिस पर सारे झगड़े का दार-मदार और मूल हो ।

केदार[1] न कमायो, मद्मू[2] न समायो । [१ केदारनाथ, २ मध्यमेश्वर] प्र०—जहाँ किसी की कमाई और कोई खावे ।

कैको डालो[1] सुप्पो, कैको सोनो[2] रूपो । [१ अनाज भरने के बर्त्तन, २ सोना-चाँदी] प्र०—किसान और महाजनों की तुलना पर ।

कै घट्ट फूले । प्र०—जहाँ कोई बूढ़ा नादानों की-सी बातें करे ।

कैं चुच्ची[1] रांड द्यूरैं भौजैं[2] नि स्वाव[3] । [१ बेचारी, २ देवर भाभी का सा व्यवहार, मसखरी मजाक, ३ अच्छी न लगे] प्र०—जहाँ कोई मनोवांछित वस्तु बिना प्रयत्न मिल जाय ।

क्वै जौ घ·ड़ा का मोल, क्वै जौ घोड़ा का मोल । प्र०—जहाँ किसी गरीब को छोटा सा भी नुकसान असह्य हो जाय ।

कै दिनू नौ नौ साड़ा[1] कै दिनू निनंग नागा[2] । [१ साड़ी, २ बिलकुल नंगा] प्र०—जहाँ किसी की हालत पहिले अमीरी की और पीछे गरीबी की हो जाय ।

कै दी[1] धित्यैं[2], कै बोलि[3] पत्यौं[4]। [१ देकर, २ संतोष कराना, ३ बातों से, ४ मना लेना] प्र०—जहाँ भिन्न भिन्न उपायों द्वारा किसी न किसी प्रकार सबको प्रसन्न कर दिया जाय।

कै न खाये खासू मासू[1], कै आया पितलाण्या[2] आँसू। [१ हिलवान का मांस, २ पीले, पीतल के रंग के] प्र०—जहाँ मौज कोई और उड़ावे और मुसीबत किसी और पर आवे।

कै न खाये घ्यूकसार[1], को होये लंपसार[2]। [१ घी और कच्चा हलुवा, २ टाँगें लंबी करके लेट जाना] प्र०—ऊपर के मुवाफिक।

कैं बुधि[1] मेरा लाटा[2] बाच[3] आव। [१ बुद्धि, उपाय से, २ गूँगा, ३ बोलना] प्र०—जहाँ किसी को मनाने में अनेक उपाय किए जायँ।

क्वै बोद[1] क्या खैं, क्वै बोद कीमां[2] खैं। [१ बोलता है, २ काहे में अर्थात् किस साग के साथ] प्र०—अमीर और गरीबों की तुलना पर।

क्वै भैरों कि केरी[1] का, क्वै नरसिंह कि केरी का। [१ उपासक, पूजनेवाले] प्र०—जहाँ सबका एक मत न मिले, सबकी राय भिन्न भिन्न हो।

कोली[1] कोलिणी बिना नाटो। [१ कोरी] प्र०—मूल कारण के न होने से परिणाम के अभाव पर।

कौड़ी पर काल गाटेणो[1] ठीक नी। [१ रोकना] प्र०—छोटी सी बात पर काम को रोकने पर।

कंडाली[1] लगैक[2] गौदान कखछो। [१ बिच्छूझाड़, २ लगाकर] प्र०—जहाँ किसी से कोई काम उसकी इच्छा के विरुद्ध करवाया जाय।

कँदुड़ू[1] तेल डाली कि प.ड्यू ंछ[2]। [१ कान में तेल डालकर, २ पड़ा हुआ है] प्र०--जब कोई जरूरी काम को करने की चिंता न करे बेफिक्र पड़ा रहे।

खणीक[1] खाड अर गणीक[2] दोष[3]। [१ खनकर, खोदकर, २ किसी ज्योतिष से प्रश्न पूछकर, ३ ग्रह इत्यादि की क्रूर दृष्टि। प्र०—फलित ज्योतिष की असारता पर।

खड़[1] खैक[2] भड़[3]। [१ सागपात, २ खाकर, ३ भट, वीर] प्र०—जहाँ सागपात खानेवाले गरीब बलवान् दिखाई दें।

ख·ती ना,[1] बल उकन्नू[2] छौं। [१ बखेरना मत, २ बटोर रहा हूँ] प्र०—जहाँ मनादी करने से पहले ही मनादीवाला काम कर दिया जाय।

ख·ल़ाका[1] गोस्यू[2] डडवार[3] की स्याणी[4]। [१ खलियान के, २ मालिक, ३ अनाज जो किसी को खिदमत के बदले खलिहान ही से दिया जाता है, ४ प्रबल इच्छा, अभिलाषा] प्र०—जहाँ मालिक को अपनी चीज के लिये दूसरे की मिन्नत करनी पड़े।

ख·ल़ा साट्टी,[1] भोल़[2] ब्यौ[3]। [१ धान, २ कल, ३ विवाह] प्र०—जहाँ किसी काम को करने के लिये उपयुक्त समय न रह गया हो।

खस्या[1] का खस्या भी होया, खपकै[2] खपक[2] भी खाई। [१ निम्न श्रेणी के क्षत्रिय, २ मार] प्र०—जहाँ सब प्रकार नुकसान ही नुकसान उठाया जाय अर्थात् तिरस्कार भी हो और लाभ कुछ न हो।

खाज[1] खाणो, पीज[2] पांजणो[3]। [१ अनाज जो केवल खाने के लिये रखा गया हो, २ बीज का अनाज, ३ हिफाजत से रखना] प्र०—वस्तुओं का समुचित प्रयोग करने की उपयोगिता पर।

खाजा[1] खाया, कंडा[2] लमडाया[3]। [१ कलेवा, २ टोकरा, ३ गिरा दिया] प्र०—उपयोगी तथा अनुपयोगी वस्तुओं के यथोचित प्रयोग के लिये।

खाण[1] बांट होंदी पर सेण[2] बांट नीहोंदी। [१ खाने की वस्तु, २ सोने की शय्या] प्र०—सोना एक साथ न हो सकने पर।

खाणी न पेणी घुंडु[1] घुंडु टेणी[2]। [१ घुटनों तक, २ दर्द होना] प्र०—जहाँ परिश्रम अधिक और लाभ कुछ न हो वहाँ।

खाणो पेणो गढ़[1] रौंतेलो[2] कुमैं[3]। [१ गढ़वाल, २ रमणीय, ३ कुमाऊँ] प्र०—गढ़वाल और कुमायूँ की तुलना पर।

खांदी[1] नजीक[2] न जुबान तराश[3]। [१ इकरार, २ नजदीक, ३ काटनेवाली] प्र०—जहाँ कोई दबा हुआ होने पर भी शेखी बघारे वहाँ।

खायो न पायो मर्नकु आयो। प्र०—जहाँ कोई दुःख ही दुःख उठावे लाभ कुछ भी न हो।

खार[1] दैण[2] भूख, सौ कठालू[3] नाँग[4]। [१ सोलह मन, २ लाई, सरसों, ३ बकरी, ४ कपड़ों की तंगी] प्र०—जहाँ अनुपयोगी वस्तु प्रचुरता से होने पर तंगी रहे वहाँ।

खाला पेला गौरू का, डाँड दैला औरू का। प्र०—जहाँ मौज कोई और उड़ावे और सजा किसी और को मिले।

खालो पेलो मेरो भुज्जा[1], छौं[2] ढालन[3] कु तु जा। [१ नाम-विशेष, २ मैला, ३ फेंकने को] प्र०—जहाँ लाभ किसी और को हो और मेहनत करनेवाले को कुछ न मिले।

खिमसिंह खायो, विरसिंह उस्यायो[1]। [१ सूजन आई] प्र०—जहाँ बेकसूर को दंड मिले और कसूर करनेवाला पूछा भी न जाय।

खुट्टू[1] खोसड़ा[2] चुफला[3] नाँगा[4]। [१ पैरों में, २ जूते, ३ चुटिया, ४ नंगी] प्र०—जो तंगदस्त होने पर भी अमीरों की नकल करना चाहे उस पर।

खेती खसम सेती। प्र०—खेती अपनी ही देख-रेख पर चल सकती है इस पर।

खैजाणो[1] केली को पात, निखैजाणो कपाली हाथ। [१ खाने का सलीका हो] प्र०—किसी लाभदायक पर नाजुक काम में हाथ डालनेवाले को कहा जाता है।

खै नि जाण्यो खसम कांगो[1], नाच नि जाण्यो आँगण बांगो। [१ गरीब, २ टेढ़ा] प्र०—जो अपनी बेवकूफी को दूसरों के सिर मढ़े उस पर।

खोज कर्न ते पहरो करनो भलो। प्र०—किसी काम के बिगड़ने से पहिले ही सुधारने की चेष्टा करते रहने के लिये।

खो कोली[1] डड्यो[2] लुहार। [१ कोरी, २ जले] प्र०—जहाँ कोई तो कष्ट उठाय और कोई दूसरा मौज करे।

खो बाघ लाल खाब[1], नि खो बाघ लाली खाब। [१ खुला हुआ मुँह] प्र०—लाभ के स्थान में हानि होने पर भी कोई विश्वास न करे तब।

गढ़ै[1] ते मढ़ै[2] खै जांदी। [१ गढ़ाई, २ मढ़ाई] प्र०—जहाँ मरम्मत का खर्च मूल्य से बढ़ जाय।

गणन पर हाथ का.लो, हरचण पर[1] मुख कालो। [१ खो चाने पर] प्र०—रुपए के अवगुण पर।

गथू का बीज लेण गैळ्यो सोंटू का फला खांदी आयो। प्र०—जहाँ कोई किसी काम को इतना विलंब से करे कि उसका आवश्यकता ही न रह जाय।

गरीब गत्ता[1], फटीं लत्ता। [१ गात्र, देह] प्र०—तंग-दस्ती की हालत पर कहा जाता है।

गरुडू का येंदुड़ा। प्र०—कुसंतानों पर।

गल्का[1] खाणा, हुल्का[2] तापणा। [१ मँगनी के कौर, २ फूस की आग] प्र०—निठल्ले, काम न करनेवाले, निरुद्यमी पर।

गला जाँद गास, अर नाक जाँद सीत[1]। [१ भात का कण] प्र०—जहाँ कोई अन्याय की बात छोटी ही क्यों न हो पर असह्य हो।

गाड जैल्यो गाडी अड़ाली, भेल जैल्यो भेली अड़ालो। नासमझ सर्वत्र ठोकर खाता है।

गड़लो[1] उकलिक[2] फलो[3]। [१ चढ़ाई, सीढ़ी, २ चढ़कर, ३ कूदना] प्र०—"उकाल् काटीक सर्वट" के मुवाफिक।

* **गाजी[1] गँवाइक बणिया स्याणो[2]।** [१ कपड़ों की गठरी, २ सावधान] प्र०—जहाँ काम बिगड़ जाने पर उपाय सूझे।

गाडपार सैलाका[1] बाबू को क्या लगद। [१ साही के] प्र०—जहाँ कोई काम किसी की पहुँच के अथवा अधिकार के बाहर हो।

गाडवार[1] लगलो[2] गाडपार[3] तुमड़ो[4]। [१ नदी के इस पार, २ बेल, ३ नदी के उस पार, ४ तूंबी] प्र०—जहाँ कोई संबंध न घटित होता हो।

गाड क दिन राँड दिखदी नी च, बोद[1] लौ[2] माछा[3]। [१ कहती है, २ लाओ, ३ मछली] प्र०—जहाँ कोई स्वभावतया न पूरी की जा सकनेवली माँग पेश करे।

गाडा' डूमको[1] गायूँ न बजायूँ[2]। [डोम का, २ गाया हुआ न बजाया हुआ] प्र०—जहाँ गरीब के किए हुए अच्छे काम की भी कोई कदर न की जाय।

---

* चौरे गते का किमु सावधानम्।

गाण पूरी[1] थैला रीता[2]। [१ गिनती पूरी, २ थैले खाली] प्र०—जहाँ कहीं हिसाब ही से लेन-देन पूरा हो जाय। किसी को कुछ न मिले।

गांदारा[1] की गली[2] अर नाचदारा[3] को घैर। [१ गानेवाले की, २ कंठ का मीठा स्वर, ३ नाचनेवाले] प्र०—उक्त दोनों बातों पर।

गाल्यूं न मनखी नि मरदा, ताता पाणीन कूड़ा नि फुकेंदा। प्र०—गालियों की निष्फलता पर।

ग्वालो गणो न गोस्यूँ पूछो। प्र०—जो बिना किसी के माने आप ही मुखिया बनना चाहे उस पर।

गास देणो पर बास निदेणो। प्र०—अपरिचित अथवा संदेहजनक को वास देने पर।

गिच्चा[1] का बाबू को क्या जाँद। [१ मुँह] जो करे कुछ नहीं और हाँके बड़ी बड़ी उस पर।

गिच्चा सुवाक[1] न कपाली भाग। [१ मधुर भाषण] प्र०—अभागों के लिये।

गिच्ची बोलदी, कपाली हैंसदी[1]। [१ हँसती है] प्र०—जिसके मनसूबे निष्फल जायँ।

गुजर गई गुजरान क्या झोपड़ी क्या मैदान। प्र०—जहाँ छोटी जगह पर गुजर हो जाय।

गुण को मारयूँ हेरो[1] उंदो, थप्पड़ को मारयूँ हेरो उब्बो। [१ देखे] प्र०—कृतज्ञ व्यक्ति की प्रशंसा में।

गुरू गुड़ ही रैग्या चेला शक्कर ह्वैग्या। प्र०—जहाँ गुरु से चेला बड़प्पन पावे।

गुस्सा मां क्या नि बोलेंद अर अकाल मां क्या नि खायेंद। प्र०—गुस्से में कही कई गई बातों की क्षमा माँगते हुए।

ग्यूं खैक जौ मिट्ठा कख छया । प्र०—जो पहिले आरामतलब हो जाता है उससे मिहनत कैसे हो सकती है ? ऐसे प्रसंग पर ।

ग्यूँ ग्यूँ रासी, जौ जौ रासी । प्र०—जहाँ स्वाभाविक ही मेल हो ।

ग्यूँ दगड़ी घूण पिसाई । प्र०—जहाँ कसूरवाले के साथ बेकसूर मारा जाय ।

ग्यूं खोली जौ खोल । प्र०—जहाँ खोटे-खरे भले-बुरे में कुछ फर्क न हो ।

गेड़ी न पल्ला, द्वी ब्यो कल्ला । प्र०—जो अपनी सामर्थ्य से बाहर के मनसूबे बाँधे उस पर ।

गैरी[1] छल बकलो[2] मोल[3] । [१ गहरी, २ घना, ३ खाद] प्र०—खेती के परिश्रम पर ।

ग्वैर गणो न गुसैं पूछो । प्र०—जिसकी कहीं गिनती न हो ।

गोठ नि धरी एक रात, खंतड़ी[1] फूकी पाँच हात । [१ रजाई] प्र०—जो काम थोड़ा और नुकसान अधिक करे उस पर ।

***गोणी अपणो पूछ छोटो ही देखद ।** प्र०—जो अपने अवगुणों को न देखे और दूसरों के वैसे ही अवगुणों पर नाम धरे उस पर ।

गोणी मारिक न र[1] न चाम । [१ मांस] प्र०—जहाँ दूसरे को कष्ट दे के कुछ भी लाभ न हो ।

---

* पर को अवगुण देखिहै अपनो दृष्टि न होय ।
दीप उजेरो करत है तले अँधेरो होय ॥—वृंद

गोरू का किन्ना फिट[1] जौन, सँदुला को ज्यूपलजौ[2]। [१ निबट जाय, २ जीव पल जाय] प्र०—जहाँ बड़े के आसरे छोटे की गुजर हो जाय।

गोरु भैंसा एक्कु सेटुगो[1]। [१ छड़ी] प्र०—जहाँ भले-बुरे छोटे-बड़े सबके साथ एक ही बर्ताव किया जाय।

गौं को सयाणो कख छ? बल चोरी। प्र०—जहाँ बुराइयों को रोकनेवाला स्वयं बुरे काम करता हो।

गौं छोड़नो पर मौ[1] नि छोड़नी। [१ मवासा] प्र०—पंक्ति भेद न करने के लिये।

गौं जैक बात, बण जैक पात। प्र०—जहाँ कोई ऐसा न करे।

गौं जो पर नौं नि जो। प्र०—बदनामी से बचने के लिये।

गौं माथे[1] ढुमाणो[2], दिन रात को ढुँग्यो। [१ ऊपर, २ पत्थर पड़ना] प्र०—बुरी संगत के कुफल की निंदा पर।

गंगा गये गंगादास, जमुना गये जमुनादास। प्र०—मुँहसुहाती कहनेवाले पर।

गंगा बगौ[1] उंदो[2], पटूवाण[3] बगौ उब्बो[4]। [१ बहावे, २ नीचे, ३ चतुर मनुष्य, ४ ऊपर को] प्र०—चतुर पुरुष की चतुराई की प्रशंसा पर।

गँवार को मन यँवार[1]। [१ थामना, प्रतीति दिलाना] प्र०—जहाँ किसी बेवकूफ को समझाने में झूठ सच कहना पड़े।

घट्ट फूटो घट्ट की रांड[1], पनालो टूटो घट्ट की रांड। [१ दुर्वचन, गाली] प्र०—जहाँ छोटों के किए हुए कामों के दोष बड़े के मत्थे मढ़े जायँ।

घड़ा को मुख बुजेंद[1] परघड़यांसा[2] को मुख नि बुजेंद। [१ बंद करना, २ काल, दुनिया] प्र०—जहाँ कोई बदनामी की बात यत्न करने पर भी फैल जाय।

घर का जोगी जोगणा बण का जोगी सिद्ध। प्र०—जहाँ परिचित व्यक्ति के गुणों की कदर न हो और अवगुणवाले अपरिचित की प्रधानता हो।

घर का न घाट का कखी का निरया
घर खोई घर कूड़ी बण खोई पित्र कूड़ी } प्र०—जिसको सभी ओर से नुकसान ही नुकसान उठाना पड़े उस पर।

घर घर मट्टी का चुल्ला। प्र०—जहाँ सब ही तंगदस्ती की हाल पर हों।

घर न बार, मुहल्लादार। प्र०—जो घर का नंगा होने पर भी बड़ी बड़ी डींग मारे उस पर।

* **घर निछंदी[1] आटो गीलो।** [१ अभाव] प्र०—जहाँ मन तो हो पर घर में तंगी हो।

घर भेदू लंका बिणाश। प्र०—घर भेदू की बुराइयों पर।

† **घरमां पड़ी फूट, भैर पड़ी लूट।** प्र०—फूट की बुराई पर।

घर रया न तीरथ गया। प्र०—अधूरा काम छोड़नेवाले पर।

घर की आधी भली। प्र०—घर पर रह कर छोटी भी नौकरी पर संतोष करने के लिये।

घर की दारू[1] बुथली[2]। [१ बारूद, २ गोली] प्र०—जहाँ घर ही में रहनेवाला भीतर के भेद को बाहर बतावे।

घर को बैद अर कोरणा[1] की दवाई। [१ मकान के पीछे की गली] प्र०—जहाँ नजदीक बसनेवाले गुणवान् की कदर न हो।

---

* शौक पैदा कर दिया बँगले का और पतलून का।
यह मसल है मुफलिसी में आटा गीला कर दिया ॥—अकबर।

† स०—फूटे ते नरद उठ जात बाजी चौसर की, आपस के फूटे कहो कौन को भलो भयो।

घस्यू[1] घाट तरयू[2] जंगार[3]। [१ घिसा हुआ, २ तैरा, ३ नदी में पैदल तैरना] प्र०—जहाँ पुरानी मित्रता में नई मित्रता करने का मौका पड़े।

*** घास्सी[1] घोड़ा कापल्या[2] पैक[3]।** [१ केवल घास पर गुजर करनेवाला, २ केवल हरे शाक पर गुजर करनेवाला, ३ सिपाही] प्र०—जहाँ टुकड़खोर नौकरों से काम बिगड़े।

घुगती मारी मैं जुगती[1], तितरी मारी मैं भितरी[2]। [१ योग्य, २ भीतर] प्र०—जो सभी जगह अपना ही स्वार्थ साधे उस पर।

घुसघुसी क सोरा[1] धोइधोई क गोरा, कखळ्या! [१ सगोत्री] प्र०—जन्मसिद्ध स्वभाव तथा अधिकार की अटलता पर।

घुस्या[1] हाकम रुस्या[2] चाकर। [१ घूस खानेवाला, २ रोष करनेवाला] प्र०—जहाँ ऐसे हाकिम व चाकर हों वहाँ के अनर्थ पर।

घ्यूका घड़ा उंदो भी डाला पर रूखा ही रूखा। प्र०—उपकार को न माननेवाले पर।

घ्यूको कबाड़[1] यरा[2] मै, शहद को कबाड़ ऐंच[3]। [१ कपट, २ नीचे, ३ ऊपर] प्र०—जहाँ बातों से किसी का अंदरूनी भाव प्रकट हो जाय वहाँ।

घ्यू खतेयो[1] दाळीमां[2]। [१ गिरा, २ दाल ही में] प्र०—जहाँ हानि होने पर भी लाभ हो।

घ्यू घड़ी फूटी कवों को राज। प्र०—जहाँ किसी उद्यमी पुरुष की जोड़ी हुई संपत्ति निरुद्यमियों के अधिकार में पड़े।

घोखंत विद्या सोधंत वाणी। प्र०—इन्हीं दोनों बातों की उपयोगिता पर।

---

* रोटिया चाकर घसिया घोड़, खावे बहुत चले थोड़।

घोड़ा का दगड़ा काठी भी। प्र०—जहाँ एक हानि के साथ दूसरी भी आवश्यक रूप से हो जाय।

घोड़ा से लपोड़ा[1] बड़ो। [१ झंझट] प्र०—घोड़े के लिये घास-दाना न मिलने पर अथवा जहाँ कहीं किसी काम के करने में कई झंझट आ पड़ें, वहाँ।

चटुवा चाटिगे बिटवा बीटिगे, भलभला मणसू[1] कोटिगे[2]। [१ मनुष्यों को, २ नीचा दिखा गया] प्र०—जहाँ नुकसान करनेवाले भाग जायँ और संगत के कारण भलेमानसों को झंझट में फँसना पड़े।

चतुर[1] का चार जगा। (१ चालाक) प्र०—जहाँ चालाक अपने बुरे काम से फँस जाय।

चपासीजी चलिग्या, पर गँठली छोड़िग्या। प्र०—जहाँ कोई जाड़े से ठिठुरकर गँठड़ी के मुवाफिक बन जाय।

चमड़ी जौ पर दमड़ी नि जौ। प्र०—बड़े कंजूस के लिये।

चलतीका यार सबी होंदा। प्र०—जहाँ किसी अधिकारी धनवान् को प्रथम केवल लालच से खुशामदी लोग घेरे रहें पीछे उसे पूछें तक नहीं वहाँ।

चलबे थैला, जखी जौला तखी खैला। प्र०—जिसकी गुजर केवल भीख पर हो।

चलबे रांगड़ा[1], तला पोंगड़ा[2]। (१ बूढ़ा बैल, २ खेत) प्र०—बुढ़ापे में बेकदरी होने पर।

चलो रांड को चर्खा या सूंजी को पेट। प्र०—मनचले दोस्तों के बीच 'चल' कहने पर मजाक के लिये।

चाकरीमां नाकरि कख छै। प्र०—नौकरी में किसी काम को करने के लिये इनकार नहीं किया जा सकता।

चाड[1] बड़ी कि चतुरैं बड़ी । (१ जरूरत, गरजवंदी) प्र०— जहाँ गरज पड़ने पर चतुर मनुष्य को किसी अनाड़ी की खुशामद करनी पड़े ।

चाड़ी कू बाड़ी[1] खाण पड़द । (१ मडुवा का बिना घी-गुड़ का हलुवा) प्र०—जहाँ गरजवंद को असुविधाओं का सामना करना पड़े ।

चाँद्वी की जुत्तो पर्वत कू उजाड़दी । प्र०—धन की प्रधानता पर ।

चार दिन की चाँदणा फेर अँध्यरी रात । प्र०—थोड़े दिनों के अधिकार की अनित्यता पर अथवा जवानी पर ।

चार बुलाया चौदह आया । प्र०—बे बुलाए आनेवालों पर।

चार गैं का सयाणी अठार गैं का रौ, मेरा काम नि आयेत ऐसी तैसी मां जौ । प्र०—जिस धनवान् या अधिकारी से किसी को सहायता न मिले उस पर ।

चिड़ी चारा आं पाप खारा मां । प्र०—जो बिना प्रयोजन किसी की बुराई करे उस पर ।

चिण्यां कूड़ा[1] अर जण्यां नौना[2] । (१ चुने हुए मकान, २ पैदा किये हुए लड़के) प्र०—जहाँ किसी को बिना परिश्रम किए पराई संपत्ति मिल जाय ।

चुल्ला आग न घड़ा पाणी । प्र०—जिस घर में बड़ी देर तक रसोई न चढ़े ।

चुल्लो बोलद मैन बावन व्यंजन पकायां, औंधी[1] बोल्द मैं दगडै त छौं । [१ चूल्हे का ऊपरी भाग] प्र०—जहाँ किसी की झूँठी डींग मारने पर कोई दूसरा खंडन करे ।

चुल्ला को भेल[1] । [१ चट्टान] प्र०—जहाँ बेखतरेवाली जगह में भी खतरा हो ।

चूतिया मरिग्या औलाद छोड़िग्या। प्र०—जो मूर्ख समझाने पर भी न समझे उस पर।

चोर की दाढ़ी मां तिनका। इसकी कहानी इस तरह कही जाती है कि एक चोरी के मामले में बहुत से दाढ़ीवाले शुबहा पर पकड़े गए थे पर उनमें से असली चोर का पहचानना कठिन हो रहा था। तहकीकात करनेवाले अफसर ने सबको सामने खड़ा करके कहा कि "चोर की दाढ़ी में तिनका" लगा हुआ है। इस पर जो असली चोर था उसने अपनी दाढ़ी को हाथ से पोंछा, बस क्या था। अफसर ने उसे पकड़कर सारा चोरी का माल बरामद कर दिया। तब से यह कहावत चल पड़ी। जब कहीं कोई अपराधी किसी बात पर झेंप जाता है अथवा चौंक पड़ता है तब इस कहावत का प्रयोग करते हैं।

चोर गीज्यो[1] काखड़ी, बाघ गीज्यो बाखरी। [१ आदी हुआ] प्र०—बुरे काम पहले छोटे छोटे किए जाते हैं पीछे बड़े बड़े करने का साहस हो जाता है इस पर।

चोर चरचरो, जार जरजरो। प्र०—जहाँ अपराधी अपने को निरपराध होने के लिये रोब दिखलावे।

चोर चै कोथलो[1] उताणो[2]। [१ थैला, २ चित्त पड़ना) प्र०—जहाँ कोई मार पड़ने से पहिले ही लंबा पड़ जाय अथवा कोई किसी बात का उचित उत्तर देने से पहिले ही रोने लगे या हल्ला मचावे।

चोर भला बेकूफ बुरा। प्र०—बेवकूफ की बेवकूफी पर।

चोर का सौ दिन, साहू को एक दिन। प्र०—चोरी की आदतवाला एक न एक दिन पकड़ा ही जाता है इस पर।

चोर सूं चोरी करौ, साहू सूं जाग[1] दिलौ। (१ चोर का पता बतावे) प्र०—जो दो को लड़ाने के लिये प्रयत्न करे उस पर।

चोरी निकरे सेणकी[1] डोबे[2]। (१ सींक, २ डुबोई)
प्र०—जो अपने कसूर को घटाकर कबूल करे उस पर।

चोर को माल चंडाल खौ। इसकी मूल कहानी यह है कि दो चोर कुछ माल चुराकर एक जंगल में गए। वहाँ उन्हें भूख लगी तो एक चोर मिठाई लेने बाजार चला गया। जब वह मिठाई लेकर जंगल में पहुँचा तो उसके दिल में लालच आ गया। उसने सोचा कि मैं मिठाई में विष मिलाकर दूसरे को मार दूँ तो कुल माल मैं ही ले जाऊँ। इसी तरह जो जंगल में माल के पास बैठा था उसने भी सोचा कि यदि मैं दूसरे को मार सकूँ तो कुल माल मुझे मिल जाय। ज्योंही दूसरा चोर मिठाई लेकर उसके पास पहुँचा तो उसने तलवार से उसे काट गिराया और आप बैठकर मिठाई खाने लगा। मिठाई में विष था उसको खाकर माल के पास-वाला चोर भी मर गया। जब उन दोनों की लाश सड़कर बू फैली तो लोगों ने उस बू को दफनाने के लिये एक भंगी को वहाँ भेजा। भंगी ने उन दोनों की लाश दफनाते हुए पास में उस माल को भी पाया जो वे दोनों चोरी कर ले गए थे। तब से यह कहावत चल पड़ी। जहाँ कहीं किसी का अनीति से जोड़ा हुआ माल किसी दूसरे के हाथ मुफ्त लग जाता है वहाँ इसका प्रयोग करते हैं।

चोर को साखी बटमार। प्र०—जहाँ कोई बुरा किसी बुरे की तरफदारी करे वहाँ।

चंडाल चौकड़ी। प्र०—बदमाशों की पंचायत।

छ बोलिक[1] छै नाली[2] लेबोलिक बार नाली[3]। (१ है, २ छपा था, ३ बारह पाया) प्र०—बेचनेवाले और खरीदने-वाले की गरजवंदी की निर्ख की चढ़ा-उतरी पर।

छांछ मांगण जाणो अर टिटरो[1] लुकौणो[2]। (१ छाछ का बर्तन, २ छिपाना) प्र०—जहाँ कोई किसी काम को करते हुए शरमावे।

छुईं[1] अर छांच जतनै बढ़ावा। (१ बात) प्र०— बातों का विस्तार बढ़ानेवाले पर।

छुँयाल् आदिम अर लम्बो धागो अलझी जाँद। प्र०—इन दोनों पर।

छुँयाल्[1] रती[2] छुयूँ[3] भूली, पुंगड़ी पाटली[4] मलझा[5] फूली। (१ बातूनी, २ कुटनी, ३ बातों में, ४ खेती-बारी, ५ खड़ फूल गए) प्र०—जो गप-शप में रहकर काम बिगाड़ दे।

छैसेर पिस्यूँ नौसेर भगोलो[1]। (१ पिसाई) प्र०— जहाँ लागत का खर्च कीमत से बढ़ जाय।

छोट्टा की बाण[1] ठुला की धाण[2]। (१ आदत, २ काम) प्र०—छोटे लड़कों को काम करने की शिक्षा देते हुए कहा जाता है।

छोट्टा कू बड़ो बड़ा कू बाघ, बाघ कू जिबालो[1] जिवाला कू आग। (१ बाघ को मारने की कल) प्र०— जहाँ एक से एक बढ़कर बलवान् हों।

छोट्टा गिच्चा[1] बुबाजी की द्वाई[2]। (१ मुख, २ कसम) प्र०—ताकत के बाहर झूठी डींग मारनेवाले पर।

छोट्टा मुख बड़ी बात। प्र०—ऊपर के मुवाफिक।

छोट्टो पुजै पाँची भांडा, ठुलो पुजै पांची भांडा। (१ वर्तन) प्र०—जहाँ काम के छोटे या बड़े होने पर भी खर्च एकसा हो।

छोट्टी पूँजी खसम खाँदा। प्र०—छोटी पूँजी से तिजारत करने में जहाँ टोटा पड़े वहाँ।

छोड्यां[1] नौना अर बग्यां पुंगड़ा[2] कखझ्या भला? (१ छोड़े हुए लड़के, २ बहे हुए खेत) प्र०—इन्हीं दोनों पर।

छाड्यां गैां का क्या नौ। प्र०—जो संबंध त्यागे हुए लोगों का नाम लेकर अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाना चाहे उस पर।

छोरा न पैन्या जोड़ा आनै देखी थोड़ा। (१ दुनिया) प्र०—जहाँ कोई कमीना कुछ पद पाकर सबको तुच्छ समझने लगे।

छोरा को मुंडेणो अर ढांडा[1] को पड़नो। (१ ओला) प्र०—जहाँ किसी पर एक विपत्ति के साथ ही कई विपत्तियाँ पड़ जायँ।

छँदा[1] पालौ[2] हाथ डाढिणो[3]। (१ मौजूद होने पर, २ करछी, ३ जलाना) प्र०—जहाँ कोई सुविधा का सामान होने पर भी असुविधा से काम करे।

छंदी की बलिहारी। प्र०—संपत्तिवान् के ऐश्वर्य पर।

छंदी को छबलाट, निछंदी की रोई। प्र०—संपत्तिवान और दरिद्रों की तुलना पर।

जख कुखड़ो नि होंद[1] तख रात सी क्या नि ब्याँदी। (१ खुलती) प्र०—जहाँ कोई किसी के बुलावे पर न आवे, अकड़ा रहे, खुशामद चाहे वहाँ।

जख घड़ो तख हीलो[1]। (१ गीला) प्र०—जहाँ साथ रहनेवालों में कुछ अनबन हो जाय।

जख जोशी चार, तख दिन न बार। प्र०—जहाँ जाननेवालों के होते हुए अजानों के से काम हों।

जख जौ नन्या गल[1] तख अनमन[2] भाँति कल[3]। (१ बछड़ा, साँड़, २ तरह तरह की, ३ झगड़ा) प्र०—झगड़ालू आदमी पर।

जख जौ भग्‍गू नयाल[1] तख नौ हाथ खयाल[2]। (१ एक आदमी का नाम, २ खाई) प्र०—अभागे मनुष्य पर।

जख देखी तवा परात, तख बिताई सारी रात। प्र०—ऐसे पेटू मनुष्य पर जो बिना बुलाए जीमने चला जाय।

जख नाक तख सोनो नी, जख सोनो तख नाक नी। प्र०—जहाँ धन हो पर संतान न हो अथवा संतान हो पर धन न हो।

जख पंच तख परमेश्वर। प्र०—पंचों की सुबुद्धि अथवा न्याय पर।

जख बसणो तख घसणो[1]। (१ लीपना-पोतना) प्र०—वासस्थान को साफ रखने के लिये। कभी कभी उस मनुष्य पर भी कहा जाता है जो अपने आश्रयदाता की तरफदारी करे।

जख यत्ती[1] तख तत्ती[2]। (१ इतना, २ उतना) प्र०—जहाँ कहीं खर्च करने में कुछ कमी पड़ जाय वहाँ उस कमी को पूरा करने के लिये।

जख रात तख थात[1]। (१ बड़ी बस्ती) प्र०—जिसका कहीं घर नहीं उसके लिये कहा जाता है तथा बटोही लोग शाम हो जाने से टिक जाने के लिये भी कहते हैं।

जख स्यूणो[1] नि छोरी[2] तख साबलो[3] कोचा[4]। (१ सूई, २ न समाय, ३ सबल, ४ जोर से डालना) प्र०—जहाँ से कुछ मिलने की आस न हो वहाँ से जो बहुत हासिल करे उस पर।

जड़ा तेल डालणो। प्र०—चुपके से सर्वनाश के उपाय करनेवाले पर।

जड़्या[1] निखाये कड़्या[2] खाये। (१ लाई का साक, २ कडुवे घास का साक) प्र०—जहाँ बिना विचारे कोई ऐसा काम शुरू किया जाय जिससे बड़ा कष्ट हो।

जतना छोट्टो ततना खोटो। प्र०—छोटे के खोटेपन पर।

जन राजा तन परजा। प्र०—जहाँ कोई राजा या राजा की जाति के लोगों का ऐसा अनुकरण करे जो अपनी परंपरा के विरुद्ध हो।

जदकद गंगा सैरैं पार। प्र०—अवश्य होनेवाली बात के न टलने के लिये।

जनकना कापला[1] ते आगतापला। (१ हरा साक) प्र०—अनुपयोगी या अवांछित लाभ पर।

जन्मपत्री सभी देखदा कर्मपत्री कोई निदेखद। प्र०—जहाँ जन्मपत्र में लिखी हुई या ज्योतिषी की बताई हुई बात न हो।

जनानो[1] बुझौणो[2] अर कणको[3] रुजौणो[4]। (१ स्त्री, २ संतोष कराना, ३ आटा ४ भिगोना) प्र०—जहाँ स्त्रियों को सहज में प्रसन्न किया जाय।

जना मैड़ा[1] तना जैड़ा[2]। (१ माँ, २ संतान, लड़का-लड़की) प्र०—जहाँ संतान पर माँ के गुण अधिक हों अथवा जहाँ संतान बाप के प्रतिकूल और माँ के अनुकूल रहे।

जना होया तना नि होया। प्र०—कुसंतान पर।

जनि[1] गोस्यं की[2] निदेंदी बाण[3], तनि ल्वार की[4] लचलची[5] पाण[6] (१ जैसी, २ मालिक की, ३ आदत, ४ वैसीही, ५ कच्ची, मुड़नेवाली, ६ हथियार की धार) प्र०—जहाँ काम करानेवाला और करनेवाला दोनों कपटी हों।

जनि दुद्ध तनि बुद्ध। प्र०—जहाँ संतान पर माँ के गुण पाए जायँ।

जनि नेथ[1] तनि बरकत। [१ नीयत] प्र०—कम नीयत अथवा अनुदार व्यक्ति पर।

जनि रसाल[1] छै पूंडी,[2], तनि दुधाल[3] दिक[4] हूंदी। (१ राँभनेवाली, २ गाय का नाम, ३ दूध अधिक देनेवाली, ४ भी) प्र०—जो सिर्फ मीठी बातें कहे, देवे कुछ नहीं, उस पर।

जनि वली मांडा[1] तनि पली मांडा। (१ धर्मशाला) प्र०—जहाँ दोनों में एक भी काम का न हो।

जनू का तना। प्र०—जहाँ संतान में माँ-बाप के गुण हों।

जनो करो धामी[1] तनो करो कामी[2]। (१ मालिक, २ नौकर) प्र०—जहाँ नौकर अपना दोष या जिम्मगी मालिक पर डाले।

जनो करलो तनो भरलो। प्र०—बुरे काम करनेवाले पर।

जनो गुड़ तनो मिट्ठो। प्र०—थोड़े दाम में अधिक अच्छी चीज नहीं मिल सकती या थोड़े खर्च पर अच्छा काम नहीं हो सकता इस पर।

जनो देलो तनो पौलो। प्र०—न देनेवाले या कपट दान देनेवाले पर।

जनो देश, तनो भेष। प्र०—पहनावा इत्यादि देशानुकूल होने पर।

जनो बाजो तनो नाच। प्र०—समयानुकूल बर्ताव पर।

जनो बूतणो तनो लौणो। प्र०—भले या बुरे काम के अच्छे या बुरे फल पर।

जनो राखो राम, तनो करनो काम। प्र०—सारे काम ईश्वराधीन होते हैं, ऐसा मानकर हर हालत में संतोष से रहने की शिक्षा पर।

❀ **जनों रिजक[1], तनि बुध।** (१ अन्न) प्र०—सात्त्विक, राजस, तामस जैसा भोजन किया जाता है उसी के अनुसार बुद्धि होती है, इस सिद्धांत पर।

---

* यादृशं भक्षयेदन्नं बुद्धिर्भवति तादृशी।
दीपो भक्षयेद्ध्वान्तं कज्जलं च प्रसूयते ॥—नीतिकार।

जद्कद गंगा सैंरौं पार। प्र०—अवश्य होनेवाली बात के न टलने के लिये।

जनकना कापला[1] ते आगतापला। (१ हरा साक) प्र०—अनुपयोगी या अवांछित लाभ पर।

जन्मपत्री सभी देखदा कर्मपत्री कोई निदेखद। प्र०—जहाँ जन्मपत्र में लिखी हुई या ज्योतिषी की बताई हुई बात न हो।

जनानो[1] बुझौणो[2] अर कणको[3] रुजौणो[4]। (१ स्त्री, २ संतोष कराना, ३ आटा ४ भिगोना) प्र०—जहाँ स्त्रियों को सहज में प्रसन्न किया जाय।

जना मैड़ा[1] तना जैड़ा[2]। (१ माँ, २ संतान, लड़का-लड़की) प्र०—जहाँ संतान पर माँ के गुण अधिक हों अथवा जहाँ संतान बाप के प्रतिकूल और माँ के अनुकूल रहे।

जना होया तना नि होया। प्र०—कुसंतान पर।

जनि[1] गोस्यं की[2] निर्दंदी बाण[3], तनि ल्वार की[4] लचलची[5] पाण[6] (१ जैसी, २ मालिक की, ३ आदत, ४ वैसीही, ५ कच्ची, मुड़नेवाली, ६ हथियार की धार) प्र०—जहाँ काम करानेवाला और करनेवाला दोनों कपटी हों।

जनि दुद्ध तनि बुद्ध। प्र०—जहाँ संतान पर माँ के गुण पाए जायँ।

जनि नेय[1] तनि बरक्त। [१ नीयत] प्र०—कम नीयत अथवा अनुदार व्यक्ति पर।

जनि रसाल्[1] छै पूंडी,[2], तनि दुधाल[3] दिक[4] हूंदी। (१ राँभनेवाली, २ गाय का नाम, ३ दूध अधिक देनेवाली, ४ भी) प्र०—जो सिर्फ मीठी बातें कहे, देवे कुछ नहीं, उस पर।

जनि वली मांडा[1] तनि पली मांडा। (१ धर्मशाला) प्र०—जहाँ दोनों में एक भी काम का न हो।

जनू का तना। प्र०—जहाँ संतान में माँ-बाप के गुण हों।

जनो करौ धामी[1] तनो करो कामी[2]। (१ मालिक, २ नौकर) प्र०—जहाँ नौकर अपना दोष या जिम्मगी मालिक पर डाले।

जनो करलो तनो भरलो। प्र०—बुरे काम करनेवाले पर।

जनो गुड़ तनो मिट्ठो। प्र०—थोड़े दाम में अधिक अच्छी चीज नहीं मिल सकती या थोड़े खर्च पर अच्छा काम नहीं हो सकता इस पर।

जनो देलो तनो पौलो। प्र०—न देनेवाले या कपट दान देनेवाले पर।

जनो देश, तनो भेष। प्र०—पहनावा इत्यादि देशानुकूल होने पर।

जनो बाजो तनो नाच। प्र०—समयानुकूल बर्ताव पर।

जनो बूतणो तनो लौणो। प्र०—भले या बुरे काम के अच्छे या बुरे फल पर।

जनो राखो राम, तनो करनो काम। प्र०—सारे काम ईश्वराधीन होते हैं, ऐसा मानकर हर हालत में संतोष से रहने की शिक्षा पर।

* **जनों रिजक[1], तनि बुध।** (१ अन्न) प्र०—सात्त्विक, राजस, तामस जैसा भोजन किया जाता है उसी के अनुसार बुद्धि होती है, इस सिद्धांत पर।

---

* यादृशं भक्षयेदन्नं बुद्धिर्भवति तादृशी।
दीपो भक्षयेद्ध्वान्तं कज्जलं च प्रसूयते ॥—नीतिकार।

जब कमर कस, तब जिवड़ी[1] रस। (१ जिह्वा में) प्र०—मिहनत से काम करनेवाला ही अच्छी संपत्ति पा सकता है इस नीति पर।

जब तें दम, तब तें गम। प्र०—दुख जिंदगी के साथ ही रहता है इस पर।

जब तें ल्वै[1] तब तें सब कोई। (१ खून) प्र०—वृद्धावस्था की बुराई पर। अपने पराए सब तब तक ही साथ देते हैं जब तक शरीर में शक्ति है इस पर।

जब तें सास, तब तें आस। प्र०—आशा की ऐसी प्रबलता पर कि वह दम रहते तक रहती है।

जब तोसे, तब भरोसे। प्र०—जब तक पास में कुछ हो तब ही तक भरोसा है इस पर।

जब बाड़, तब राड़। प्र०—झगड़े का कुछ न कुछ कारण होता है, इस पर।

जब बिराणा जड़ा माटो, तब अपणा जड़ा माटो। प्र०—दूसरे के साथ भलाई करने अथवा बुराई न करने के लिये।

जब बिगड़िगे काम तब आयो बैसाखू बाबा को नाम। इसकी मूल कथा इस प्रकार है कि एक साधू वैशाखू नाम के किसी गृहस्थ के घर शाम को गया। वैशाखू ने उसे रात को खिला-पिलाकर एक कमरे में सुला दिया। कमरे के दरवाजे पर भीतर से साँकल नहीं थी। साधूजी ने, वैशाखू से, जब वह सोने को जाने लगा कहा कि दरवाजा बंद करके बाहर से ही साँकल लगा देना। वैशाखू ने वैसा ही किया। साधू को रात में पेशाब लगी। वैशाखू का नाम वह भूल गया। पुकारने लगा हे मकानवाले बाबा। पर कोई न आया। इस बीच साधूजी को पेशाब उतर गई। फिर वैशाखू नाम भी याद आ गया तब उसने यह बात कही। तब से

यह कहावत हो गई। जब कभी कहीं कोई काम बिगड़ जाने के बाद उपाय सूझे तब इस कहावत का प्रयोग करते हैं।

जसि देखदु ठाकुरु की खोली ज्यूं बोल्द घघरि द्यूं फोलि।

जसि देखद ठकुरु कि बाड़ि कि गोली तसि ज्यू बोद कपालि द्यूँ फोड़ि। प्र०—आशा से बहुत कम मिलने पर।

जाणो न ताणों बल भैंस का सिंग। अज्ञ और ऊट-पटांग बात कहनेवाले पर ?

जब बाड़ ही बैठिगे उजाड़ खाण, तब फेराद[1] कर्न कै सू जाण। (१ फरियाद) प्र०—जहाँ रखवाला स्वयं नुक-सान करने लगे वहाँ।

जब मारूँ तब डंक बजाऊँ। प्र०—पहिले काम कर लेना तब पुरस्कार के लिये कहना इस पर।

जबर्दस्त को लट्ठ सिर पर वाण। प्र०—जहाँ बड़े की अनुचित आज्ञा भी माननी पड़े।

जाणो अपणा यथा[1], औणो बिरणा यथा। (१ अधीन, निर्भर) प्र०—जहाँ कार्य्य की सफलता पराए ऊपर निर्भर हो वहाँ।

जात की औकात अर दुद्ध की बुद्ध। प्र०—जहाँ किसी मनुष्य में बाप और माँ के दुर्गुण देखे जायँ।

जात का बैरी जात, काठ का बैरी काठ। प्र०—जहाँ अपनी जातिवाले से नुकसान पहुँचे।

जात का मनखी अर खाणि का ढुंगा। प्र०—जहाँ किसी अच्छे खांदानवाला ठीक न्याय करे।

जा त्योहार अपड़ा घर। प्र०—बराय नाम काम करना।

ज़ान जौ पर ईमान रौ। प्र०—ईमान निभाने के लिये।

जान जौ पर पैसा निजौ। प्र०—बड़े कंजूस पर।

जान हाथ मां धरीं छ। प्र०—जहाँ कोई किसी काम को करने में जान की परवाह न करे।

जामदै घूण लैग्या। प्र०—जिस काम के आरंभ ही में असफलता के चिह्न दिखाई दें।

जारको अगिगे, भतार को पदीगे। जहाँ कोई हकदार को छोड़कर बिना हकवाले को मिले वहाँ।

जिमदार[1] चौड़की[2] दूब छ। (१ किसान, २ मैदान) प्र०—जहाँ कोई किसानों को तंग करता रहता है अथवा किसानों की सहनशीलता पर भी।

जीभ डँडौ अर पौ रड़ौ[1]। [१ फिसलावे] प्र०—जहाँ दुर्वचन कहने के कारण कुछ हानि उठानी पड़े या पैर फिसलने से चोट लगे।

जुट्ठो खायेंद मिट्ठा का लोभ। प्र०—जहाँ किसी अनुचित काम के करने में कुछ लाभ की आशा हो अथवा न हो।

जुऊँ का भैंसा अर कितलू[1] का नाग, स्यूणू का सावला, बिरालू का बाग। [१ केचुवा] प्र०—जहाँ कोई बात को बहुत बढ़ाकर कहे।

जुऊँ की डर घागरो सी क्या छोड़ेंद। प्र०—तकलीफ के डर से करने लायक काम थोड़े ही छोड़ा जाता है, इस पर

जुत्ता की गार अर स्वैणी[1] को जार। [१ जोरू] प्र०—ये दोनों हर समय खटकते रहते हैं, इसपर।

जूड़ो फुकिगे पर बट निफुकेणो। प्र०— जो बर्बाद होने पर भी घमंड न छोड़े उस पर।

ज्यू को लेंदारो पाणी को देंदारो। प्र०—बादल के लिये।

जूंदा मा निपाये माँड, मरयां मां सुध्यारो[1] खांड। [१ देवे] प्र०—जो जीते-जी अपने किसी बूढ़े के कष्ट की कोई परवाह न करे लेकिन मरने पर धूमधाम से श्राद्ध इत्यादि करे उस पर।

जूनि सुखद सूत बगद[1]। [१ ज्योत्स्ना में सूखता है, सूत्र में बहता है।] प्र०—नीरस अस्थिर भूभाग के लिये। बहुत सुकुमार व्यक्ति के लिये भी।

* **ज्यूँ डाली फली त्यू न्यूँ[1]।** [१ झुके] प्र०—जो सम्पत्ति पाकर नम्र हो या न हो उस पर।

जेठाव्यू मरिग्या कुकर्म करिग्या। प्र०—जहाँ कोई बुरा काम करे और इच्छा पूर्ण होने से पहिले ही मर जाय या चला जाय।

जेठाणा को नौं[1] गिच्चान नि बोलेंद पर पेट मां सी क्या निलियेंद। [१ जेठ का नाम] प्र०—जहाँ कोई गुप्त बात जान जाय पर प्रकट न करे।

जेठा बिटी बेओणो, अरकाणसा[1] बिटी खवोणे। [१ कनिष्ठ] दे० काणसा बिटी खवोणो।

जैका आँखा सौण का मैना फूटान तै हरी ही हरी सूझो। प्र०—जो कोई काम अनुचित उपाय से साध ले और औरों के लिये भी वैसा करने को कहे।

जैका नी नल[1], तैका को क्या फल[2]। [१ डंठल, २ फल] प्र०—अपूर्व और अप्राप्त वस्तु की माँग पर।

जैका लगो पेट आग तै क्या चयो साग। प्र०—भूख में साग की क्या जरूरत इस पर।

---

* समानार्थी पद–'भवन्ति नम्रास्तरवः फलोद्‌गमे'—फल लगने पर पेड़ झुक जाते हैं।—चाणक्य।

* **जैकी गली[1] बाजो, तैकी नली[2] गाजो।** [१ खूब खावे, २ मोटा होवे] प्र०—शरीर की पुष्टता भोजन पर निर्भर होती है इस पर।

जैकी छै डर, सो नी घर। प्र०—जहाँ कोई मालिक की गैरहाजिरी में मनमानी करे।

† **जैकी छै राणी सो लीगे ताणी[1], खंकल[2] रैगे[3] आँखा ताणी[4]।** [१ खींचकर, २ शोहदा, ३ रह गया, ४ आँखें ताके] प्र०—जो पराई वस्तु को पाकर चार दिन इतरावे और उस वस्तु के चले जाने पर खिसिया जाय उस पर।

जैकी नि छै खबर न सार, सो ऐगे डेली द्वार। प्र०—जहाँ कहीं कोई ऐसा जिसकी आवश्यकता हो अचानक आ जाय।

जैकी लाठी तैकी भैंस। प्र०—बलवान् या जबरदस्त की विजय पर।

जैकू हो ब्यौ[1] की रड़[2], सो बचों रौंचाबड़[3]। [१ ब्याह, २ गरज, ३ अच्छे छटे हुए साँड़] प्र०—गरजमंद को खर्च के लिये नहीं झींकना चाहिए इस पर।

जैको चुन्न तैको पुन्न। प्र०—पराए धन के दान करनेवाले पर।

जैको जांठो[1] तैको बांटो। [१ लट्ठ, डंडा] प्र०—बलवान् की सफलता पर।

जैको ठाकुर खड़ाखड़ो सूतो, तैको चाकर भौंरा[1] दीक सूतो। [१ चारों ओर घूमकर] प्र०—जहाँ मालिक से नौकर अधिक ज्यादती करे।

---

* समानार्थी पद—'वपुराख्याति भोजनम्'—शरीर से भोजन का अनुमान होता है।

† जेकरी जाय तेकरे पास, देखनहारा ताके आस।

जैको तालो[1] सो खालो। [१ भाग्य] प्र०—जहाँ एक की कमाई कोई और खावे।

जैको नल[1] प्यारो, तैको फल प्यारो। [१ डंठल] प्र०—जहाँ कोई माँ-बाप के साथ का प्रेम या बैर बच्चों के साथ भी दिखावे।

जैको नी पत[1], तैको क्या कर्न खत[2]। [१ विश्वास, २ लेखा] प्र०—बदनीयत वाले के इकरारनामा पर भी क्या विश्वास? इस पर।

जैको पाप तैको बाप। प्र०—अपने किए का फल पापी को ही मिलेगा दूसरे को नहीं, इस पर।

जैको बाबू रिखन[1] खायो सो काला मुंडा[2] देखी डरो। [१ भालू ने, २ काली लकड़ी का खूँटा] प्र०—जहाँ बुरों का ठगा हुआ भलों से भी डरता हो।

जैको ब्यौ तै धोराहीं ना ल्यो। प्र०—जहाँ प्रमुख वस्तु या व्यक्ति की कुछ कदर न हो और ही और मुखिया हों वहाँ।

जैको बूढ़ो तैको ऊड़ो। प्र०—घर में वृद्ध पुरुष की उपयोगिता पर।

जैको भत्ता खाणो, तैका गित्ता गाणो। प्र०—जहाँ कोई अनुचित होने पर भी अपने आश्रयदाता का पक्ष ले उस पर।

***जैको साही शंकर, तैको क्या करो भयंकर।** प्र०—जहाँ किसी निर्बल पर बलवान् की सहायता हो अथवा ईश्वर की देन पर।

†जै गौं निजाणो तैकी बाट क्या पूछणी। प्र०—निष्प्रयोजन बात न करने के लिये।

---

* जाको राखे साइयाँ मारि न सकिहै कोय।
बाल न बाँका करि सके जो जग बैरी होय॥

† बिना प्रयोजन भूलिही ढठिये नाहीं बाट।
जानो ना जा नगर को ताकी पूछन वाट॥—वृंद॥

जँ चुली हैं को मनौणे तँ चुली गर गरजोड़ी[1] कन्यौणी[2]। [१ जोर से, २ खुलजाना] प्र०—खुशामद करने से मिहनत करना अच्छा इस पर।

जँ दरा[1] माळा निक.ल्दा तैंदरा ग्रौर घोचदा। [१ छेद] प्र०—जिससे एक बार मिलता है उसको बार बार दिक करते हैं इस पर।

जँ द्यौ जगदीस, तैंकी क्या रीस। प्र०—दूसरे की संपत्ति पर डाह न करने के लिये।

*** जैन करे नेक्या चार, वेकू धक्काचार; जैन करे वार पार, तैंकू पयाचार। जैन गाये भाग्यानौलो, तैंनपाये साट्य्रू को थैलो, जैन गाये विस्नुपदी तैंकू कुछ न क्वती।** प्र०—जहाँ भलों का अपमान ग्रौर बुरों का सन्मान हो।

† जैन सारे[1] सो कबी नि हारे। [१ सहा] प्र०—सहनशीलता की उपयोगिता पर।

जै बासा, तेरी ग्रासा। प्र०—उपकार करनेवाले की कृतज्ञता पर।

जैं बौको[1] बडो भरोसो स्यो दिदा[2] दिदा बोल्द। [१ भाभी का, २ भाई] प्र०—जहाँ बड़े भरोसेवाला निरासा बतावे।

‡ जो करलो सो भरलो। प्र०—दंड दोषी को ही मिलेगा ग्रौर को नहीं, इस पर।

---

* तुलसी या संसार में पाखंडी को मान।
सीधों को सीधा नहीं झूठों को पकवान ॥—तुलसी।

† सुर्ख होते हैं इन्साँ ठोकरें खाने के बाद।
रंग लाती है हिना पत्थर पे घिस जाने के बाद ॥—अकबर।
हजारों टाँकी खाकर महादेव होते हैं।

‡ कर्म प्रधान विश्व करि राखा। जो जस करिय सो तस फल चाखा ॥—तुं

जो करौ औरू कू टोणी,[1] तैंकू हो रोणी। [१ टोना] प्र०—दूसरे की बुराई करनेवाला जब स्वयं आफत में फँसे तब।

जो कंज्या[1] खाव वै कि गलि डाढ। व छाँछ को खार। प्र०—जहाँ बुरा काम करनेवाला डरता रहता हो।

जो खै पनै की कुडली, सो द्यौ लोभागढ़ मुंडली। पुराने जमाने में जब गढ़वाल और कुमाऊँ के राजाओं के बीच सरहदी तकरार रहती थी तब लोभागढ़ में जो इन दोनों प्रांतों का सरहद्दी किला था, कुछ सिपाहियों का एक दस्ता गढ़वाल के राजा की तरफ से सीमा की रक्षा के लिये रखा जाता था। इन सिपाहियों को पनै की कुंडली, अर्थात् पनाई का सिरा जो गढ़वाल में सबसे बड़ा मैदान सेरा [नदी के किनारे की सींची जानेवाली जमीन] है, कमा खाने को दी जाती थी तब से यह कहावत गढ़वाल में प्रचलित है। अब तक भी पनाई में उन्हीं लोगों की औलाद कनुणी, मुसनी, भनोटी इत्यादि जाति के क्षत्रिय और ब्राह्मण बसते हैं जो उन दिनों लोभागढ़ में रहते थे। उनमें से कुछ लोग अब तक लोभागढ़ के आसपास के गाँवों में भी बसते हैं। प्र०—जहाँ कहीं किसी को कठिन काम के साथ ही अच्छे इनाम का लालच दिया जाता है।

जो खै भैंसा को दूध तै अकल न बूध। प्र०—भैंस के दूध की निंदा पर।

*** जोगमां भोग कख छयो।** प्र०—बेजोड़ काम या जोग में भोग चाहनेवाले पर।

जो गीजो[1] पड़ो पादण, सोकिलै[2] जौ उठी हगण[3]। [१ आदी हो जावे, २ क्यों, ३ पाखाना करने] प्र०—आलसी के लिये।

---

* अनमिलती जो करत हो, ताही को उपहास।
जैसे जोगी जोग में करत भोग की आस॥ —वृंद।

जोगी जोगी लड़्या, तुमड़ै तुमड़ा फूट्या। प्र०—नंगों की लड़ाई होने पर विशेष हानि नहीं होती, इस पर।

जोगी झटाक,[१] खन्ना[२] पटाक[३]। [१ लड़ना, २ राख में, ३ चोट मारना] प्र०—भयदायक को न छेड़ने के लिये।

जोगी भाग्यो हगणै[१] बिटी। [१ टट्टी करते ही से] प्र०—जिसके पास कुछ नहीं उसके भागने में उलझन ही क्या? इस पर।

जोग्यूं का अर गुरौ[१] का घर कखछ्या। [१ साँप] प्र०—जोगियों का और साँप का घर कहाँ होता है? कहीं नहीं।

जो गौं करो सो गंवार करो। प्र०—साथियों का साथ देना ही पड़ता है चाहे वह काम निकम्मा ही क्यों न हो इस पर।

जो घड़ी बचो सो घड़्यांसू[१] बचो। [१ बहुत समय तक] प्र०—सामने आई हुई विपत्ति के टल जाने पर कहा जाता है।

जो चढ्यो सो पड्यो। प्र०—किसी का ऐश्वर्य हमेशा नहीं रहता यह प्रकृति का अटल नियम है, इस पर।

जो डाढ्यो[१] डाढ्यो, बाकी यथ[२] गाड्यो[३]। [१ जल गया, २ इधर, ३ निकाल दिया], प्र०—बीती हुई बिगड़ी बात का पछतावा न कर आगे के लिये सावधान हो जाने के लिये।

जो दाँतू ते छूटिग्यो सो ओंठू से नि पकड़ेंद। प्र०—मौके पर चूकी हुई बात बिगड़ जाने पर नहीं सुधर सकती, इस पर।

जो नि औ गढ़द[१] सो क्या औ मढ़द[२]। [१ गढ़ते हुए, २ मढ़ते हुए] प्र०—बचपन की पड़ी हुई बुरी आदत जवानी और बुढ़ापे में नहीं छूट सकती इस पर।

जो निध्वौ अपड़ो सुखु, हैका क्या द्यौ सुख। प्र०—निठल्ले अर्थात् कुछ भी काम न करनेवाले पर।

जो नेड़[1]**, सो पेड़**[2]**।** [१ नजदीक, २ कुटुंब] प्र०—पड़ोसी की उपयोगिता पर।

जो पलड़ा भारी होंद सो झुक्कद। प्र०—संपत्ति पाकर नम्र होना अथवा इज्जतदार को झुकना पड़ता है इस पर।

जो बणियाँ से स्याणो सो बावलो। प्र०—बनिया किसी से भुलाया नहीं जा सकता इस पर।

जो बसिग्या खैर चौसासू[1] **स्यो बसिग्या।** [१ नदी किनारे के दो गाँवों के नाम] प्र०—अच्छा पद जिन्हें मिल गया, मिल गया आगे वालों को मिलना कठिन है।

जो बाली[1] **नि बुरक**[2] **स्या ठंडी**[3] **क्या बुरकली।** [१ बचपन, २ उछल-कूद करना, ३ उम्र ढलने पर] प्र०—"जो निश्रौ गढ़द" की तरह।

जो बिंदिग्या से मोती, जो रैग्या से काँच। प्र०—जो काम समय पर पूरा हो गया वही ठीक है, अधूरा काम कुछ नहीं के बराबर होता है, इस पर।

जो माई आई स्या माई खाई। प्र०—जो कमाई हो वह सबकी सब खर्च हो जाय, बचत कुछ भी न रहे, इस पर।

जो मैं द्यौ सो मेरो ठाकुर, जो मैं नि द्यौ सो कुत्ता को ठाकुर। प्र०—अपने ही मतलब से बात करनेवाले पर।

जोर थोड़ा गुस्सा भौत, आया मार खाण का लच्छण। प्र०—जहाँ कोई कमजोर गुस्से में आकर बलवान् से लड़े।

जौ नैपाल, साथ जौ कपाल[1]**।** [१ भाग्य] प्र०—भाग्यहीनता पर।

जंगल मां मंगल बस्ती मां कड़ाका। धनवान् को सभी जगह सुख होता है, धनहीन को कहीं भी सुख नहीं मिलता इस पर।

झख मारे झंगोरो[1] खाये। [१ एक प्रकार का गोल महीन चावल] प्र०—जो किसी काम को पहले आग्रह करने पर न करे, पीछे बिना किसी के कहे करे, उस पर।

झगड़ा झुट्टा कब्जा सच्चो। प्र०—कब्जे की उपयोगिता पर।

झगड़ा की तीन जड़, जमीन जोरू जर। प्र०—झगड़े की बुनियाद प्रायः इन तीनों (जमीन, स्त्री और धन) पर खड़ी होती है।

झगड़ा की जड़ हाँसी[1], रोग की जड़ खाँसी। [१ तिरस्कार की हँसी] प्र०—तिरस्कार की हँसी से प्रायः झगड़ा और खाँसी से रोग उत्पन्न होते हैं, इस पर।

झट्ट रोटी पट्ट दाल, खाई लीनी मारी फाल। प्र०—जल्दी करनेवाले पर। कठिन को आसान बताने पर भी।

झाड़खंड बएयूँ रहंद। प्र०—जादू-टोना करनेवाले पर।

झुट्टा झगड़ा सच्चा ब्यौ, कनु कनू की खूंदीन[1] मौ[2]। [१ खोते हैं, २ मवासा, घर] प्र०—झगड़ों और शादी में जो खर्च होता है उसकी बुराई पर।

झूट का पैर निहोंदा। प्र०—झूठ आखिर चल नहीं सकता इस पर।

झूट झूट ही छ, सच्च सच्च ही छ। प्र०—सच झूठ की तुलना पर।

झूट लाणी गंगा पार, जो निभ जौ दिन चार। प्र०—झूठ दूर देश में ही कुछ दिन ठहर सकती है।

झेमाड़ उलंगायां सुख छ। प्र०—किसी अनुपयोगी काम को पूरा करने के लिये।

टक्का त टकटका[1] नी त झकझका[2]। [१ सीधा खड़ा, खिला हुआ २ मुर्झाया हुआ] प्र०—पैसे की बलवत्ता पर।

टकासी[1] जवाब दीदीने। [१ कोरा] प्र०—जहाँ कोई किसी की माँग को बिना किसी वजह बताए नाकबूल करे।

टका न पैसा, गौं गौं भैंसा। प्र०—फटफटबाज लफंगे के लिये।

टिप्पस नि जमदी। प्र०—जहाँ किसी को अपने वश में करने का प्रयत्न निष्फल जाय।

टुकड़ा तोड़ दीने। प्र०—निठुराई के साथ किसी की माँग ठुकरा देनेवाले पर।

टेढ़ी खीर होईं छ। प्र०—जहाँ हाँ या ना दोनों में से एक भी न कही जा सके, वहाँ।

• **ठग तमोटो चोर सुनार, खाम्रो कोली डाढी ल्वार।** प्र०—तमोटा सुनार कोली और लुहार के स्वाभाविक गुणों पर।

ठट्ठा को मट्ठा। प्र०—जहाँ हँसी दिल्लगी होते होते झगड़ा बढ़ जाय।

ठाकुरू दगड़ी[1] न्यौ नि लगद त क्या न्यौ भी नि लगद। [१ साथ] प्र०—जहाँ बड़े और छोटे के झगड़े में न्याय छोटे के पक्ष में हो।

ठाकुरू की तेबारी भैर लाली लाल, भितर पुंड खाज का कुहाल। प्र०—जहाँ कोई सिर्फ बाहरी दिखावा करे, अंदरूनी हालत खराब हो।

ठुला[1] गोरू लूण बुकावन[2] छोटा बाछरू थोबड़ो चाटन। [१ बड़े, २ चबाते हैं] प्र०—बड़े बड़े सब हजम कर लेते हैं, छोटों को कुछ भी नहीं मिलता।

ठुली पुजै पांची भांडा छोटी पुजै पांची भांडा। प्र०—जहाँ किसी काम को छोटे पैमाने में करने पर भी बड़े काम ही की तरह सामान जुटाना पड़े।

ठंठण गोपाल। प्र०—जहाँ कुछ न मिले।

ठंडो पाको मिट्ठो होग्रो। प्र०—किसी काम को साव-धानी से धीरे धीरे करने की उपयोगिता पर।

डाली न बोटी नौं क्वै बग्वान, फांट न पट्टा नौं क्वै पधान। प्र०—जहाँ किसी को झूठी पदवी से पुकारा जाता हो।

डिट्ठी की जोई[1], ग्रर मुट्ठी को धन। [१ दृष्टि में की पत्नी] प्र०—पैसा गाँठ का और स्त्री साथ होने ही से अपनी होती है इस पर।

डुंडा[1] कू ही भेल ग्रर डुंडा कू ही बाघ। [१ लंगड़ा] प्र०—भाग्यहीन को विपत्ति पर विपत्ति आती रहती है इस पर।

डुंडा गोरू का सापना[1] बाछरू। [१ सीधे, जो लँगड़ा न हो] प्र०—जहाँ निठल्लों की संतान परिश्रमशील हो अथवा अंध लँगड़ों की सुडौल संतान हो।

डुम-जोगी न लेयो जोग, फाटी लत्ता बाढ्यो रोग। प्र०—जहाँ छोटा बड़ों की नकल करके हानि उठावे।

डुमाणा की तौली, विठाणा कब जौली। प्र०—जहाँ कोई अभागा संपत्ति पाकर जल्दी ही खो बैठे।

डूम दगड़ा गू गेड़ी। प्र०—बुरे साथ का बुरा असर।

डूम डुमाणा, विठ[1] बिठाणा[2]। [१ द्विजाति २ गाँव में द्विजातियों के रहने का हिस्सा] प्र०—डूमविठों के परस्पर मर्यादित व्यवहार पर।

डेढ़ टट्टू बागमां डेरो। प्र०—आडम्बर दिखानेवाले पर।

डेढ़ चौंल की खिचड़ी जुट्टी च पकणी। प्र०—जिसका किसी से मेल न हो उस पर।

डेढ़ सेर पिसणो[1], आधी रात उठणो। [१ पीसना] प्र०—जो छोटे से काम के लिये बड़ी तैयारी दिखावे उस पर।

डेल भी मिल सके पिशाब भी ह्वै सके। प्र०—जहाँ काम बिगड़ जाने पर सुधार का उपाय सूझे।

डोम खै नि जाणदो, काठीबाखरो पड़नि जाणदो। प्र०—डोमों की निरुद्यमिता पर।

डोम डाली खस्स खाती। प्र०—किसी बे जान पहिचान की निंदा पर।

डोम सणी जतनै मनावा ततनै कड़कड़ो। प्र०—जहाँ डोम काबू में न आवे।

डोमा सल्ली नि औंद छयो त बड़ो नुकसान होंद छयो। इसकी मूल कथा इस प्रकार है कि किसी जंगली गाँव में एक भैंस के बच्चे ने काठ की परिया (दही मथने का बर्तन) में सिर डाल दिया पर वह सिर को बाहर न निकाल सका। सारे गाँव के लोग जमा हो गये पर कोई उसके सिर को बाहर न निकाल सका तब डोमा नाम का एक सल्ली (कारीगर) बुलाया गया। उसने एकदम उस बछड़े का सिर कटवा दिया पर वह सिर फिर भी बाहर न निकल सका। तब उसने परिया को कटवाकर बछड़े का कटा हुआ सिर बाहर निकलवाया तब वे बेवकूफ लोग कहने लगे कि डोमा सल्ली न आता तो बड़ा नुकसान हो जाता। तब से यह मसल मशहूर हो गई। जहाँ कोई बेवकूफी का काम करने पर भी वाहवाही लूटता है वहाँ इस लोकोक्ति का प्रयोग होता है।

डोमौ[1], निसाब[2] अडमारा[3]। [१ डोम का, २ न्याय, इंसाफ ३ आड़ पर] प्र०—जहाँ गरीब के साथ अन्याय हो।

डोमौ, मन्नो अर विडको छँदो[1] कोई नी देखद। [१ किसी वस्तु की कमी न होना] प्र०—डोम के कष्ट और विठ की तंगी पर कहा जाता है।

ढगड्यांदी[1] ढुंगी खुट्टों नि धरनों। [१ हिलते हुए पत्थर पर] प्र०—खतरे की आशंकावाले काम पर हाथ न डालने के लिये।

ढाई हाथ काखड़ी नौ हाथ बीज। प्र०—जहाँ छोटी सी बात पर बड़ा बतंगड़ बनाया जाय।

ढाकरी बोद पूरो तोल, बणियाँ बोदहाट्टी ना बैठ। प्र०—जहाँ कोई किसी से कुछ माँगना चाहे पर देनेवाला बात भी न करने दे।

ढाकरयूं को कुकर औंदू दगड़ी औंद जाँदू दगड़ी जाँद। प्र०—जिसका कोई ठिकाना न हो उस पर।

ढाक का तीन पात। प्र०—जिस काम में सफलता न हो, उस पर।

ढीका गणनूछ। प्र०—जिसका कोई रोजगार न हो, मुश्किल से पेट पाल रहा हो उस पर।

ढुंगा सूड़े को हाथ होयूं छ। प्र०—जो आदमी किसी के दबाव के कारण सच न कह सके, उस पर।

ढीकू[1] माँगे[2], दौड़ै च होणी। [१ ढेला, २ में] प्र०—जिसकी भीतरी आर्थिक अवस्था तंग होने पर भी बाहरी खर्च बढ़ता ही चला जाय।

ढेबरी की ढेबरी मरी गू को गू खवैगे। प्र०—जहाँ एक नुकसान के साथ और भी कई नुकसान हो जायँ।

ढोल की पोल खुलीगे। प्र०—जहाँ किसी की गुप्त मंत्रणा प्रकट हो जाय।

ढोल दमौं दगड़ी कमच्या[1] की रुइंचुइं[2]। [१ मिरासी, २ सारंगी का सुर] प्र०—जहाँ बड़े बड़ों के साथ छोटे की कोई बात न पूछे।

तकदीर का अगाड़ी तदबीर क्या कर सकदी। प्र०—भाग्य की अटलता पर।

तनी निछँदा[1] घर, तनी चौमासी जर[2]। [१ तंगदस्त, २ बरसाती बुखार] प्र०—जहाँ गरीबी और बीमारी दोनों साथ हों अथवा कई मुसीबतें एक साथ आ जायँ।

तनी वलि मांडा[1], तनी पलि मांडा। [१ धर्म-शाला] प्र०—जहाँ दोनों एक समान कष्टदायी हों।

तलप न तनखा छिंति मिंध्यो, हवल्दार। प्र०—बनावटी पदवीवाले को।

तलवार छै पर बनगढ़ रैगे। प्र०—जो उपाय तो बतावे पर करने के समय बहाना करके टाल देवे उस पर।

तवा की तेरी, हाथ की मेरी। प्र०—जो जहाँ तहाँ से अपना ही स्वार्थ साधन करे, किसी नियम का पाबंद न हो, उस पर।

तवा पलेलो तू लीगे ढुँगला पकौणा मैंकु, करिगे। प्र०—जहाँ कोई माँगनेवाला देनेवाले को नंगा करके ले जाय।

ताता रोष मार नि करनी। प्र०—गुस्से में तत्काल कोई काम न करने के लिये।

तातो दूध होयूँ छ। प्र०—जहाँ कोई काम न तो करते बने और न किए बिना रहा जाय। धर्म सनेह उभय मति घेरी, भइ गति साँप छछुंदर केरी॥ तुलसी।

तामा की मेख, करामात देख। प्र०—अचूक प्रयोग पर।

ताल चूक्यो औसर बीत्यो। प्र०—समय पर चूक जाने से काम बिगड़ने पर।

ताली पः[1] देखो अर चोरी पः[1] लगौणी। [१ नकारात्मक] प्र०—किसी को बुरा काम करने का मौका ही न देना चाहिये इस पर।

तितरा का मुख लछमी। प्र०—जहाँ किसी अयोग्य को अधिकार प्राप्त हो जाय।

तितरी फँसी चाखुड़ी फँसी तू क्यूँ फँसे कागा, झटपट झाटपट हमुन भी देखे हम भी फँसिग्या बाबा। प्र०—जहाँ लालच में आकर चालाकों के बीच कोई सीधा-सादा भी फँस जाय।

तिमला का तिमला खतेया[1], नांगे का नांगी देखेया। [१ गिर जाना, बिखर जाना] इसकी मूल कहानी यह है कि एक स्त्री तिमले के पेड़ में चढ़ी हुई तिमले (अंजीर) के फल निकालकर अपनी पहनी हुई धोती के पल्ले को उलटकर उस पर रखती जाती थी। उधर से किसी आदमी को आता देखकर उसने शरमाकर झट से उलटा हुआ धोती का पल्ला छोड़ दिया जिससे सब तिमले बिखरकर गिर पड़े। वह आदमी कुछ मसखरे स्वभाव का था। फौरन कह बैठा "तिमला का तिमला खतेया इत्यादि" जिसका आशय यह है कि नंगी भी दिखाई दी और तिमले भी गिर गये। तब से यह कहावत प्रचलित हो गई। जहाँ कहीं गुप्त बात भी प्रकट हो जाय और काम भी न बने वहाँ इसका प्रयोग होता है।

तीन ब्यौ वाला का बड़ा भाग, क्वीलिजौन डांडी एक लिजौ आग। प्र०—एक से अधिक शादीवालों पर व्यंग्य।

तीनमां न तेरामां। यह कहावत इस तरह चल पड़ी कि रिश्तेदारी में दो तरह के सूतक होते हैं। जो दूर के रिश्तेदार होते हैं, किसी के मरने पर तीन दिन का सूतक मानते हैं और जो

नजदीक के रिश्तेदार होते हैं वे तेरह दिन का सूतक मानते हैं। जो इन दोनों प्रकार के सूतकों को नहीं मानते उनकी गिनती रिश्तेदारों में नहीं होती। इस कहावत का प्रयोग अब रिश्तेदारी पर नहीं होता बल्कि यह उस मौके पर कही जाती है जहाँ कोई शख्श बिना बुलाए बीच में आकर राय देने लगे पर उसकी राय या बात का कुछ वजन या असर न हो।

तुखम तासीर सोबत असर। प्र०—जहाँ कहीं कम-असल संतान अथवा बुरी संगत से नुकसान उठाना पड़े।

तु ठगणी को ठग मि जाती क्वै ठग। प्र०—जहाँ कोई किसी के ठगने में न आवे।

तुमड़ी को घ्यू अर बण्या को ज्यू—कंजूसी पर।

तुरत दान महा कल्याण। प्र०—माँगनेवाले की ओर से जल्दी देने के लिये।

***तू राणी मैं राणी, को कूटो चीणा-दाणी?** प्र०—जहाँ सब बड़ा बनना चाहें, काम करने को कोई भी तैयार न हो वहाँ।

तूली[1] मां न कैणी[2] मा। [१ पहाड़ो तराजू, २ भूमि की नाप] प्र०—जो किसी बात पर भी रजामंद न हो अथवा जो कभी एक ओर की बात कहे कभी दूसरी ओर की।

तेरा जौ तेरी हाथी। प्र०—जहाँ कोई काम कतई किसी के भरोसे छोड़कर कहा जाता है कि जैसा तेरे ज्ञान में आवे वैसा करना, उस पर।

---

* सर्वे यत्र प्रणेतारः सर्वे पंडितमानिनः।
सर्वेमहत्त्व मिच्छन्ति तच्छदं ह्याशु नश्यति॥
अर्थात् जहाँ सब के सब मुखिया, पंडित, मान्य और महत्त्व के इच्छुक हों वह समाज शीघ्र ही नष्ट हो जाता है।

तेरा गैं जीं ऐमैंत जीं बाल्दीं। प्र०—जहाँ परवस पड़ने पर सब कुछ सहना पड़े।

तेरी मेरीं कब बिगड़लीं जब लेण देण होलीं। प्र०—जहाँ कहीं लेन-देन होने पर मित्रता में बाधा पड़ जाती है।

तेरी सेवा[1] मेरा कथैं[2]। [१ नमस्कार, २ किस तरफ] प्र०—जहाँ कोई दूसरे के किए हुए उपकार या सहायता को न माने।

तेरों घट पिस्यो नि पिस्यो, मेरों भग्वाड़ी[1] चैंद। [१ पिसाई] प्र०—जो बिना काम किए ही मजूरी माँगे उस पर।

तेरो ढांकरी आयां ना आयां, मेरो लोण सेर आयूँ चैंद। प्र०—जहाँ कोई दूसरे के दुख की कुछ परवाह न करे केवल अपने मतलब की बात करता जाय।

तेरो बाबू डांडा कौड़ी निबूतदो त मेरा बाबू सणी रिख नि खाँदो। प्र०—जहाँ कोई बिना बुनियाद झगड़ा खड़ा करने को बनावटी बात बनाकर दूसरे के सिर दोष मढ़े।

तेरो हल़ जी लगौण कि तेरा भट्टजी बुकौन। इसकी मूल कहानी यह है कि एक स्त्री अपने हलिया को रोटियों के बदले भट्ट भूँजकर ले गई तब उस हलिया ने यह कहावत कही तब से इसका प्रयोग ऐसे मौके पर किया जाता है जहाँ किसी आदमी के जिम्मे ऐसे दो काम करने को सौंपे जावें जिनमें एक ही हो सके दूसरे को वक्त न रहे।

तेल थोड़ा चिवड़ाट[1] भैात। [१ शब्द] प्र०—जहाँ छोटे से काम के लिये बड़ा हल्ला होता हो।

तैकी जुत्ती तैकै सिर। प्र०—जहाँ कोई किसी को नुकसान पहुँचाने के लिये उसी की किसी वस्तु से सहायता ले।

तैं ही पातली खाणो तैं हीं पातली छेंड[1] करनो। [१ छेद] प्र० अकृतज्ञ और कृतघ्न के लिये।

त्वैकु न मैंकू भ्वींचल रास। प्र० जो अपना काम बिगड़ता देखकर दूसरे का भी काम बिगाड़ दे उस पर।

'त्वैकू चालीं टोपली स्यूँला',[1] 'ना मैं टसटसै[2] सैंलो'। [१ सिलेंगे, २ जाड़ा ही सहूँगा] प्र०—जो आवश्यकता होते हुए भी किसी की दी हुई सहायता को कबूल न करे, उस पर।

त्वै मेरा सैं जो तू मैं भलो ना मानी। प्र०—जो किसी को प्रेम से नहीं पर दबाव डालकर मित्र बनाना चाहे उस पर।

तोता चसम। प्र०—कपटी मित्र के लिये।

तोपयाल की तोप ताप चौंड्याल को राज। प्र०—जहाँ कोई एक दाँव-पेच ही के सोच-विचार में रह जाय इस बीच दूसरा बाजी मार ले, वहाँ। इसकी मूल कहानी यह है कि पिछले जमाने में जब गढ़वाल में छोटे छोटे गढ़ों के अधिपति थे वे एक दूसरे को पराजित करने की घात में लगे रहते थे। ऐसी ही प्रतिद्वंद्विता तोपयाल और चौंड्याल नाम के दो गढ़ाधिपतियों में चल रही थी। तोपवाले चौंडवालों पर चढ़ाई करने का अवसर ढूँढ़ रहे थे। इस बीच चौंडवालों ने ही उनके गढ़ पर कब्जा कर लिया। यही तोपवालों का गढ़ बाद को चाँदपुर गढ़ कहलाया जो हमारे गढ़वाल-नरेशों की पुरानी राजधानी थी। यह कहावत हमारे गढ़वाल-राजवंश की प्रथम विजय की स्मृति में अब तक प्रचलित है।

थप्पड़ को मारयूं हेरो उवो, कौल को मारयूं हेरा उंदो। प्र०—जो उपकार से दबा हुआ हो, उस पर।

थाती सूनी बिरती बांजा, कखछै। प्र०—जहाँ प्राचीन कृति का एकदम लोप होना असंभव हो वहाँ।

थूक्यूं थूक चाटणो। प्र०—जो दी हुई वस्तु को वापिस माँगे अथवा फाके (अहसान रखकर बखान करे) उस पर।

थोड़ा खाणो बनारसी रहणो। जो थोड़ा खर्च करे पर चटकीला रहे, उस पर।

थोड़ा दूध का बराबर। प्र०—बनावटी प्यार दिखाने का व्यंग्य।

थौली सींक ऐजा। प्र०—किसी की माँग को अस्वीकार करने का व्यंग्य।

दगड़ी छोड़िक लगड़ी नि खाणी। लाभ के लिये साथ छोड़ने पर।

दमड़ी को सौदा बजार खलल। प्र०—छोटे से काम को बढ़ाकर दिखानेवाले पर।

दया को मनखो अर मया को नाज। प्र०—दया और मया (खेतों को निरानेवाले औजार) की उपयोगिता पर।

दाई से पेट नि छिपायेंद। प्र०—जो कोई ऐसे जानकार मनुष्य से जो सब गुप्त भेद जानता हो बात छिपाना चाहे।

दाई पिड़ा कि स्वीली[1] पिड़ा। [१ प्रसव होनेवाली स्त्री] प्र०—जहाँ गरजमंद बेफिकर रहे, वहाँ।

दाड़म्या दाणी कपाल् उंद ओल[1]। [१ छेद] प्र०—जो आप ही अपने लिये विपत्ति पैदा करे उस पर।

दांत तोडीक दंळणा। प्र०—जहाँ दूसरे के काम के लिये आप बड़ी भारी हानि उठानी पड़े।

दाता से सोम भलो जो तुर्त द्यौ जबाब। प्र०—जहाँ कोई किसी कार्य को बहुत अटकाए रखे वहाँ।

दाँतू का अगाड़ी जीभ। प्र०—किसी बात की राय देने में बड़ी उम्र या बड़े पदवाले के आदर के लिये छोटों की ओर से।

दान बित्त समान। प्र०—दान यथाशक्ति दिए जाने के लिये।

दाना की अ्रढ़ती अर औल्यूं का सवाद पिछनै औंद प्र०—दाने की शिक्षा की उपयोगिता में।

दानो दुस्मन नादान दोस्त से भलो। प्र०—नादान दोस्त की मित्रता से नुकसान उठानेवाले पर।

दाम करो काम, बीबी करो सलाम। प्र०—पैसे की उपयोगिता पर।

दाल् निगल्दी। प्र०—जब किसी से प्रयत्न करने पर भी मेल न होवे।

दाल् भात मां मूसलचंद[1]। [१ चूहे की बीट] जहाँ कोई किसी बने-बनाए काम में बिगाड़ कर दे।

दाल् मां काल़ोछ। प्र०—जहाँ किसी बात में कुछ धोखा होने का संदेह हो।

दाल् लबेटी[1] भात भात लबेटी दाल। [१ लिपटी हुई] प्र०—जहाँ किसी के साथ पुराना और दुहरा तिहरा संबंध हो।

दिन चल जांदा बात रै जांदी। प्र०—जहाँ किसी ने कोई बुरा बर्ताव किया हो वह जन्मपर्यंत नहीं भुलाया जावे, इस पर।

दिल्ली का दिलवाला, मुख का चोपडा पेट का खाली। प्र०—जो मीठी मीठी बात करे पर हकीकी काम पड़ने पर कुछ न करे उस पर।

दिट्ठा[1] की ज्वै[2], अर मुट्ठी को धन। [१ नजर-सामने दृष्टि, २ स्त्री] प्र०—स्त्री और धन पास होने ही से अपने होते हैं इस पर।

***दिवासूड़े अँध्यारो।** प्र०—जहाँ बड़ों से बड़ी भूल अथवा अन्याय हो।

†**दीदी मरी भैना[1] कींका।** [१ बहनोई] प्र०—किसी से संबंध टूट जाने पर अथवा किसी मतलबी का मतलब सध जाने पर।

दीनै इंवाली, बिंवाली, रातै उजालावाली। प्र०—जो काम को ठीक समय पर तो न करे पीछे फुरती दिखावे उस पर।

द्वी राजी तीसरो पाजी। प्र०—जो दोनों पक्षों में मेल हो जाने के बाद मेल कराने को पंच बनना चाहे, उस पर।

द्वी हाथू सगून। प्र०—जहाँ किसी को दोनों ओर से लाभ हो।

दुख काटिक सुख, सुख का पिछाड़ि दुख। प्र०—दुखी को धीरज बाँधने के लिये।

दुखदा ठेस, अडिठा भेंट। प्र०—जहाँ दुःख पर दुःख मिले।

दुखी कू बैद प्यारो। प्र०—जहाँ किसी को मुसीबत में कोई थोड़ा सा भी सहारा दे।

दुबली की गौड़ी के बड़ा ऐथों। दुर्बल की गाय का बड़ा थन।

दूध को दूध पाणी को पाणी। प्र०—अच्छे न्याय होने पर।

‡**दूध को जल्यूं छाँछ भी फूकीक पेंद।** प्र०—जहाँ कोई किसी विश्वास योग्य का भी विश्वास न करे।

---

* आप कहै नाहिन करै औरन को सिख देय।
दीप उजेरो करत है तरे अँधेरो होय ॥ —वृंद।

† धी मरी जमाईं चोर। टूट गई डाली उड़ गयो मोर।

‡ पिशुन छल्यो नर सुजन सों करत बिसास न चूकि।
जैसे दाध्यो दूध को पीवत छाँछहि फूँकि ॥

दूध फाट्यो अर दिल फाट्यो। प्र०—दूध और दिल जब फट जाते हैं तो फिर नहीं मिलते इस पर।

***दुधाल् गोरू को लात भड़ाक**[1]। [१ चोट] प्र०—उपकार करनेवाले की बुरी बातें सहनी ही पड़ती हैं, इस पर।

दुबला को स्वैण सबकी बै। प्र०—दुर्बल को सब दबाते हैं इस पर।

दुबला को पाथो अप्रवाण। [१ अप्रमाण] प्र०—जहाँ किसी गरीब की प्रामाणिक बात न सुनी जाय।

दूरक्या अणसाला[1] ते नजीक की प़ल्यूण[2] भली। [१ लुहारखाना, २ धार तेज करने का पत्थर] प्र०—जहाँ अच्छी वस्तु के प्राप्त करने में कठिनता पड़े और निकृष्ट वस्तु सहज में मिल जाय।

देख्यूँ मनखी क्या देखण, ताप्यूँ घाम क्या तापण। प्र०—जिससे कोई आशा न हो उससे याचना न करने के लिये।

देणी तेमासी[1] लेणी उदासी। [१ गढ़वाल राज्य का एक चाँदी का पुराना सिक्का जो तोल में तीन मासा भर होता है] प्र०—जहाँ पैसा खर्च करके भी बुरी वस्तु मिले।

देवता जाणो मन, ठाकुर जाणो धन। प्र०—देवता और ठाकुर से कपट-व्यवहार न करने के लिये।

देवता वासना[1] काही भोगी होंदा। [१ सुगंध] प्र०—देवता भाव पर ही प्रसन्न होते हैं चढ़ावा इत्यादि पर नहीं, इस पर।

देवता सेवता अपणा घरू, थेग़ला[1] लाणा नरू[2] का घरू। [१ पैवंद, २ मनुष्यों के] प्र०—जहाँ कोई थोड़े दिन

---

* हींसालु की वाण बड़ी रिसालू, नजीक जैवेर उधेड़ मान्नी।
ई वात को कोइ जनि गटो माना, दुधाल की लात सैणी पडंछ।
गुमानी कवि कुर्म्मांचली

का अधिकार पाकर सब से दुश्मनी कर बैठे, अधिकार छूट जाने पर उन दुश्मनों से तंग किया जावे या कर्जदार हो जाने पर साहूकारों से तंग किया जावे।

देवी नान्नी छल् बड़ो। [१ छोटी, २ भूत लगना] प्र०—जहाँ कोई छोटी सी वस्तु बड़ी करामात दिखावे, वहाँ।

देस भेष जुदा जुदा, रीत भाँत एक्कू। प्र०—जब भिन्न भिन्न मुल्कों के निवासियों में कुछ कुछ बातों में एकता दीखे।

देसा चाल, कुला व्यवहार। प्र०—देश और कुल की मर्यादा न छोड़ने के लिये।

देस्सू देस्सू का आला, भाँति भाँति बुलाला। प्र०—जब किसी काम में भिन्न भिन्न लोगों की भिन्न भिन्न सम्मतियाँ होवें।

दैब की मार खबर न सार। प्र०—जब कभी कोई दुर्घटना अचानक हो पड़े।

दैब न मिलाई जोड़ी, एक अंधो एक कोड़ी। प्र०—जहाँ कहीं ऐसे दो का मेल हो जाय जिनमें कुछ न कुछ ऐब हो।

दोण नि सको, बीस पथा सको। प्र०—जहाँ कोई सुगम काम को करने में असमर्थता बतलावे और कठिन काम करने को तैयार हो जाय।

दोण की दोतेरी पाथा को छसेरी। प्र०—जो कोई अपनी बात को बढ़ाकर कहे उस पर।

दोपुरा की भुइमुड़ी। प्र०—जहाँ कोई लाभ होने के बदले पूँजी में से भी खर्च कर दे।

दौ न दस्तूर, छिंति मिंत्यौ, थोकदार। प्र०—बनावटी पदवीवाले पर।

द्यौ बख्य बटोई जाणो। प्र०—जिस बात की साखी ढूँढ़नी न पड़े ऐसी स्वयंसिद्ध बात के लिये।

* **धन जैा, मान रौ ।** प्र०--जहाँ मान के लिये अथवा जीत के लिये धन के व्यय करने में कसर न की जाय ।

धन सांजीक[1] रञ्जा 'भाग, तन सांजीक जूंरा'[2] भाग । [१ जमा करके, २ यमराज, काल] प्र०—जरूरत से ज्यादा धन कमानेवाले पर ।

धनि मेरी बूटी, कख लगी कख छूटी । प्र०—जहाँ कोई किसी काम को करानेवाले की इच्छा के विरुद्ध करे अथवा कोई प्रयोग या प्रयत्न वांछित फल न दें ।

धरी धराई, बस्त पराई । प्र०—जो धन कमाकर रखे खर्च न करे और उसे भोगने न पाए, उस पर ।

धाणी[1] को नौ,[2] सरीलौ,[3] थैा । [१ काम, २ नाम, ३ शरीर का विश्राम] प्र०--जहाँ मिहनत बहुत पड़े पर काम कुछ दिखाई न दे ।

ध्वै ध्वै क गोरो घुसेघुसेक सोरो[1] । [१ सजाति] प्र०—जहाँ कोई बनावटी बात बनाकर बड़ाई हासिल करना चाहे ।

धोण द्वी धोया, धैण[1] द्वी होया । [१ प्रसूति काल] प्र०—ढली हुई जवानी पर अथवा दो बार प्रसूति हो जाने से स्त्री का यौवन नहीं रहता, इस पर ।

धोत्यूं वाला कमैान टोपथूँ वाला समैान । प्र०—धोती पहननेवाले (हिंदुस्तानी) जो धन कमाते हैं उसे टोपवाले (अँगरेज) लोग ले जाते हैं, इस पर ।

धोबी को कुत्ता घर को न घाट को । प्र०—जिसके रहने का कोई ठिकाना न हो अथवा जो दोनों ओर मिला रहे, उस पर । दे० "ढाकरियूँ को कुकूर" ।

---

* मानं हि महतां धनम् । —चाणक्य ।

धोबी को मड़ो[१], कुम्हार की सत्ती[२]। [१ मुर्दा, २ सती] प्र०—जहाँ कोई किसी ऐसे काम में खर्च करे या लगा रहे जिससे उसका कुछ भी संबंध न हो।

धौ ल्याणू[१] बासमती, अर कखरचा ल्यूँ[२] अकल कख छै ?। [१ धौला की झाड़ी, २ बगल] प्र०—ऐसी जगह से आशा करना जहाँ से कुछ भी मिलना संभव न हो, इस पर।

नओं जोशी अर पुराणों बैद। प्र०—नए ज्योतिषी और पुराने वैद्य की उपयोगिता पर।

* **नकटी देबी को गांडो[१] पुजारी।** [१ बढ़े गले वाला] प्र०—जहाँ ऐसे लोगों में मित्रता या मेल हो जिनमें कुछ ऐब हों।

नगर का बैख[१] ठाकुरी ठाकुर। [१ मर्द, पुरुष] इस कहावत का मूल नगर नाम के एक गाँव से है जहाँ असवाल जाति के लोग रहते हैं। असवालों को ठाकुर पदवी गढ़वाल में बहुत पुराने जमाने से है। जहाँ कहीं सब बड़े आदमी बनना चाहें वहाँ इसका प्रयोग होता है।

न त ह्वै खील कौणी अर न त ह्वै मंडल[१] कि भीख। [१ गाँव] प्र०—जहाँ कहीं लाभ की आशा से एक काम के बदले दो काम उठाए जायँ पर दोनों में से लाभ एक में भी न हो।

नदी नाव संजोग। प्र०—विरक्त लोग कुटुंबियों के लिये अथवा किसी के कुटुंबी की मृत्यु पर आश्वासन देते हुए।

नन्नी[१] आँख्यूं न ठुलो[२] कौथिग[३]। [१ छोटी, २ बड़ा, ३ तमाशा] प्र०—जहाँ कोई बलवान् निर्बल पर ज्यादती करता है तो निर्बल उसका बदला लेना ईश्वर पर छोड़ते हुए कहता है।

---

† यादृशी शीतला देवी तादृशो वाहनः खरः। —चाणक्य।

न नौ मण तेल ह्वे न राधा नाचो। प्र०—जहाँ कोई किसी काम को करने के लिये ऐसी शर्त या अड़ंगा लगावे जिसका होना असंभव हो।

नवा बाणी मुखे मुखे। प्र०—देखो "देशू देशू का औला" इत्यादि।

न बाछरू का पेटगा[1] न गोरू का टोटगा[2]। [१ पेट, २ थन] प्र०—जहाँ कहीं कोई वस्तु कितने ही और कामों में खर्च न करके बड़े प्रयत्न से किसी खास काम के लिये बचाई रखी जाय पर वह बिना उस काम के हुए बीच ही में खर्च हो जाय।

न रयो अणोठा,[1] न गयो परोठा[2]। [१ थन, २ ढेंकी] प्र०—ऊपर के मुवाफिक।

नवां दौ[1] पुराणा खिरता[2]। [१ दाँव-पेंच, २ दुश्मनी, क्रोध] प्र०—जहाँ कोई किसी के साथ दोस्ताने का ढंग रचकर किसी पुरानी दुश्मनी का बदला ले, वहाँ।

नवां पात लगोन पुराणा पात झड़ोन। प्र०—बूढ़ों के काम छोड़ने और जवानों के काम सम्हालने पर।

ना आइ पौणा आरू फूल्द अर ना आइ आरु पाक्द। प्र०—आरू (आड़ू) के फूलने (फागुन) और आरू के पकने (सावन) के महीनों में प्रायः किसानों के घर अन्न की तंगी रहती है इससे उन दिनों वे चाहते हैं कि पाहुने न आवें।

नाई की बरात मां ठाकुरी ठाकुर। प्र०—जहाँ सब बड़े बनना चाहें। दे० "तू राणी मैं राणी" इत्यादि।

नाक दम होईं च। प्र०—जहाँ काम करते करते थकान आ जाय।

---

* लीडरों की धूम है पर फॉलवर कोई नहीं।
सब तो जर्नल हैं यहाँ आखिर सिपाही कौन है॥

नाक मां हाथ धरथ्ूं छ। प्र०—जिसने लाज शर्म छोड़ दी हो, उस पर।

ना की कुछ दवाई नी च। प्र०—ना करनेवाले पर।

नाकै, नथुली अर खाणै, थकुली। प्र०—जिसकी सारी संपत्ति बिक जाय, उस पर।

नागपुर लगुलो, धनपुर तुमड़ो।

नांगी गात्ती उघाड़ी छात्ती। प्र०—दिलेरी से लड़ने को ललकारनेवाले पर।

नांगी ह्वैक नाची नी सात पांचुन देखी नी। प्र०—जहाँ किसी की छिपी हुई बुरी बातें प्रकट हो जायँ।

नांग्या' नांगी देखेया तिमला' तिमला खतैया। प्र०—दे० "तिमला"।

नाचण जाणो अर घुंगटो गाड़णो। प्र०—जहाँ कोई किसी न करने लायक काम को इरादे से करे साथ ही शरमावे भी।

नाचदारा को पैर अर गांदारा की गली। प्र०—जो किसी काम को करने में अति प्रवीण होता है वह उस काम के आरंभ में ही पहचाना जाता है, इस पर।

नाचदी खेलदी मुखै पर औंदी। प्र०—जहाँ कोई गुप्त बात जल्दी ही खुलनेवाली हो उस पर अथवा जहाँ कोई किसी बात को जानने की जल्दी करे उस पर।

नाच नि जाणयो आंगण बांगो। दे० "खैनिजाणयो" इत्यादि।

नादान दोस्त ते दानो दुश्मन भलो। दे० "दानो दोश्त" इत्यादि।

नान्नी मरगे। प्र०—जो कुछ जवाब न दे सके, उस पर।

नान्नी मरी, नातो टूट्यो। प्र०—किसी से संबंध टूट जाने पर।

नामी चोर पकड़्या जौ, नामी सौ कमै खौ। प्र०—चोर और साहु की नामवरी पर।

ना लगा साच्छो गड्याल् की बाणी, भतग-भुतग तुमन भी खाणी। प्र०—जहाँ पर कोई सीधा-सादा किसी चालाक का अनुकरण करके हानि उठावे।

नि खांदी ब्वारी का करकरा स्वाल। प्र०—जहाँ कोई अपने मालिक या बड़ों से कोरे जवाब देवे।

निखांदी ब्वारी छै सेरौ, खौ। प्र०—बड़ा अहार-वाले पर।

निखांदी ब्वारि सासु सुसुरु खांद। प्र०—ऊपर के ही अनुकूल।

नि देण जौ मनखी अर निधोण जौ लत्ता। प्र०—सूम और मैले कपड़ेवाले पर कहा जाता है।

निदेण्या भांडा आखण[1] नौं। [१ खाली नहीं] प्र०—जहाँ कोई किसी काम को न करने के लिये बनावटी बहाना बनावे।

निन्नाणवे का फेर मां पड़िगे। प्र०—जो किसी काम को करने के सुगम तरीके को छोड़कर कठिन कठिन तरीकों पर चलता हुआ घबरा जाय।

निपैंदि को पायो, रात्ति उठिक खायो।

निबड़दा[1] नाज का भलभला पौणा, रात ब्यांदी[2] दौं का भलभला स्वैणा[3]। [१ खतम होनेवाले, २ रात खुलने के समय, ३ स्वप्न] प्र०—जहाँ किसी वस्तु के अंत होने पर अधिक आवश्यकता हो।

निर्भागौ, लीगे बाघ भग्वानौं, पड़े जाग। प्र०—जहाँ एक के नुकसान होने पर दूसरा खबरदार हो जाय।

निसनखी करो कुसनखी की सेवा। प्र०—जिसके पास आदमी नहीं उसे कोई बुरा आदमी भी मिल जाय तो उसी को खुशामद से रखता है, ऐसे मौके पर।

निर्गंड मोटा नफा न टोटा। प्र०—ऐसे उद्योग-रहित मनुष्य पर जिसे पेट भरने के सिवाय और कुछ चिंता नहीं।

निरक्षर भट्टाचारज। प्र०—अपढ़ के लिये।

निसकू भारी का काखा[1] कटगड़ा[2]। [१ जिस रस्सी से बोझ कंधों पर थमा रहता है। २ कड़ा, सख्त] प्र०—जहाँ कोई किसी काम को न करने के लिये प्रत्यक्त ना न कहकर कोई और बहाना बनावे, वहाँ।

निसुत्ती (द्दी) फूफू भतीज्यूँ कू दैजौ[1]। [१ दहेज] प्र०—जो केवल इस विचार से कि संपत्ति जमा है उसे अयथार्थ अथवा अनुचित रीति से खर्च करे।

निहोंदी बुढ़ली[1] दायली[2] की कुटली[3]। [१ बुढ़िया, २ हँसिया, ३ कुदाल] प्र०—जहाँ किसी छोटी चीज को बढ़ाकर बड़ा न बनाया जा सके।

नीति[1] जैक थीती[2]। [१ गढ़वाल की उत्तरी सीमा का गाँव नीति जो तिब्बत और गढ़वाल की तिजारत की मंडी है। २ संतोष, स्थिति] प्र०—जहाँ कोई किसी काम के करने में इतना बड़ा उद्योग कर बैठे जिससे बढ़कर आगे कुछ न हो सके।

नीती लगो दूणी, दुबलो रैगे सूणी। प्र०—जहाँ कोई वस्तु ऐसे प्रयत्न से मिल सके जिसको करना कठिन हो, उस पर।

नील को टीको, कोढ़ को दाग। प्र०—जिसके चरित्र में ऐसा धब्बा लग जाय जिसको कोई न मिटा सके, उस पर।

नेकी नौ कोस, बदी सौ कोस। प्र०—बद नाम बहुत जल्दी फैलता है, इस पर।

नेगी मान्नो पर नेगचारो नि मान्नो। प्र०—किसी का उचित हक्क न मारने के लिये।

नैबेद का जुंदालू[1] ते देबी अफुई पेट पालदी, लोग चांदा परचो[2]। [१ चावल, २ प्रत्यक्ष फल] प्र०—जो स्वयं अपनी ही गुजर कठिनाई से करता हो उससे औरों की क्या परवरिश होगी, इस पर।

नौड़ी सौ का नौ बांटा। प्र०—जहाँ एक काम को करने के कई तरीके हों।

नौं नकद तेरह उधार। प्र०—उधार और नकद की बुराई, भलाई पर।

नौ नंग[1] आटा सा नी। [१ नौ नाखून] प्र०—जो किसान होने पर भी कुछ भी खेती का काम न करे।

नौं पुब्यां दस चुली। प्र०—खानपान में अधिक परहेज रखनेवालों पर तथा किसी काम के करने में भिन्न तरीकों को काम में लाने पर।

नौला गोरू का नौं पूला परालु। प्र०—नए की उचित से अधिक खातिर पर।

नंगा चोरू दगड़ी स्यून[1]। [१ सोवें] प्र०—जिसकी इज्जत नहीं उसे कोई डर नहीं; जहाँ चाहे जाय या रहे बैठे इस पर।

नंगै को नौंतेरी। [१ नाखून] प्र०—जो छोटी पूँजी से बहुत बढ़ा देवे उस पर।

नंगो क्या ध्वो क्या निचोड़ो। प्र०—जिसके पास कुछ नहीं वह क्या दे इस पर।

पग चलो पंथ कटो । प्र०—काम थोड़ा करने से भी पूरा हो जाता है इस पर।

पगड़ी का फुर्का । प्र०—इज्जत के निशान को या व्यंग पर भी।

पटासुल्क्यूंन[1] बज्जर नि टल्दा । [१ सीटी बजाने से] प्र०—बड़ी आफत छोटे उपाय से नहीं टलती उसके लिये बड़ा ही उपाय चाहिए, इस पर।

पड़्यो नी त अकरो[1] कौको[2] । [१ मँहगा, २ किस बात का] प्र०—उधार ले जाकर दाम न देनेवाले पर।

पढ़ायो गुणायो जाट, सोल् दूणी आठ । प्र०—जिस पर शिक्षा का कुछ असर न हो।

पढ्यात पढ्या पर गुण्यानी । प्र०—जिसे चतुराई न आवे उस पर।

पढ़ान फारसी बेचान तेल । प्र०—मुसलमानी जमाने की यह मसल फारसी पढ़े बेरोजगार लोगों के लिये थी। अब अँगरेजी पास किए हुए बे रोजीवालों के लिये।

पतली छाँछि पाणी नि सुहै । प्र०—ऐसे झूठ पर जो जल्दी ही खुल जाय।

पत्थर की लकीर है चुके । प्र०—जो अपनी बात पर अड़ा रहे, उस पर।

पद मुट्ठा का पाँच । इसकी कहानी इस तरह कही जाती है कि कोई असभ्य गँवार अपने पाद की बदबू को मुट्ठी में बंद करके दिल्लगी से एक भले आदमी के मुँह पर ले गया। उस भले आदमी ने उसे पाँच रुपये दे दिए जिससे उस मूर्ख का हौसिला बढ़ गया। वह दूसरे दिन भी वैसे ही पाद को मुट्ठी में बंद करके एक और भले आदमी के पास ले गया। उसने इस बेअदबी के

बदले में उसे जूते से पिटवा दिया। इस कहावत को लोग ऐसे मौके पर कहते हैं जहाँ कोई किसी की की हुई बेजा हरकत को अपनी सहनशीलता से सह लेता है।

परकार दिखेवन त खुँतडो[1] अर बाड़ि[2]। [१ एक जंगली साग, २ कोदो का बिना घी शक्कर का हलुआ] प्र०—तैयारी तो बहुत हो, पर असलियत कुछ न ठहरे।

पर घर यूं त्यूं जाण, दुख सांजीक[1] क्या पौण। [१ जमा करके] प्र०—ससुराल जानेवाली लड़की को जल्दी भेजने अथवा आनेवाली आफत का सामना जल्दी करने के लिये।

परमेश्वर का घर देर छ, पर अंधेर नीछ। प्र०—ईश्वर की न्यायपरायणता पर।

परमेश्वर जब देंद तब छप्पर फोड़िक देंद। प्र०—किसी के भाग्योदय पर।

परमेश्वर जो कुछ कर्द सब भला का ही वास्ता कर्द। प्र०—किसी के दुख पर ढाढ़स देने के लिये ईश्वर की न्यायपरायणता की दुहाई देने के लिये।

पर्वत अर राई को पर्वत। प्र०—परमेश्वर की महान् शक्ति के लिये।

परायो दिल परदेश। प्र०—जिस पर विश्वास न हो उस पर।

पअल खायो, अधेल भूरयो[1]। [१ दुख मानना] प्र०—जहाँ सुख के साथ साथ दुःख अधिक हो।

पल्या गौं ब्यौ, मेरी आंख्यूं डौ[1]। [१ दर्द] प्र०—दूसरे की संपत्ति देखकर जलनेवाले पर।

पाड़ी[1] बामण जाँदु[2] पिलौणो। [१ लिटाकर, २ शराब का खमीर] प्र०—जहाँ कोई किसी को बुरा काम करने के लिये मजबूर करे।

पाणी का ही धारा बणांग[1] लगिगे। [१ वन की आग] प्र०—जहाँ रक्षक ही भक्षक बन जाय। न्यायाधीश अन्याय करने पर उतारू हो जाय।

पाणी जागिक[1] पतलो, अर ह्यू जागिक बकलो[2]। [१ ठहरकर, २ घना] प्र०—बारिश और बर्फ के लगने से इंतजारी करने पर।

पाणी सी पतलो, धुआँ सी बकलो। प्र०—पानी और धुआँ के लिये।

पाणी फूटीगे त उधारी सी क्या बगद[1]। [१ बहना] प्र०—उचित देन नहीं छूटता, इस पर। अथवा अवश्य होनेवाला काम छोटी सी बाधा आने पर नहीं रुकता, इस पर।

पांच जुत्ता अर होक्का का पाणी। प्र०—किसी को लानत मलामत करने के लिये।

पांचों अंगुली घयू मा, सिर कढ़ाई मां। प्र०—पराए माल को उड़ानेवाले पर।

पाँचू अँगुली पिड़ा बराबर। प्र०—प्रेम की मात्रा सब संतानों पर एक समान होती है इस पर अथवा सब संबंधी एक समान होते हैं, इस पर।

पाँच्छि आँगली बराबर नि होंदी। प्र०—छोटे बड़ों का भेद दिखलाने के लिये।

पाँचौं सवार बणयूँ रहँद। प्र०—जो छोटे दर्जेवाला अपने मुँह से अपनी गिनती बड़े दर्जेवालों के साथ करे उस पर। इसकी मूल कहानी यह है कि एक समय चार सवार अच्छे अच्छे घोड़ों पर सवार होकर घोड़ों को तेजी से दौड़ाते चले जा रहे थे। उनके पीछे से एक शख्श एक सड़ियल टट्टू पर सवार उसी और जा रहा था। एक आदमी ने एक मुसाफिर से, जो उधर से आ

रहा था, पूछा—"ये सवार कहाँ जा रहे हैं?" इस बीच वह सड़ियल टट्टू वाला कहने लगा—"हम पाँचों सवार दिल्ली जा रहे हैं।"

पाणी पीक जात क्या पूछणी। प्र०—किसी काम के करने से होनेवाली बुराई का विचार उस काम के करने से पहिले कर लेना चाहिए। काम कर लेने के बाद विचार करने से क्या लाभ? इस पर।

पाणि मां रणो माछा दगड़ी बिरदोष[1]। [१ दुश्मनी] प्र०—जहाँ रहे वहाँ के अधिकारी अथवा बलवान् से वैर न करे, इस पर।

पान चावण कू छन घोड़ा दावण कू छन। प्र०—किसी के ऐश्वर्य की प्रशंसा में।

पाप प्रकट धर्म गुप्त। प्र०—किसी बुरी गुप्त बात के प्रकट होने पर।

पापी करो बिराणा घर की टापी[1]। [१ उत्कट अभिलाषा] प्र०—परायी चीज़ पर नजर रखनेवाले पर।

पांसो पड़ो अनाड़ी जीतो। प्र०—भाग्य की बलवत्ता पर।

पिंडाल़ू कंडो पोर, फासरो पूठो ओर। प्र०—जिसकी चोरी उसकी पोशाक के निशानों से प्रकट हो रही हो, उस पर।

पित्र पूज्या पठाल़ लगी। प्र०—किसी की अंतिम बिदायगी पर।

पिस्यां भारा घट्ट। प्र०—जहाँ कहीं पहिला परिश्रम बेकार चला जावे और सारा काम फिर से नए सिरे से करना पड़े।

पिरोल़ीं[1] आग अर उल्याईं[2] बुवारी[3] कख छै। [१ तितर-बितर करना, २ दिक की हुई। कहीं कहीं इसका अर्थ 'जिसका मन उचटा दिया गया हो' भी होता है, ३ बहू] प्र०—आग और बहू जहाँ दिक की जाती हैं वहाँ।

पुंगड़ा बाड़ है जांदी पर हियड़ा बाड़ नि हैसकदी। प्र०—किसी के दिल या चित्त को जोर करके नहीं रोका जा सकता, इस पर।

पुरुषू लगदा भाग होंदा। प्र०—जहाँ ऐश्वर्य किसी खास मनुष्य के ही दम तक रहे।

पूळ भी खुर्स्यैण[1] पर नौंचौं याहीळ। [१ बाल झड़ना, २ चँकरदार] प्र०—जो बर्बादी हालत पर पहुँचने पर भी अकड़पन न छोड़े।

पूज्यूं हुंगो दोष लगद। प्र०—जिसको मानकर आए हों उसे मानना ही चाहिए, न मानने से विरोध उत्पन्न हो जाता है इस पर।

पूज्यूं पीपल। प्र०—दानपात्रों के लिये।

पूंडी वल्या भेल् जांदी नी बचदी, पल्या भेल् जांदी नी बचदी। [१ सुफेद मुँहवाली गाय, २ खड़ी जमीन] प्र०—जहाँ कोई ऐसे खतरे की अवस्था पर पहुँच जाय जिससे किसी सूरत में भी बचने की आशा न हो।

पूड़ीपाल्[1] से त गया पर क्या नमोनारायण[2] से भी गया। [१ भोजन भिक्षा, २ नमस्कार प्रणाम] प्र०—जहाँ किसी से कुछ संबंध छोड़ दिया गया हो और कुछ बना रहे।

पूत अपणो न्यौ बिराणो। प्र०—जहाँ न्याय न्याय करनेवाले के विपक्षी के पक्ष में हो। अथवा अपने विपक्ष में हो वहाँ स्पष्ट बात कहने के लिये।

पूत कपूत गयो चोरी, असाड़ी आरू ल्यायो तोड़ी। प्र०—जो ऐसा बुरा काम करे जिससे कुछ भी लाभ न हो, उस पर।

पूत सैंती ब्बारी की भौंदी, सूत काती कोलि कि भौंदी[1]। [१ बस में] प्र०—जहाँ किसी के परिश्रम का फल दूसरे को मिले।

पेट लगी आग, क्या चैंद साग। प्र०—भूख की प्रबलता पर।

थैणा की पकोड़ी सवादी होंदी। प्र०—जहाँ थोड़ी वस्तु स्वादिष्ट हो।

पैणा को पैणो चुकायो सारो भितर बथौंन[1] फुकायो। [१ हवा में] प्र०—झूठी आशा में समय बर्बाद करनेवाले पर।

पैले त पधानचारी नीत खेचुलो[1] ही सही। [१ समय बर्बाद] प्र०—जो दूसरे के काम में बाधा डालने के लिये बीच में खड़ा होता है उस पर।

पैसा नी पास त सरो मेलो उदास। प्र०—पैसे की बलिहारी पर।

पैसा कि जात अर पैसा की, थात। प्र०—जहाँ पैसे के बल से घटिया जातिवाला बड़ी जातवालों से संबंध करे।

पैसा धाणी पैसा पाणी। प्र०—जिसके सब काम मजूरों से चलते हों उस पर।

पोळ्‌लू का पियाँन समोदर नि सूखद। प्र०—माँगने-वाले देनेवाले के उत्साह बढ़ाने के लिये।

पोथी का भट्टा औरी होंदा अर खाण का औरी। कहानी इस प्रकार है कि एक पंडित कथा बाँचने के समय भट्टे के साग को त्याज्य बतलाता था पर स्वयं भट्टे का साग खाया करता था। एक दिन किसी ने पूछा पंडितजी आप तो कथा में बाँचते थे कि भट्टे का साग नहीं खाना चाहिए पर आप स्वयं खा रहे हैं। इस पर पंडितजी "पोथी का भट्टा इत्यादि" उपरोक्त वाक्य कह बैठे। तब से यह मसल हो गई कि जो मनुष्य औरों को उपदेश करे पर स्वयं पालन न करे उस पर इसका प्रयोग होता है।

पोथी न पातड़ी गल्क्या[1] बामण। [१ टुकड़खोर] प्र०—अपढ़ ब्राह्मण के लिये।

पोरकरो[1] परारकरा छकौ[2]। [१ पारसाल का, २ धोखा दे] प्र०—जहाँ कोई कम उम्रवाला बड़ी उम्रवाले को धोखा देने का प्रयत्न करे।

पौ रड़ौ[1] जीभ डंडौ[2]। [१ फिसलावे, २ दंड दिलावे] प्र०—जहाँ चलने और बोलने की असावधानी पर दुःख उठाना पड़े।

पौंणा का नौं खाणो बाला का नौं सेणो। प्र०—जहाँ किसी एक काम के बहाने दूसरी तरह लाभ उठाया जाय।

पौंणा का नौं पाक्यो, सबुन चाख्यो। प्र०—जहाँ एक के निमित्त काम करने से कई और भी लाभ उठावें।

पौंणा पूछीक पकोड़ी कखछै? प्र०—किसी का आदर सत्कार इत्यादि करने के लिये उसी से पूछना उचित नहीं, इस पर।

पंचू पूछीक करनो काज, हारो-जीतो नि औ लाज। प्र०—किसी काम के करने में पंच, इष्ट-मित्र इत्यादि की सम्मति लेने की उपयोगिता पर।

पंचु को गयो सारो सेरो, नाली दुयेक गयो मेरो। प्र०—जो विपत्ति अकेले अपने ही ऊपर न हो, औरों के ऊपर भी हो उसको सहने की शक्ति स्वयं उत्पन्न हो जाती है इस पर।

फर फथ मेरि कुँडालि कथैं। प्र०—जहाँ बहुत तैयारी की जाय, पर हो कुछ भी न सके।

फर[1] काटणो, अर शहर फूकणो। [१ मधुमक्खी का छत्ता] प्र०—मधुमक्खी के छत्ते के काटने का पाप शहर जलाने के समान होता है इस पर अहिंसा का उपदेश करते हुए।

फांट न पट्टा नौं क्वै पधान, डाली न बोटी नौं छ बग्वान। प्र०—बनावटी या पदवीवाले पर।

फांड[1] फूटली त करदोड़[2] क्या थामली[3]। [१ पेट, २ करधनी, ३ थामेगी] प्र०—बड़ी बलवती बाढ़ को छोटा सा बाँध नहीं रोक सकता, इस पर।

फिर मोची[1] का मोची। [१ जूता बनानेवाला] प्र०—जो उन्नति पाकर फिर अवनति को प्राप्त हो जाय।

फूक झोपड़ी देख तमासो। प्र०—जो अपने ही हाथ अपना नुकसान करे उस पर।

फेरू[1] की बगत झाड़ा। [१ विवाह की भाँवरी] प्र०—जो ऐन मौके पर टल जाय या धोका दे उस पर।

फेर फेरनो भलो, जँगार[1] तरनो बुरो। [१ नदी में पैदल चलना] प्र०—खतरनाक रास्ते से अधिक लंबा मार्ग चलना अथवा कम खर्चवाले निकम्मे तरीके से ज्यादे खर्चवाला तरीका अच्छा, इस पर।

बगदी गंगा हाथ धोणो। प्र०—जिसे आसानी से कुछ भलाई का मौका मिल जाय उसे भलाई करने में नहीं चूकना चाहिए, इस पर।

बगमारा[1] काखड़ू[2] गीज्यूं[3] छ। [१ बाघ के मारे हुए, २ मृग, ३ आदत पड़ी हुई है] प्र०—जिसे मुफ्तखोरी की आदत पड़ी हुई हो।

बगुला भगत। प्र०—जो कपट से बाहर तो मीठी मीठी बातें बनावे और भीतर ही भीतर बुराई करे।

बग्वाली बीती द्वी सार रीती[1]। [१ खाली] प्र०—जहाँ किसी बड़े काम के पूरे हो जाने पर भीड़ छँट जाय अथवा सामान खतम हो जाय।

बग्यूं बाघ जिबाला पड़ी जाँद। प्र०—छिपकर अपराध करनेवाला कभी न कभी पकड़ा ही जाता है, इस पर।

बड गान्यूं भूक मरो असमान्यूं लोट पड़। दे०—'असमान्यू' इत्यादि।

बड़ का बड़ा भाग। प्र०—जहाँ किसी का बड़ा काम सहज ही में हो जाय।

बड़ की बड़ी बात। प्र०—जहाँ किसी बड़े की कही हुई बात के कितने ही माने लगें।

बड़ो मारो अर रोण भी नि द्यो। प्र०—जहाँ कोई जबर्दस्त दोहरा अन्याय करे।

बडोलि बिसौ[1] अर कुँडोलि निसौ[2] कख छौ। [१ बिसाहने की सामग्री, २ इंसाफ] प्र०—किसी बात की असंभवता पर।

बड़ा को रोष पूठा सूड़े। प्र०—गंभीर पुरुष की सहनशीलता पर।

बण्वा भागिगे काठगो घालिगे। प्र०—जहाँ कोई आदमी कुछ उपद्रव करके आप चला जाय और पीछे रहे हुए उसके साथियों को उस उपद्रव की जवाबदेही करनी पड़े। इसकी असली कहानी यह है कि कुछ ग्वालों में एक बण्वा नाम का था। उसने बरों के छत्ते पर लकड़ी घुसेड़ दी और आप भाग गया। वहाँ पर रहे हुए ग्वालों को बरों ने काट खाया।

बण सुंगरून खाया पिंडालू घरसुंगरू का थें[1] थ्यां थोंतरा[2]। [१ कूटे गए, २ जबड़े] प्र०—जहाँ कसूर करे कोई और पकड़ा जावे कोई और।

बद्द[1] भलो, पर बद्दो[2] बुरो। [१ बदमाश, २ बदनाम] प्र०—बदनामी पर।

बदरी रैगे पलो गदरी, भतगे[1] खैली वली गदरी। [१ चोट] प्र०—जहाँ सहायक के मिलने में देर होने से पहिले ही नुकसान उठाना पड़े या मार खानी पड़े। बदरीनाथ पुरी में

पहुँचने से कुछ ही पहिले कांचनगंगा नाम का एक बिना पुल का गधेरा (नाला) है। उसको पार करते हुए प्रायः यात्री लोग उसमें गिर पड़ते हैं और चोट खाकर जखमी हो जाते हैं। लोग इस कहावत की जड़ इसी कांचनगंगा को 'वली गदरी' बतलाते हैं।

बद्.ल्यां द्यौ की घाम तड़ाक, ढांटुला खसम की जांठा भड़ाक। प्र०—जहाँ कोई थोड़े दिन का अधिकार पाकर डाँट बतावे।

बल्.द नि जोड़नो ढांगो[1], आबत[2] नि जोड़नो कांगो[3]। [१ बूढ़ा, २ संबंधी, ३ कंगाल] प्र०—बूढ़े बैल और कंगाल संबंधी पर।

ब.ल्दबुखराड़ी[1] जवैं ससुराड़ी[2]। [१ भूसे के ढेर में, २ ससुराल में] प्र०—जहाँ दामाद ससुराल में हो।

बर्स होया अस्सी अकल गै नस्सी
बर्स होया साठ अकल गै नाठ। } प्र०—जहाँ किसी बूढ़े की सम्मति किसी को पसंद न हो।

बाओं हाथ दैणा हाथ धो, दैणो हाथ बायाँ हाथ धो। प्र०—जहाँ कुछ लोग आपस में एक दूसरे की सहायता करते हुए काम चलाते हों।

बाखरा पिछाडी बाघ अर घाघरा पिछाड़ी लाग। प्र०—जहाँ किसी की किसी पर लाग या लगन लगी हुई हो।

बाखरा को गिच्चो कि खुँकरया को इच्छो। प्र०—जहाँ कोई जबर्दस्त किसी कमजोर पर मनमानी ज्यादती करे।

बाग का फेर अर सर्प का घेर। प्र०—बाघ और सर्प के अदृश्य होने पर।

बागन मारे तौ घर नि स्राए, भेल् पड़े तौ घर नि स्राए। प्र०—जहाँ हर तरह किसी काम के सिद्ध होने में पूरी निराशा हो जाय।

बाग नि लिजांदो बाखरी त कव्वा नि लिजांदो हाड। प्र०—जहाँ एक के किए हुए बुरे काम के कारण दूसरा भी बुरा काम करे।

बाग बकरी एक घाट पाणी पें दान। प्र०—अच्छे राज्य की प्रशंसा पर।

बाग बखर्वालो डोम घट्वालो। प्र०—किसी काम को ऐसे आदमी के भरोसे छोड़ना जो स्वाभाविक ही हानि पहुंचानेवाला हो।

"बाग बाग रात किलै हिटदी ?" "कै कि लैंदी मारे, कै कि बिंदारी मारे"। प्र०—अपराधी के छिपने के प्रयत्न पर।

बाग आयो लुकदो लुकदो, कुकर आयो भुकदो भुकदो। प्र०—चोर और रक्षक की कार्य्यशैली पर।

बाछी चुली पूछी बड़ी। प्र०—जहाँ किसी लाभ की आशा में किए हुए काम में लाभ से हानि अधिक हो जाय।

बाछी छोटी हत्या बड़ी। प्र०—जहाँ कोई छोटा सा साधारण काम बड़े अपराधों की गिनती में आ जाय।

बाँटिक खाणो कि साँटिक खाणो। प्र० बाँट साँट कर खाने का उपदेश।

*** बाँज नि सकू बुरांस नि सकू स्यांरू धपाक!** [१ चोट] प्र०—जहाँ कोई बलवानों से तो बात न करे, निर्बलों को तंग करे।

---

* कछु बसाय नहिं सबल सों करे निबलन सों जोर।
चलै न अचल उखार तरु डारत पवन झकोर ॥—वृंद।

बांजा[1] गैं की कूँडुडो पधान। प्र०—जहाँ कोई योग्य पुरुष न हो वहाँ अयोग्य ही योग्य समझा जाता है।

बांजा गांव को सूलो पदान (जैसा ऊपरवाला)।

बाटो भूल्यूं मिल जांद पर अक्कल भूलीं नि मिलदी। प्र०—बड़ी चूक हो जाने पर।

बाड़बैठिगे उजाड़ खाण। प्र०—दे० बाड़ही इत्यादि।

बांडी[2] लोकेण क्या जाणो परसव पिड़ा[1]। (१ बाँझ स्त्री) प्र०—जहाँ साधारण मनुष्य पेचीदा बात को समझ न सके।

(क्रमशः)

---

(१) जहाँ चतुर नाहिन तहाँ मूढ़न सों ब्यवहार।
वट पीपर बिन होय ज्यों एरँड को अधिकार।—वृंद।

(२) पंडित जन को श्रम मरम जानत जे मति धीर।
कबहूँ बाँझ न जानई तन प्रसूति की पीर।—वृंद।

(१४) गढ़वाली भाषा के 'पखाणा' (कहावतें)

[लेखक—श्री शालिग्राम वैष्णव, कर्णप्रयाग, गढ़वाल]

(पत्रिका, भाग १८, अंक २, पृष्ठ २०१ से आगे)

बात पाणी का बुजाड़ा[1] छन होणा। [१ पोटली] प्र०—अस्थायी उपाय पर।

* **बाँदर क्या जाणो आदा को सवाद।** प्र०—जहाँ कोई गुणयुक्त वस्तु किसी ऐसे मनुष्य के पास पड़े जिसे उसके गुणों की पहचान न हो।

बाँदर का कपाल टोपलो नि स्वांद। प्र०—जहाँ कोई अच्छी वस्तु किसी ऐसे मनुष्य को मिले जो शीघ्र उसका नाश कर दे।

बांध्यूं डोम नौ टका[1] सिरै[2]। [१ नौ सेर, २ देना कबूल करे] प्र०—जहाँ गरजमंद से अनुचित पावने का इकरार कराया जाय।

ब्वाना बट्यां जस होंद। प्र०—जहाँ किसी के आने ही पर कोई हानि हो जाय।

बाप पूत लेखो जोखो, मां धी ऊजो पैंछो। प्र०—जब मित्रों के बीच कुछ लेन देन की बात आ पड़े।

बाप मारो छाप मारो। प्र०—पिता के महत्वपूर्ण अधिकार पर।

बाबू को करयूं ब्यौ अर सबेर को धोयूं मुख कामी आंद—प्र०—यथावसर किये गये काम के लाभप्रद होने पर।

* आदि को स्वाद कहा कपि को अरु नीच कहा उपकारहि माने।
जाने कहा हिँजरा रति की गति आखर की गति का खर जाने॥

† बाबू की कमैं न कपूत खौ न सपूत साँजो[1]। [१ संचित करना] प्र०—बाप की कमाई के भरोसे रहनेवाले पर।

‡ बाबू की लेणगैछौ बूढा की उवाली क लाये। प्र०—जहाँ लेने के बजाय देने पड़ें।

बाबू गहणो दंद लहणो थोड़ी दंद। प्र०—बेटी के भाग्य पर।

बाबू ल्यौ स्या ब्वै[1], ठाकुर करो स्या सै[2]। [१ माता २ सही] प्र०—मौसिया माँ और हाकिम के किए हुए फैसले पर।

बामसू भंडार मैखंडा ताल़ो। प्र०—जहाँ नजदीक रहने योग्य प्रयोजनीय वस्तु अति दूर हो। बामसू उस स्थान का नाम है ज़हाँ केदारनाथ के पंडे रहते हैं। बामसू में जो धन (भंडार) है उसकी चाबी केदारनाथ अर्थात् मैखंडा है। यही इस कहावत का आशय है।

बारा बर्स दिल्ली रया भाड़ ही झोंके। प्र०—अनुभवहीन पुरुष पर जिसे बहुत सा काम करने पर भी कुछ अनुभव न हो।

बारामास्या निन्द, छै मास्या फुंकार। प्र०—बहुत सोनेवाले पर।

बाल की खाल निकाल़णी। प्र०—बहुत बारीकी करनेवाले पर।

बाल़कि[1] वेदना को जाण सकद। [१ बच्चे की] प्र०—न बोल सकनेवाले की वेदना कोई नहीं जानता।

---

† पूत सपूत तो क्यों संचे। पूत कपूत तो क्यों संचे॥

‡ चौबेजी छब्बे बनने गए थे दुबे होके आए।

थे केक की फिक्र में सो रोटी भी गई।
चाही थी बड़ी सो छोटी भी गई।
वाइज की नसीहत क्यों न माने आखिर।
पतलून की ताक में लँगोटी भी गई।—अकबर।

बाला को हाथ खज्यो, बुड्या को गिच्चो खज्यो। प्र०—बालकों के उपद्रव करने और बूढ़ों के बकने पर।

ब्याले. को जोगी आज को आदेस। दे०—काल को जोगी इत्यादि।

ब्वारि क्वै बाबू लै छौं, ब्वारी क्वै बाबू खैगे। प्र०—जहाँ कोई अपनी लाई हुई सौगात आप ही खर्च कर डाले।

ब्वारि का कूट्यां मां सासू को रग-थराट[1]। [1 कार्य में व्यस्तता दिखलानेवाली हड़बड़ाहट; हाथ डालना] प्र०—जहाँ कोई दूसरे के पूरे किए हुए काम को अपना किया हुआ बताने को आखिर में शरीक होवे।

बाँस का बाड़ा बाँस। प्र०—जहाँ कोई लड़का, जिसके माँ बाप छोटी उम्र में मर गए हों, अपने बाप के ही बराबर कारोबार करे।

बिट्‌सि वाट्‌सीं 'बाबु बुढौ' सराध। प्र०—गाली देकर बूढ़े बाप का श्राद्ध।

बिठाणा संगरांद, डोमाणा उकरांत[1]। [1 जागना, न सोना] प्र०—जहाँ किसी काम के लिये किसी दूसरे को परिश्रम पड़े।

बिना अफू मर्‌यां स्वर्ग नि देखेंद। प्र०—जहाँ कोई काम बिना आप किए पूरा होता न दीखे।

बिना काम को वैठणो, अर बिना दाँतू को हैंसणो। प्र०—निठल्ले बैठनेवाले पर।

बिना, गली, गाणो, अर बिना प्रीती, रुसाणो। प्र०—उक्त दोनों की निरर्थकता पर।

बिना गुरू घाट, अर बिना ज्वै, खाट। प्र०—उक्त दोनों पर।

बिना छारै, छ्वै[1], अर बिना पिड़ै, र्वै। [१ कपड़े धोने के लिये राख का एक विधान] प्र०—बिना राख के धुलाई नहीं बनती, बिना पीड़ा के रुलाई नहीं आती।

बिना दूदी छै मैना पालुद। प्र०—जो किसी को झूठा भरोसा देता रहे पर काम न बनावे।

बिना पाणी को सी माछो। प्र०—जो किसी की लगन पर बेचैन हो।

बिना रोयां मां भी दूधो नि देंदी। प्र०—बिना मांगे कुछ नहीं मिलता इस पर।

बिपता यकुली नि औंदी। प्र०—जहाँ किसी पर कई दुःख एक साथ पड़ें।

बिराणा गौं को जाड़ो अर अपणा गौं की भूख। प्र०—दूसरे के गाँव में जाड़ा और अपने गाँव में भूख अधिक सताती है।

बिराणा घर ताता की र्.ड़[1]। [१ हठ] प्र०—दूसरे के घर में गरम भोजन के लिये हठ करना (उचित नहीं।)

बिराणा भात का अपस्वाण[1]। [१ भोजन के समय की बलि अर्थात् जो ग्रास ईश्वरार्पण रखे जाते हैं] प्र०—जो पराये किये हुए काम का यश आप लेना चाहे।

बिराणा लाटा[1] हँसौन,[2] अपणा लाटा रुवौन[3]। [१ गूँगे, २ हँसावें, ३ रुलावें] प्र०—गूँगी या नालायक संतान पर।

बिराणा सोना नाक दुखोणो। प्र०—मँगनी की वस्तु से शान दिखानेवाले पर।

बिराला का भाग न छिंका टूटे। प्र०—जहाँ किसी को बिना परिश्रम अकस्मात् कोई संपति मिल जावे।

बिराला की नजर छिंका पर। प्र०—जो अपने प्रयोजन की सिद्धि ही के लिये कोई काम करता हो।

बिराळी मारीं सबी देखदान दूध खत्यू[१] कोई नि देखदो। [१ गिराया हुआ, खिंडाया हुआ] प्र०—जहाँ कोई भीतरी बातों को जाने बिना केवल बाहरी बातें सुनकर किसी को दोषी ठहरावे।

बिराळी क्या जाणो मोल को दै[१]। [१ दही] प्र०—जहाँ कोई किसी चीज की कदर न जानकर फटयाजी से उड़ावे।

बिराळ ताणो भित्तनै, कुकूर ताणो भैनैं। दे० कुकूर ताणो० ।

बीड़[१] सूँ रोई ना, अपणी पती खोईना। [१ पराया] प्र०—सहानुभूति न रखनेवाले के पास अपना दुःख बखान न करने के लिये।

बीस की उन्नीस। प्र०—जहाँ कठिनाई या दुख कुछ घट जाय।

बुड्या बेटी दीक दुणखेपाई। प्र०—जहाँ कोई नादान से दोस्ती करके हानि उठावे।

बुड्या बोलीक मारेंदनी, तरुणा बोलीक पालेंदनी। प्र०—मर्यादा की रक्षा पर।

बुरा देखीक कर्ता[१] डरो। [१ ईश्वर, काल] प्र०—जबर्दस्त की जबर्दस्ती पर।

बूड रांड सब मां मरो[१] बूडमां क्वै निरै। [१ सब में जान देने को तैयार रहे] प्र०—जहाँ जहाँ घर के बूढ़ों की बेकदरी हो।

बूडत स्यौ पर कूव निसेण देंदी। प्र०—जहाँ कोई इच्छा रहते हुए किसी खास कारण से इच्छित काम न कर सके।

बेकार से बेगार भली। प्र०—बिलकुल न मिलने से कुछ मिलना अच्छा।

बेगल्यां[1] भाई सोरा[2] बराबर। [१ जुदे हुए; जिनकी सम्पत्ति का बँटवारा हो गया हो। २ दूर के बिरादर, सगोत्री] प्र०—जुदे हुए भाइयों पर।

बेट्या,[1] अर माट्या,[2] दगड़ी[3] को सक्क्द[4] ? [१ बेटी देनेवाले के, २ जमीन के मालिक के, ३ साथ से ४ बरश्राव सकता है।] प्र०—उक्त दोनों के अधिकार के महत्त्व पर।

बेटी भाजिक[1] मैत, अर कूल टूटीक सोत[2]। [१ भागकर २ मूल धारा] प्र०—बेटी के भागकर मायके जाने पर।

वेट्यूं का बोरिया[1] अर कौणिका उधारिया[2]। [१ बहु-कुटुम्बी २ उधार कर्ज देनेवाले] प्र०—लड़कियों की अधिकता पर।

बेट्यूं का मांगण्या[1] अर साट्यूं का उधार्या। [१ माँगनेवाले २ कर्ज लेनेवाले] प्र०—लड़की माँगनेवालों पर।

बेट्यूं को घर अर बड़ूकी[1] गोठ कख छै। [१ बछड़ों की] प्र०—अधिक लड़कियों के कुटुम्ब की निस्सारता पर।

बेट्यूं को चाट्यूं घर, अर खरकौ[1], चाट्यूं बण। [१ भैंसों की गोठ] प्र०—उक्त दोनों के खोखलेपन पर।

बेशरम को नाक काट्यो, हातेक श्रौर बाढ्यो। प्र०—जिसे लोकलाज की पर्वाह न हो उस पर।

बैठो बणिया भार तोलो। प्र०—जो काम की कठिनता को जाने बिना मुँह से कहे कि यह काम करना सहज है उस पर।

बैम की कोई दवा नी। प्र०—वहमी मनुष्य पर।

***बोगठ्या[1] बोद सैं बग्वाल[2] खौंलो, बीचमां नवराता देखदूं नी।** [१ बकरा, २ दीवाली में एक स्थानीय

---

* रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातं भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पंकजश्रीः।
इत्थं विचिंतयति कोषगते द्विरेफे हा हन्त हन्त नलिनीं गज उज्जहार॥

त्यौहार] प्र०—जहाँ कोई नजदीक के खतरों को न देखे और दूर के मनसूबे बाँधे।

बोदू छौंत गौं पड़द बैदो,[1] निबोदू त ब्वारी घाघरी लां, दी कैदो[2]। [१ वैर, २ टेढ़ा] प्र०—ऐसे काम पर जिसको करने और न करने में भी भय ही हो।

बोली भाषा जुदी जुदी रीत-भांत-एक्कु। प्र०—मुल्क मुल्क के रिवाजों में जिन जिन बातों में एकता या समता दीखे उस पर।

बोलू बेटी सुणौं ब्वारी। प्र०—जहाँ कोई बात अप्रत्यक्ष रूप से कही जाय।

ब्यौ न स्यौ नौनी की फजिती[1]। [१ थकान] प्र०—असफल परिश्रम पर।

ब्यौ ल्यणो कुल सोधी, पाणी ल्यूणो मूल सोधी। प्र०—शादी से पहिले लड़की के कुल की शुद्धता को खोज पर।

भग्वान औ खांदी दौं, निर्भाग औ सेंदी दौ[1]। [१ समय] प्र०—खाने के समय पर आनेवाले के लिये जो रसोई में जीम सके।

भगवान का बल्द का द्वी लेवाल[1]। [१ खरीददार] प्र०—जहाँ किसी की अधिक मांग हो।

भग्यान घड़ि को लौड़ो ह्वय जो खणीं खाड मील।

एक समय एक भौंरा दिन के पिछले पहर सूर्य-कमल के पुष्प पर पराग लेने गया था। उसके पराग लेते लेते सूरज डूब गया जिससे कमल का पुष्प सिकुड़ गया। भौंरा उसमें बन्द हो गया। रात के समय भौंरा सोच रहा था कि रात्रि के बीत जाने पर जब कमलपुष्प खिलेगा तब मैं बाहर निकलूँगा किन्तु हाय उसकी आशा पूरी न होने पाई। रात्रि ही में हाथियों के समूह ने आकर कमलों को उखाड़कर फेंक दिया। भौंरा कमलपुष्प ही के भीतर मर गया।

भटक भारी खीसा खाली। प्र०—बिना पैसे के घमंडी पर।

भय बिना प्रीत कखछै। प्र०—बिना भय प्रीति न होने पर।

भला फूलू की भली वासना, भला मनखी की भली नामना[1]। [१ यश] प्र०—भले की भलाई और बुरे की बुराई पर।

*** भलू का बुरा, बुरू का भला।** प्र०—जहाँ भले की संतान बुरी हो।

भाई की सौग्यास यमाल़ाकी पीठ। प्र०—भाई के सुसराल की निंदा पर।

भाई बेगला[1] साही ओखल़ा। [१ जुदे जुदे] प्र०—भाइयों के जुदे होने की अनिवार्यता पर।

भागदा भूत की लंगोटी हाथ। प्र०—जहाँ सम्पूर्ण के चले जाने का भय होने पर भी कुछ रह जाय।

भागै, बल्यारी[1] छन। [१ बलिहारी] प्र०—जहाँ किसी का भाग्योदय देखने में आवे।

भागै, भताक कर्मै, लटाक। प्र०—जहाँ किसी वस्तु की प्राप्ति अप्राप्ति भाग्य पर निर्भर दिखाई दे।

भाटू का बाढ़ौन भितनैं लँड गाडौन[1]। [१ टट्टी करें] जहाँ बच्चों की अवस्था अधिक होने पर भी ऐब न छूटे।

भाणजा धाणी अर तितरा पाणी कखछया। प्र०—भानजों के रूखेपन पर।

भात छोड़नो पर साथ नि छोड़नो। प्र०—साथ न छोड़ने और प्रतिज्ञा निबाहने के सिद्धांत पर।

---

* होत भले को सुत बुरो भलो बुरे ते होय।
दीपक ते काजल प्रकट कमल कीच ते जोय॥

भाव बिना भगती न कर्म बिना रेख। प्र०—उक्त दोनों की महत्ता पर।

भासरो भासरो क्या बोल्द गांडो बोल। प्र०—जो बात को स्पष्ट न कहे उस पर।

* **भितर खाणा बाखरा भैर करना नाखरा[1]।** [१ नखरे] प्र०—जो छिपे छिपे बुरे कर्म करे पर बाहर बड़ा ज्ञानी और धर्मात्मा बना रहे उस पर।

भित्तर नीच आलण देंल म नचदन सत सत-बालण ? प्र०—झूठी शान के दिखावे पर।

भीक का टुकड़ा गल्थूं मां डंकार। प्र०—जो दरिद्र होने पर भी संपत्तिवानों के समान ठाट-बाट से रहे।

भीक सां भीक, तीन लोक जीत। प्र०—भीख माँगकर दान करनेवाले पर।

भीम से भारत, स्वर्ग से लात। प्र०—बड़े के साथ लड़नेवाले छोटे पर।

भुकदो कुत्ता काटदो नी। प्र०—जो केवल बकवाद करे, काम न करे।

भुजेलो बाढ़यो नीत फूरो भी निहोयो क्या ? प्र०—जो उम्र में बड़ा पर कद में छोटा हो।

भुड़त्या[1] मरया तुमड़ा फूट्या। [१ मजदूर] प्र०—मजदूरों की बेकदरी पर।

भूक मिट्ठी कि भोजन मिट्ठो। प्र०—भूख में स्वाद की आवश्यकता नहीं रहती इस पर।

भूको बोद वली गदरी, अगाणो बोद पली तुदरी।

---

* अंतश्शाक्ता बहिः शैवा सभामध्ये तु वैष्णवाः।
नानारूपधराः कौला विचरन्ति महीतले॥

[१ जिसे भूख न हो, अघाया हुआ] प्र०—जहाँ कोई किसी आतुर के काम करने में विलंब करता हो।

भैर ग्वल्ला भितर ग्वल्ला अर्ज बाड़ी कै सां कल्ला।

* **भैर धवाधौ[1] भितर बाड़ी[2] अर पल्.थै[3]।** [१ पुकार पर पुकार, २ कोदो के पिसान का बिना घी गुड़ का हलुवा, ३ छाँछ को उबालकर बनाया हुआ साक।] जहाँ बाहरी आडंबर और अंदरूनी तंगदस्ती हो।

भैर पुंड लंबी धोती भितर पुंड मंडुवा की रोटी।
भैर लग्यांछन ताला, भितरनी मूसा मारन का गाला। प्र०—ऊपर के समान।

भैस्यूं गोठ गैाळ्य्ूं[1] को नाश, नणदू घर बौळ्य्ूं[2] को नाश। [१ गायों का, २ बहुओं का] प्र०—उक्त दोनों पर।

भैंसे ब्याणे गुबेड़ो होय। प्र०—जहाँ बड़ी आशा हो वहाँ बहुत थोड़ा मिले।

भैंसो भेल़ पुछड़ो हाथ। प्र०—जहाँ बड़ा भारी नुकसान होकर थोड़ा बचे।

भैंसा को डौ मकड़ा पर। प्र०—जहाँ किसी बलवान् की की हुई बुराई का बदला निर्बल से लिया जाय।

भैंसा को मोल़[1] भैंसा का ही ढामणा[2] [१ गोबर, २ पीठ पर] प्र०—जहाँ किसी काम में आमदनी के ही बराबर खर्च हो जाय।

---

* बाहर मियाँ सूबेदार, घर में बीबी झोंके भाड़।
बाहर मियाँ पंचहजारी, घर में बीबी कर्मों मारी।
बाहर मियाँ छैल चिकनिया घर में लिबड़ो जोय।
बाहर मियाँ झंगझंगाले घर में बीबी नंगी सोय॥

भोज की राश्री, स.श्रदो[1] न बासी। [१ ताजा] प्र०—जहाँ बड़ी आशा की हो वहाँ जाकर कुछ न मिले।

भोल् भोल् दिन गया स्रोल्। प्र०—कल कल पर टालनेवाले पर।

भैाण न भास जिय को नास। प्र०—बेसुरे गानेवाले पर।

भैात खाणकू जोगी होया, पैल्या बासा भूखा रया। प्र०—जहाँ किसी लाभ होने की आशा हो पर आरंभ ही में हानि उठानी पड़े।

भैात ऋण हाल्[1] न भैात जुँऊं खाज। [१ चिन्ता] प्र०—उक्त दोनों बातों पर अथवा जहाँ कोई दुख की बात अति अधिक हो जाती है वहाँ दुख नहीं मालूम होता।

मक्खीचूस। प्र०—बड़े कंजूस के लिए।

मर्च छोटी बबकार बड़ी। प्र०—जहाँ छोटे में बड़ी करामात हो।

मड़दी का मांगल छन गायेणा। प्र०—जहाँ कोई काम उचित उत्साह से न किया जाय अर्थात् टूटे दिल से किया जाय।

मड़ो मरिगे भगलो कूटणो करिगे। प्र०—जहाँ किसी के मरने से दूसरे की अति बुरी दशा हो जाय।

महड़[1] को आसरो पाटणी[2] की भीख। [१ मठ, २ बाजार] प्र०—जहाँ किसी की गुजर इधर उधर भीख से होती हो सिर्फ रहने को किसी के घर में आसरा मिला हो।

मन करद सरदी, नौना बाला भूख मरदी। प्र०—जहाँ मन तो बड़े-बड़े सुख चाहे पर भीतरी हालत तंग हो।

मन की मन ही मां। प्र०—जहाँ मन की बात बाहर न खुले।

मनखीं आयो अस्सी,
अकल मति गै नस्सी।
मनखी आयो साठ,
अकल मति गै नाट।

प्र०—जहाँ किसी बूढ़े की सलाह की बेकदरी हो।

मनखी जो निदेण, कपड़ा जो निधोण। प्र०—उक्त दोनों पर।

मन चंगा कठौती मां गंगा। प्र०—अपने निरपराध होने के लिये।

मन्ने चुली[1] बिगचणी[2] डर। [१ मरने से, २ खराब होने की] प्र०—जहाँ कोई कुपथ्य खावे या अपने शरीर की परवा न करे।

मन्न जुग[1] मनखी निहोंद देण जुग वस्तू नि होंदी। [१ लायक] प्र०—जहाँ कोई किसी वस्तु के देने में हिचकिचाहट करे।

मनमां ऐजौ पर मुंडली ढगड्यौ[1]। [१ हिलावे] प्र०—जहाँ कोई किसी बात पर सहमत हो जाने पर भी स्पष्ट न कहे।

***मनलड्डू छिन खायेणा।** प्र०—जहाँ कोई ऐसे मंसूबे ठाने जो पूरे न पड़ें।

मन हौसिया कर्म गँडिया। प्र०—जहाँ मन बड़ी शान-शौकत चाहे पर तंगी से वे सब पूरी न हो सकें।

मया को नाज अर दया को मनखी खूब पनपद। प्र०—दूसरों पर दया करनेवाले पर अथवा मया से कुरेदी हुई फसल पर।

मरथां सबून सारया[1] जूँदा कैन नी सारया। [१ सहे] प्र०—किसी की असह्य हरकत के न सहे जाने पर।

मरलो नाटो किरिया न काटो, बचलो नाटो खालो आटो। प्र०—संतान-रहित के लिये।

मलीं भी अर द्वी भी कखळौ। प्र०—जहाँ कोई सब तरह अपना ही लाभ चाहे।

महर गंधिलो[1] घ्यू सुंधिलो[2]। [१ बदबूवाला, २ सुगंधवाला] प्र०—जहाँ बुरे से भले की प्राप्ति हो।

माई अपणी भिच्छ्या ना दे पर अपणो कुत्ता थाम। प्र०—जहाँ कुछ भलाई मिलने के बजाय उल्टे बुराई मिले।

माँ की छ्वीं[1] मौस्याणी[2] मू। [१ बात, २ सौतिया माँ] प्र०—जहाँ अपने पक्ष की शिकायत विपक्षी से की जाय अथवा विपक्षी की शिकायत उसी के दोस्त से की जाय।

*** माँगि माँगिक त बाबू खाँद अर नौनो रपकद द्वी ब्यौकू।** प्र०—अपनी विसात से अधिक की चाह करने वाले पर।

माखा मारनू छ। प्र०—बेरोजगार या बीमार पर।

मांगणी का गोरू का दाँत न खुर। प्र०—मँगनी की अथवा मुफ्त में आई हुई वस्तु की अनुपयोगिता पर।

मांगीक लीग्या पिरथी का, मेरी दौं[1] खिर्तिग्या। [१ समय, २ नाराज हो गए] प्र०—जहाँ कोई सबके साथ भलाई करनेवाला किसी एक पर नाराज रहे।

मांगी मांगी मैं ल्यूं पूछी पूछी त्वै द्यूं। प्र०—जहाँ कोई उससे माँगे जो स्वयं माँगकर गुजर करता हो।

माछी पाणी पेंद को देखद। प्र०—जहाँ कोई किसी बुरे काम को चुपके चुपके करता रहे।

माछापाणी ज्यू होयूँ छ। प्र०—जहाँ दो की गाढ़ी मित्रता दीखे।

माछो गंदो होंद ताल गंदो नि होंद। प्र०—किसी एक के दोष से सब दोषी नहीं हो सकते इस पर।

मां जाणी[1] धी, बाबू जाणी पूत। [१ स्वभाव का]
प्र०—मां के स्वभाव या सूरत की बेटी और बाप के समान स्वभाव-सूरत का लड़का होने पर।

माणा माथ गैांनी, अठारा माथ दैानी। प्र०—जहाँ पर किसी प्रयत्न की अंतिम सीमा हो जाय।

माठु[1] माठु चल्दी न सीली[2] रांड, दौड़ दौड़ी चल्दी तधुरया[3] रांड। [१ आहिस्ते आहिस्ते, २ धीमी, ३ ऐबी]
प्र०—जहाँ हर तरह छिद्रान्वेषण ही होता हो।

माता जाणो पिता, कृष्ण जाणो गीता। प्र०— जहाँ किसी गुप्त बात को जाननेवाला केवल एक ही मनुष्य हो अथवा किसी पेचीदा बात के कई मतलब निकाले जाते हों।

*** माथे बिटी पाणी सींचद तलाविटी जड़ी काटद।** प्र०—जहाँ कोई कपट-नीति का बर्ताव करे।

मान ना मान मैं तेरी मेहमान। प्र०—जिसे कोई आदर न भी करे पर वह स्वयं आदरणीय बने उस पर।

मारन ते मप्यायू[1] बुरो। [१ तकना, निशाना देखना]
प्र०—जहाँ कोई किसी को बिना हाथ छोड़े ही बेआबरू कर दे।

† मारन वाला ते बचौंदारो[1] बड़ो। [१ बचानेवाला]
प्र०—बचानेवाले की प्रशंसा पर।

मार बांधी क सैादा। प्र०—जहाँ कोई ऐसा काम जो राजी से होना चाहिए किसी से जबर्दस्ती करवाया जाय।

---

* परोक्षे कार्यहन्तारं प्रत्यक्षे प्रियवादिनम्।
वर्जयेत्तादृशं मित्रं विषकुम्भं पयोमुखम्॥ चाणक्य।

† मारनहार से रक्षक भारी।

मानीक देवता निमानीक ढुंगो। प्र०—विश्वास और श्रद्धा पर।

मां मरो पर मर्जाद[1] ना मरो। [१ मर्यादा] प्र०—मर्यादा अथवा सच्चाई की रक्षा पर।

मामा औलो तौली छुड़ौलो निजाणेकि टका दुयेक और डंडौलो। प्र०—जहाँ किसी पर विश्वास हो अथवा जिसके जाने से लाभ की आशा हो उसके आने पर उल्टी हानि उठानी पड़े।

मामा भाणजा घर जैक हूँला, श्रामल[1] थैली अपणी अपणी खोला। [१ रास्ते के लिये राशन] प्र०—जहाँ अपनी अपनी जिम्मेदारी निभाने में रिश्तेदारी का खयाल न किया जाय।

मामा समान पैणोनी, पित्र समान देवता नी। प्र०—उक्त दोनों पर।

मां मौंस्याण बाबू कटबाबू। प्र०—उक्त दोनों पर।

मार्दी मार्दी दिल्ली जैं, जब क्वै आगो हाथ[1] नाकर [१ रोकने ही] प्र०—जो काम कुछ न करे, मुँह से बड़ी बहादुरी की बातें करे।

***मार्यूं क्या मारनो।** प्र०—दुखी या दुर्बल पर प्रहार न करने के लिये।

मारू का अगाड़े भूत नाचो (भागो)। प्र०—जहाँ मार से सफलता हो।

मारू दिल्ली हगू चुल्ली। प्र०—जो मुँह से बड़ी बड़ी हाँके, पर करे कुछ नहीं।

मारे नी त कांधी मां क्या च। प्र०—जिसके कहने के विरुद्ध उसी के साथ प्रत्यक्ष प्रमाण मौजूद हो।

---

* "किसी बेकस को ऐ बेदाद गर मारा तो क्या मारा।
जो आप ही मर रहा हो उसे मारा तो क्या मारा॥"—जौक।

मारो भी अर रोण भी निद्यौ। प्र०—जहाँ कोई किसी पर ज्यादती भी करे और उसे बखान भी न करने दे अर्थात् किसी से कहने न दे।

माल[1] जैलो बट्टा[2] ल्यूलो, चुचा[3] परोठा[4] तेरि क्या रैगे। [१ मंडो, २ लोटा, ३ बेचारे, ४ काठ की ढेकी] प्र०—जहाँ कोई किसी की माँग को पूरा न करे और दूसरा कर दे।

मालवालो हार जै, गिच्चावालो जीत जै। प्र०—जहाँ धनशक्ति से वाक्शक्ति प्रबल हो।

मिंढौं गैां मां सबसे भली, पर आग कखों नि मिली। प्र०—जहाँ किसी की आत्मप्रशंसा उसी के कहने से झूठ साबित हो।

मिट्ठा का जलड़ा नि खदा, कड़ा का टुक्कू नि छूंदा। [१ जड़] प्र०—जहाँ कोई बुरों से डरकर बात न करे पर भलों को तंग करता रहे।

मिट्ठा का लोभ खायेंद जुट्ठो। दे० 'जुट्ठो खायेंद मिट्ठा का लोभ'।

मियाँ जी का तीन कपड़ा नाड़ा सूं तण वस। प्र०—जहाँ किसी चीज की बरायनाम गिनती ही बढ़ो हो पर वास्तव में हो कुछ भी नहीं।

मिरगो[1] ज्यू चलीगे कवै बोद मैं सगुन[1] भी नि मिले। [१ मांस की शोरनी] प्र०—जहाँ खर्च करनेवाले का तो बहुत खर्च हो जाय पर कोई कहे मुझे तो कुछ मिला ही नहीं, इससे कुछ भी न हुआ, इस पर।

मित्तर ठड्याव[1] अर सोरो[2] खड्याव[3]। [१ उठावे, २ सगोत्री, ३ खड में डाले] प्र०—जहाँ बिरादरीवालों की कूटनीति से हानि उठानी पड़े अथवा जहाँ मित्र की सहायता से उन्नति हो।

मित्र का बोलनी अग्वाड़ी अर शत्तुर का बोन्नी पिछाड़ी। प्र०—जहाँ मित्र के हित के लिये कड़वी बात कही जाय।

मुखड़ी देखीक टुकड़ों। प्र०—जहाँ किसी सार्वजनिक काम में समानता का बर्त्ताव न करके स्वार्थवश भेदभाव किया जाय।

* **मुख ध्वैक ऐजा।** प्र०—जहाँ किसी को व्यंग्य से झूठी आशा दी जाय।

मुर्खूं ज्ञान अर सुंगरू पक्वान कखछौ! प्र०—जहाँ किसी पर सदुपदेश का कुछ भी प्रभाव न पड़े।

मुर्ख वैद की मात्रा, स्वर्ग लोक की जात्रा। प्र०—जहाँ किसी वैद्य की औषधि से कुछ गुण न दीखे या बीमारी बढ़ जाय।

मुर्गी कू तकुवा क्वौ डाम भौत च। प्र०—जहाँ किसी गरीब को थोड़ी ही हानि बहुत अखरे।

मुंड मुंडारो न गती जर। प्र०—जहाँ कोई बीमार होने का बहाना करे।

मुंड की कांधी मां ऐगे। प्र०—जहाँ कठिनाई कुछ कम हो जाय।

मुंड्यू जोगी अर पीसीं दवाइ। प्र०—जहाँ किसी की जातपाँत का कुछ पता न चले।

सूंड्यू देश जौ अधमुंडो कख जौ। प्र०—जहाँ कोई किसी काम को अधूरा छोड़ दे।

मुंड को नौं कपाल। प्र०—जहाँ कोई किसी बात को स्पष्ट न कहकर घुमा फिराकर कहे।

मुद्दइ सुस्त गवाह चुस्त। प्र०—जहाँ मुद्दई से गवाह अधिक बोले अथवा जहाँ गवाह रिश्वत लेकर गवाही दे।

मुख खै आँख लजै। प्र०—जहाँ कोई किसी की खातिर तवाजा से दबकर सच्ची या न्याय की बात न कहे अथवा जहाँ कोई सरकारी हाकिम रिशवत लेकर पक्षपात करे।

सूत का दिवा जगणा छन। प्र०—जहाँ किसी धनवान् या अधिकार-प्राप्त व्यक्ति की जा-बेजा सब समायत हो जाय।

सूत को निवात्तो[1]। [१ गरम, सरदी का बचाव] प्र०—जहाँ कोई आराम या ख़ुशी थोड़े समय के लिये हो।

मूसा का बाना महल आग। प्र०—जहाँ छोटे से लाभ के लिये बड़ी भारी हानि उठाई जाय।

मूसा को ज्यू जै बिराल़ा को खेल ह्वे। प्र०—जहाँ किसी कार्य से एक को तो दुःख हो रहा हो और दूसरा ख़ुशी मनाता हो।

मूसा का मासू मूसा का ही गाल़ा[1]। [१ पकड़ने के लिये ग्रास] प्र०—जहाँ किसी लालची को फँसाने के लिये उसी से सहायता ली जाय।

मेंडकू जुकाम लैगे। प्र०—जहाँ कोई छोटी सी संपत्ति पाकर इतराने लगे।

मेंढा लोण दीने ओखल़ा डाल़ीक। प्र०—जहाँ किसी को ऐसी सहायता दी जाय जिससे उसे कुछ भी लाभ न हो।

मेरा गोस्यूं की नौतेरी[1] साल़, छोरा बाछरू की एंखारी[2] पाल़। [१ गौशाला १२ हाथ लंबी ६ हाथ चौड़ी। २ एकहरी दीवाल] प्र०—जहाँ कहीं बड़ी भारी खैरात लुट जाने पर भी कोई गरीब भूखा रह जाय।

मेरा ब.ल्दन तथ्या बायेनी जथ्या उजाड़ खाये। प्र०—जहाँ कोई कमाई से अधिक नुकसान कर बैठे।

मेरा बाबू न घ्यू खाये मेरो हाथ सूँघा। प्र०—जहाँ कोई अयोग्य व्यक्ति अपने पिछलों के नाम का घमंड करे।

मेरी आँगुली तेरा आँखू, तेरी आँगुली मेरा गिच्चा। प्र०—जहाँ कोई ऐसी व्यवस्था करे जिससे केवल अपने को ही लाभ और दूसरे को हानि रहे।

मेरी गंगा होली त मैमूँ औली। प्र०—जहाँ कोई अपनी सच्चाई अथवा हक के लिये ईश्वर को पुकारे। यह कहावत पुराने जमाने के एक धर्मात्मा गढ़वाल-नरेश की सिद्धवाणी से निकलकर प्रचलित हुई है। एक बार राजा साहब कुंभ-स्नान को हरिद्वार गए। वहाँ मेले की भीड़ अधिक होने से वे अपने राज्य की ही सीमा के अंदर एक जंगल में जिसे अब चंडीघाट कहते हैं, टिक गए। किसी ने उनसे कहा "महाराज यहाँ से गंगाजी बहुत दूर हैं स्नान की असुविधा होगी। कहीं गंगाजी के किनारे डेरा पड़ता तो अच्छा रहता"। इस पर महाराज ने कहा "मेरी गंगा होली त मैमूँ औली" महाराज सिद्ध पुरुष थे सिद्धों के वचन अकारथ नहीं जाते। रात को मेघ घिर आए। मूसलधार पानी बरसने लगा। गंगाजी में बाढ़ आने से उसकी एक शाखा फूटकर महाराज के डेरे के निकट बहने लगी। बस उसी दिन से यह मसल लोगों में प्रख्यात हो गई।

मेरी घाण ऐजौ वाढ़द्द को वल्द वाघ जीजौ। प्र०—जहाँ कोई केवल अपना कार्य साधने तक किसी चीज की रक्षा या खबरदारी करे काम निकल जाने के बाद उसका नुकसान हो जाने पर भी कुछ सहायता न करे।

मेरी नथुली मैं क्वीं नकचौंला[1]। [१ नाक भौं चढ़ाना] प्र०—जहाँ कोई किसी से परवरिश पाकर उसी के साथ बुराई करे।

मेरी बिराली मैं कूही न्यू । प्र०—दे० मेरी लथुलो०।

मेसी परबदालो भी बुणी जायेंद कुमेश्री निगालो भी नि बुणेद । प्र०—जहाँ कोई किसी काम को निकालने के लिये, जो सहज से निकल सकता हो, उद्दंडता दिखावे और असफल रहे।

मैं जैां वख, कर्म लिजौं कख । प्र०—जहाँ सारा उद्यम व्यर्थ जावे वहाँ भाग्य को दोष देते हुए।

मैत जवाई न ससुरास रवाई । प्र०—जहाँ कोई किसी काम करने को न तो आगे बढ़े न पीछे हटे, बीच ही में रह जाय।

मैं तेरो नाक काटलो पर तू बुरो ना मानो ।—दे० "मारो भी अर रोग०"।

मैं भाग होला त कै ठुला[1] की रांड होली । [१ बड़े की] प्र०—जहाँ किसी को दूसरे की विपत्ति अथवा नुकसान पर लाभ होता हो।

***मैं मारू फालो[1] कर्म की टूी नालो ।** [१ छलाँग] प्र०—जहाँ किसी को बहुत परिश्रम करने पर भी बहुत थोड़ा मिले।

मोटा देखिक मोटी सूल । प्र०—जहाँ किसी को मालदार जानकर माँग भी बढ़ाकर पेश की जाय।

मो. र[1] भी मिल सके अर पिशाब भी बैठ सके। [१ दर्वाजा] प्र०—जहाँ किसी के बिगड़ने के बाद सुधार का उपाय सूझे।

मोलाजै'[1] मैा कोणा जैक रो । [१ मुरव्वत करनेवाले का घर] प्र०—जहाँ कोई किसी की मुरव्वत करके स्वयं नुकसान उठावे।

मोलाजै' मैा हुंगा मां जैा । प्र०—ऊपर के समान।

---

* करम कमंडल कर गहे तुलसी जहँ लगि जाय।
सागर सरिता कूप जल बूँद न अधिक समाय ॥—तुलसी।

मोल लेणी सुख सेणी। प्र०—किसी वस्तु का मूल्य चुका देने पर कोई विवाद नहीं रहता इस पर।

मंतर नि जाणनो बिच्छी को सर्प दुलन्यूं डालनो हाथ। प्र०—जहाँ कोई ऐसे काम में हाथ डाले जिसका उसे कुछ भी अनुभव न हो।

यकुलो बास झगड़ू को नाश। प्र०—एकान्तवास करनेवाले पर।

यतनो नौं ततनो नौं बाड़ो ढिंडो[1] कीमां खौं। [१ पिंडा] प्र०—जहाँ किसी की सिर्फ बाहरी दिखावट हो, भीतरी हालत बहुत बुरी हो।

य.क रिख[1] को डर भूड़ लूक्या तख नौ रिख ढूक्या[2]। [१ रीछ, २ पीछा करने लगे] प्र०—जहाँ किसी एक विपत्ति से बचने का उपाय करते हुए कई और विपत्तियाँ खड़ी हो जायँ।

यार न आबत[1], ऐपड़्या चारी मावस। [१ रिश्तेदार, संबंधी, आप्तजन] प्र०—जो सगे संबंधी न हों और बिना मेजबान की इच्छा के मिहमान बन जायँ।

यूं तिलू तेल न यूं तिथ्यूं सराध। प्र०—जहाँ से कुछ मिलने की आशा न हो।

यूं पुठुन कत्ती घाघरा फाड़्या अर कत्ती फाड़णन। प्र०—जहाँ कोई अधिकारी अपने मातहतों अथवा रिआया पर ऐसे सख्त हुक्म चलावे जो उनको पसन्द न हों।

ये ठाकुर की देणी न लेणी आंखा घुराई कींकी। प्र०—जो बिना किसी उचित अधिकार या शक्ति के दूसरों पर दबाव डाले।

ये धान भूंच्यां छिन की भूंचण्यां? प्र०—जो कमाई सारी की सारी कर्जे में चली जानेवाली हो उसके लिये।

रज्जा का भंडार अर खंकलूका[1] गिच्चा। [१ लफंगों का मुँह] प्र०—उक्त दोनों की अधिकता पर।

रज्जा को चलणो अर मेघ को बरसणो। प्र०—उक्त दोनों की हितकारिता और अप्रत्याशित रूप से आ उपस्थित हो जाने पर।

रज्जा मारो, जगतर सारो[1]। [१ सहे] प्र०—राजदंड की सर्वमान्यता तथा अटलता पर।

रज्जा को जौ लोणपाणी, चिचा सहथा[1] को हियो फाट। [१ भंडारी] प्र०—जहाँ मालिक की आज्ञा हो जाने पर भी कारिंदा देने में आनाकानी करे।

रज्जा को जौ सारो सेरो नाल दुथेक गयो मेरो। प्र०—जहाँ किसी के दुःख में धीरज दिलाने के लिये उसके दुःख या हानि की तुलना किसी बड़े आदमी के दुःख या हानि से कराई जावे।

र.ड़[1] भी मिटिगे ढब[2] भी टूटिगे। [१ तीव्र हठ, २ आदत] प्र०—जहाँ कहीं इच्छित कार्य पूरा हो न पाया हो।

रड़ि[1]नी पड़्या खाट मांजै पड्या। [१ रपट (नहीं पड़े)] प्र०—जहाँ कोई किसी बात से जाहिरा तो नाराजी दिखावे पर भीतर से खुश होवे।

र.ड़ी[1] को राज खुशी को भोज। [१ हठी] प्र०—जहाँ कोई अपनी इच्छा से भले बुरे काम करे।

राजा को दान, अर पारजा को अस्नान। प्र०—उक्त दोनों की तुलना अथवा महत्त्व पर।

राजों का घर मोत्यूं[1] अकाल कखळौ? प्र०—जहाँ कोई संपन्न अपने पास किसी वस्तु का अभाव बतलावे वहाँ माँगनेवाले की ओर से।

रांड त रैंजौ पर रंडुवा नी रण देंदा। प्र०—दुष्टों की दुष्टता से विधवाओं के तंग होने पर अथवा जहाँ कोई इच्छा होने पर भी किसी के भय से कोई अच्छा काम न कर सके।

रांड का दिन जौन,[1] छोरा का दिन औन[2]। [१ जाते हैं, २ आते हैं] प्र०—विधवा के पुत्र की अच्छी दशा पर।

रांडी घर मांडी[1]। [१ चावलों का या अन्य किसी अन्न का माँड़] प्र०—फसल हो जाने से गरीबों की संपन्नता पर।

रांडू का पांजा,[1] गैां पड़याबांजा। [१ मंत्रणा, प्रपंच] प्र०—जहाँ स्त्रियों की कुमंत्रणा से हानि उठानी पड़े।

राणी आई त छांछ नि देई, कमीणी आइ त देयो दै[1]। [१ दही दिया] प्र०—जहाँ कोई दान योग्य वस्तुओं का वितरण पात्रापात्र का विचार किए बिना करे।

रात थोड़ी, बात बड़ी। प्र०—जहाँ कोई किसी बात को संक्षेप से कहना चाहे।

रात दिन की पदाड़,[1] पकोड़ू[2] भगार[3]। [१ पादनेवाली, २ पकौड़ों को, ३ दोष देना] प्र०—जहाँ कोई किसी बुरे काम को छिपाने के लिये बहाना बनावे।

रात दिन को खाणो साग क्या लाणो। प्र०—जहाँ कोई माँगनेवाला हमेशा माँगने आवे उससे चिढ़कर।

रात दिनौ[1] पैणो, कखछूयो! प्र०—जहाँ कोई साधारण व्यक्ति हमेशा खातिर चाहे।

रात बांटण त मैं बांटुलो दिन बाँटण त मेरी दुणबाँटी[1]। [१ दूनीबांट] प्र०—जहाँ कोई अपने स्वार्थ के लिये नियम भंग करके बेईमानी करे और नियम बनावे तो ऐसे जिनसे केवल अपना ही स्वार्थ सिद्ध होवे।

रामजी की माया, कखी घास कखी छाया। प्र०—ईश्वरीय माया पर।

राम न मिलाई जोड़ी, एक अंधो एक कोढ़ो। प्र०—जहाँ ऐब ही ऐबवाले एक साथ मिल जायँ।

रिंखै' खाईं स्वाण अर बल्दै' खाईं अस्वाण। प्र०—जहाँ कोई जबर्दस्त का किया हुआ बुरा काम सह जाय पर वही काम निर्बल करे तो न सहे।

रीधा[1] की अर बीधा[2] की बिच्छन[3] कखछै? [१ भात की (रीधे हुए की), २ बिना वर्षा का दिन, ३ दिल का ऊब जाना] प्र०—बहुत पसंद आनेवाली चीजों पर।

रिश्वतखोर दैव की चोर। प्र०—रिश्वतखोरों पर।

रीधण-पकौण[1] की भूख अर कातण-बुण्ण की[2] नांग। [१ रीधने-पकाने की, २ कातने-बुनने की] प्र०—उक्त दोनों पर।

रेख[1] मां मेख[2] को करी सकद। [१ रेखा (भाग्य की), २ मीन मेख] प्र०—भाग्य की अटलता पर।

रैजो त अपणा आप नीत सगा बाप। प्र०—स्त्री के हठ पर वह भलाई की ओर हो चाहे बुराई की ओर।

रोक मजूरी खासा[1] काम। [१ चोखा, खरा] प्र०—सच्चाई या खरेपन की उपयोगिता पर।

रोटी तख खै पाणी यख पे। प्र०—किसी को जल्दी वापिस बुलाने के लिये।

रोटी को क्या धोणो, अर बेटी को क्या रोणो। प्र०—उक्त दोनों पर।

रोग मरथो भोगी, नाहक मां मरथो डुमजोगी। प्र०—जहाँ कोई बिना जाने पराई नकल कर दुःख या हानि उठावे।

*रोग की जड़ खाँसी झगड़ा की जड़ हाँसी। प्र०—उक्त दोनों पर।

रोटी खाणी धक्कर से, दुनिया खाणी मक्कर से। प्र०—उन चकड़ेतों पर जो केवल छल-बल से काम निकालते हों।

रोण पड़दो न बरजण पड़दो। प्र०—जहाँ कोई किसी काम से अपनी या दूसरे की तटस्थता दिखाकर उसके हानि-लाभ से भी तटस्थ रहना जाहिर करे।

रोणू किलै च? बल सूरत ही इन्नी[1] च। [१ इसी प्रकार] प्र०—किसी रोनी सूरतवाले पर उसका उपहास करने के लिये।

रोंदी रांड चोंदी पांड[1] कखछै भली। [१ ऊपर की मंजिल] प्र०—इन दोनों पर।

रौंदो ना जा, गँगजांदो[1] जा। [१ हिचकी युक्त आधी रुलाई] प्र०—जहाँ किसी की माँग पूरी न करके कुछ थोड़ा देके बिदा कर दिया जाय।

रोष खौ अपणी मौ, संतोष खौ बिराणीमौ। प्र०—गुस्से की बुराई पर।

रौं सुख, मरू भुक्ख। प्र०—परिश्रम न करनेवाले दरिद्री पर।

* रंगमां भंग। प्र०—जहाँ किसी खुशी के काम में बाधा पड़ जाय।

लकीर का फकीर। प्र०—बिना समझे बूझे पुरानी चाल चलनेवाले पर।

लगा[1] लगो[2] न बांह पौंछो। [१ अवसर, २ मिलना] प्र०—अपनी पहुँच से बाहर के काम के लिये।

---

* काहू पै हँसिए नहीं हँसी कलह को मूल।
हाँसी ही ते है भयो कुल पांडव निर्मूल ॥—बृंद।

लगी घुंडा फूटी आँख। प्र०—जहाँ कोई असंगत बात होती दिखाई दे।

लगीग्यो त भुत्या[1], नी त[2] चुत्या। [१ लकड़ी का खूँटा, २ बनी, नहीं तो] प्र०—किसी काम को, जिसके सफल होने की कम आशा हो, कराने के लिये किसी को उत्साहित करने में।

लड़दी दौं पिछाड़ी, अर भागदी दौं अगाड़ी। [दौं=समय] प्र०—डरपोक के लिये।

लड़ो सिपाही नौ (गुलजार) सरदार को। प्र०—जहाँ कोई औरों के किए हुए काम का यशभागी बने।

लभ खौसब्ब। प्र०—जहाँ लालच के कारण हानि हो जाय।

लाख जौ पर साख ना जौ। प्र०—साख अथवा ईमानदारी के महत्त्व पर।

लाख लगैक कौड़ी जीतणी। प्र०—जिद्दी मुकद्दमेबाजों पर, अथवा किसी इज्जतदार की इज्जत घटने पर।

लाज मरेंद कि पीड़। प्र०—जहाँ मुरव्वत से कोई काम बिगड़ता हो।

लातू की देवी बातून नि मानदी। प्र०—उस पर जो डाँट डपट या मार खाए बिना काम न करे।

लाभ को पड़े ढाब[1]। [१ तालाब] प्र०—जहाँ कोई लालच से खतरे में पड़े।

लिजांदी दैं हलसुंगो, देंदी दैं काठगो। प्र०—जहाँ कोई अपना काम निकालने के लिये खुशामद उठावे और काम निकल जाने पर निंदा करे।

लुकारि देखी लाईं चैरीं अपणा देखी नांगी, मेरा बाबू की अकल गै स्याइ नि मांगी। प्र०—जो अपनी खराब और पराई अच्छी वस्तु देखकर लालच में आवे उस पर।

लुहा का चणा च चबौणा। प्र०—जहाँ कोई किसी काम को बड़ी बड़ी विपत्तियों का सामना करते हुए चला रहा हो।

लूट का दाम, फूफू को सराध। प्र०—जहाँ कोई किसी बिना परिश्रम के पाए हुए धन को निरर्थक खर्च करे।

लूट की क्या भौ, झूट को क्या न्यौ। प्र०—जहाँ कोई किसी काम में धाँधली कर रहा हो।

लूण ये की ब्वैन नौढोल्यो आँखा मी कू तकणद। प्र०—किसी के अपराध के लिये किसी दूसरे पर रुष्ट होने पर।

ल्यूं न द्यूं भौ रुवै द्यूं। प्र०—नियम तोड़नेवाले पर।

ले कुकूर मेरो खुट्टो खा। प्र०—जहाँ कोई अपने को आप ही आफत में डाले।

लेंड खाणो त हाथी को खाणो। प्र०—कोई बुरा काम करना ही पड़े तो ऐसी अवस्था में किया जाय जिससे कोई बड़ा लाभ हो इस पर।

लेणी एक न देणी द्वी। प्र०—जहाँ कोई निष्प्रयोजन झंझट में पड़ना हो।

लैंदा गोरु पींडो खौन, बांडा थोबड़ा चाटौन। प्र०—जहाँ भलों के साथ निकम्मों को भी कुछ मिल जाय। अथवा जहाँ इज्जतदारों के साथ रहने से बे इज्जतवालों को भी जूठन मिल जाय।

लोखू का बखरा मेरी ब्वैका नखरा। दूसरे की चीज का गर्व करने पर।

लोगू का सट्टी बुसींदन मेरा चौंल बुसींदन। प्र०—जिससे पूरी आशा हो, उससे निराशा मिलना।

लोण डली फूटोना, अलोणी होना। प्र०—जहाँ कोई मुफ्त में अथवा बिना परिश्रम कार्य सिद्ध करना चाहे।

लोला[1] लोला सब एकी खोला[2]। [१ खल्वाट, २ मुहल्ला] प्र०—जहाँ कहीं एक तरह के ऐबवाले इकट्ठे हों।

लौंग लगो न फटकड़ी। प्र०—जहाँ कोई काम बिना परिश्रम अथवा बिना खर्च मुफ्त में बन जाय।

लंकामा जो सबसे छोट्टो सो बावन गज लंबो। प्र०—जहाँ छोटे भी बड़ों को छकावें।

* **वक्त चल जांदा बात रै जांदी।** प्र०—भले या बुरे बर्ताव की स्थिरता पर।

वक्त पर क्वै काम नि औंद। प्र०—जहाँ कोई दोस्त या साथी वक्त पर काम न आवे।

वखी शात्तूको भारो वखी पाणीको धारो। प्र०—जहाँ किसी को बुरे काम करने के सब साधन एक जगह मिल जायँ।

बटदी-कातदी होंदीं त भेल लोट दी। प्र०—निरुद्यमी भटकते फिरते बे रोजगार पर।

वरै चुकाई भीक पोरै चुकाई लीक। प्र०—जिसने लापरवाही में दोनों तरफ का काम बिगाड़ दिया हो।

वल्या गौं जगा नी, पल्या गौं को वक्त नी। प्र०—जो ऐसी बुरी दशा को प्राप्त हो जाय जिसके सुधार का कोई उपाय न हो।

वल्या जेठ पल्या मंगसीर। प्र०—किसानों की फस्ल होने पर पावनेवालों के साथ इकरार करने के लिये।

वल्यो घाट न पल्यौ जंगार। दे० वल्यागौं जगानी इत्यादि।

वाण करू पड़े स्वाण। प्र०—जहाँ कोई ऐसी बात हो जाय जिससे विपक्षियों को प्रसन्नता हो जाय।

---

* काम इन्सान को इन्सान से पड़ता है ज़रूर।
बात रह जाती है पर वक्त गुज़र जाता है॥

वैकी ही पुंगड़ी वेकाहीजौ, चिचा वल्द खूवकै लौं। प्र०—जहाँ अपरोक्ष में किसी का कोई नुकसान उसी से हो जाय।

वैक्वै मड़ो मरो वेही पच्चीस पड़ो। [१ मुर्दा] प्र०—जहाँ अन्याय से हानि उठानेवाले को ही उल्टा दंड देना पड़े।

वो बुन्द विलायत गया। प्र०—इस कहावत का मूल इस कहानी से है कि एक सेठजी अपने किसी जल्से में मिहमानों को इतर दे रहे थे। इत्तिफाक से इतर की एक बूँद जमीन में गिर गई। सेठजी ने झट से उस गिरी हुई बूँद को पोंछकर उठा लिया। इस पर एक मिहमान हँस पड़े। सेठजी उस तिरस्कार की हँसी से बड़े लज्जित हुए और उन्होंने दूसरे दिन एक हौज बनवाकर उसमें कई मन इतर जमा करवाकर लोगों को इतर से नहला दिया। यह दिखलाने के लिये कि वे इतने फय्याज हैं कि कई मन इतर लुटवा सकते हैं। पर उनके वे मिहमान, जो अगले दिन हँसे थे, आज कह बैठे कि इतर की वह बूँद, जो कल गिरी थी, इस हौज में तो दिखाई नहीं देती। मालूम होता है "वह बूँद विलायत गई"। तब सेठजी बड़े लाचार हुए। इस कहावत का प्रयोग ऐसे मौके पर होता है जहाँ कोई उपयुक्त समय पर किसी जरूरी बात को करना चूक जाता है अथवा कोई ऐसी गलती कर बैठता है जिसका सुधार कभी न हो सके।

शक्करवाला कू शक्कर मूंजी कू टक्कर। प्र०—दानी और सूम पर।

शरमदार अपणी शरम से डरो बेशरम बोलो मै से डरे। प्र०—जहाँ कहीं इज्जतदार या बड़ा आदमी किसी कमीने को क्षमा कर देता है और कमीना उससे अनुचित लाभ उठाता है।

शरमदार कू शरम बेशरम कू दुर्बलइ। प्र०—ऊपर के समान।

शरम की ताणी छन दियेणी। प्र०—जहाँ कोई किसी काम को करने में असमर्थ होने पर भी बदनामी के भय से करता ही चला जाय।

शहत लगैक चाट। प्र०—जहाँ किसी के पास कोई ऐसी सनद या दस्तावेज हो जिसका कोई प्रयोग न हो सकता हो उसके संबंध में व्यंग्य।

शहर की सलाम, गौं कीं दाल भात। प्र०—शहर और देहात के शिष्टाचार की तुलना में।

शिकारी शिकार खेलो चूतिया गैल फिरो। प्र०—जहाँ काम करनेवालों के साथ कोई निकम्मा बेमतलब फिरा करे।

शिर को जामिन पैर। प्र०—जहाँ कोई संयोग-वश कहीं दूसरी जगह जाकर मर जाय।

शिर रयूँ रलो त पगड़ी कती होइ जाली। प्र०—किसी स्त्री के मर जाने पर।

श्री गणेश करनो। प्र०—किसी काम के शुभारंभ के लिये।

सच्च सच्ची च अर झूठ झूठ च। प्र०—सच्चे की जीत पर अथवा झूठे की हार पर।

सच्चा को बोलबालो झूठा को मुख कालो। प्र०—ऊपर के समान।

*** सच्चा झूठा पितर गया जैक पछाणला।** प्र०—जहाँ सच झूठ की पहिचान कहीं आगे होनेवाली हो।

सच्ची बात कड़ी लगदी। प्र०—जहाँ कहीं सच बोलने पर कोई बुरा माने।

---

* "क्रयविक्रयवेलायां काचः काचो मणिर्मणिः"।—काँच और मणि की जाँच खरीद फरोख्त के समय हो सकती है।

सच्चौं को जमानो नी । प्र०—जहाँ कहीं सच बोलने से किसी को हानि उठानी पड़े ।

सच्चो पुत्र मर्द नी सच्चो रिण बगद नी । प्र०—उक्त दोनों पर ।

सत्त को[1] सवाई बस्ती[2] की दूण । [१ धन का सवाया । २ अन्न का दूना] प्र०—पुराने जमाने में उधार का सूद इस दर से अधिक नहीं होता था इसी पर ।

सत्त त टूटो ना अर पत्त[1] त जैाना । [प्रतिज्ञा] प्र०—किसी ऐसे नाजुक मौके पर जहाँ सत्य और प्रतिज्ञा के बीच विरोधी भाव पैदा हो जाय । अर्थात् एक ओर सत्य छोड़ने का दूसरी ओर प्रतिज्ञा-भंग का भय हो जाय ।

सत्तुर का बेन्नी[1] पीठ पिछाड़े, मित्र का बेन्नी अग्वाड़े । [१ बोलना, २ सामने] प्र०—स्पष्टवादिता की हितकरता पर ।

सत्या-पत्या घटी गय, रिण-कर्ज बढी गय, सेरा-गोती ठडी गैन, दै-दुश्मन बढी गैन । प्र०—बुढ़ापा और विपत्ति के आने पर ।

***सदा कैकी नि रई ।** प्र०—जहाँ कोई ऐश्वर्य पाकर उन्मत्त हो जाय उस पर अथवा जिसका ऐश्वर्य थोड़े दिन में खतम हो जाय ।

सदा[1] लाखड़ा अर बासी पाणीं । [१ ताजा; कच्चा] प्र०—किसी आलसी गृहस्थ पर अथवा किसी ऐसे व्यक्ति पर जो उल्टे उपाय से सफलता चाहें ।

---

* चलि बलि लखि दुति तड़ित घन सुखद समौ जनि खोय ।
सदा न फूले तोरई सदा न सावन होय ॥—वृंद ।
चैन से जुगनू चमकते यह बने की बात है ।
मूढ़ क्यों यह सर्वदा रहती नहीं बरसात है ॥

स.दी[1] रात न बासी बेली[2]। [१ ताज़ी, २ खाने का समय] प्र०—जहाँ कोई आते ही कुछ उपद्रव कर बैठे।

सदा सांई की। प्र०—ईश्वर सर्वदा एक समान है अर्थात् ईश्वर में कोई परिवर्त्तन नहीं होता। ईश्वर के अतिरिक्त और किसी की एक सी शुभ दशा नहीं रहती।

सदै खायां कि याद रैं'द बासि कि नि रैं'दि। प्र०—पुराने उपकार को भुलाने पर तथा किसी पुराने ही उपकार से प्रत्युपकार चाहनेवाले के प्रति।

स.दो निखाये बासी खाये बासी सांकू साग नि पाये। प्र०—जो पहिले किसी काम को खुशामद करने पर भी न करे और पीछे बिना कहे ही करे उस पर।

सनकौंद क्या छै मनी सांछ। प्र०—जहाँ कोई किसी वांछनीय कार्य करने को अपने आप ही तैयार हो जाय।

सपूत कू क्या सांजणो[1], कपूत कू क्या पांजणो[2]। [१ संचयकर्ता। २ जमा करना] प्र०—बाप की कमाई की सपूत और कपूत दोनों के लिये निरर्थकता पर।

***सफेदी मां स्याही।** प्र०—जो अपनी लिखी हुई बात पर मुकर जाय वा झूठी बात लिखे अथवा बालों पर खिजाब लगावे।

सबका गुरू गोवर्द्धन दास। प्र०—जो सब बुरों को शासन कर ठीक करता है उस पर अथवा व्यंग से बुरों के अगुवा के लिये भी।

†सबको दाता राम। प्र०—ईश्वर की सर्वसंरक्षकता पर।

---

* बाक़ी है दिल में शेख़ के हसरत गुनाह की।
काला करेगा मुँह भी जो दाढ़ी सियाह की।—ज़ौक़।

† अजगर करे न चाकरी पंछी करे न काम।
दास मलूका यों कहे सबके दाता राम॥—मलूक।

* **सबसे भली चुप्प।** प्र०—बहुत बोलने की अथवा चुप रहने की उपयोगिता पर।

† **सबी नर निहोंदा एक सर।** प्र०—जहाँ कहीं एक ही स्थान के या एक ही प्रकार के लोगों में भिन्न भिन्न स्वभाव या गुण पाए जावें।

सब्बी खाणा लोण मिट्ठो, सब्बी धाण देण मिट्ठी। प्र०—नमक और दान की प्रशंसा में।

‡ **सब्बी स्यालू. स्याल-सिंगी नि होंदी।** प्र०—जहाँ कहीं एक ही जाति के होने पर भी भले गुण किसी विरले ही में पाए जायँ।

समझ का घर दूर छन। प्र०—जहाँ पेचीदा बातें साधारण की समझ में न आवें।

समझणवाला की मौत छ। इस कहावत की मूल कहानी इस प्रकार कही जाती है कि एक दिन किसी राजा के दर्बार में गाना-बजाना हो रहा था। गाने का सम आने पर एक दूसरे की देखादेखी कई एक सिर हिला दिया करते थे। राजा साहब ने अपने वजीर से पूछा—क्या ये सभी लोग, जो सिर हिला रहे हैं, सम को समझते होंगे? वजीर ने उत्तर दिया—'नहीं'। मैं अभी इन सबको ठीक किए देता हूँ। तब वजीर ने सभा में सबको पुकारकर कहा—"महाराज की आज्ञा है कि कोई सिर न हिलावे।

---

* बालू जैसी करकरी उज्जल जैसी धूप।
ऐसी मीठी कुछ नहीं जैसी मीठी चुप॥—कबीर।

† सब इकसे होत न कहूँ होत सबन में फेर।
कपरौ खादी बाफतौ लोह तवा शमशेर॥—वृंद।

‡ शैले शैले न माणिक्यं मौक्तिकं न गजे गजे।
साधवो नहि सर्वत्र चन्दनं न वने वने॥—चाणक्य।

जो सिर हिलावेगा उसकी गर्दन काट दी जावेगी।" इस आज्ञा के पाते ही सब के सिर हिलने बंद हो गए। केवल एक आदमी, जो कि गाने को असली समझनेवाला था, सम आने पर सिर हिलाए बिना न रह सका। वह गाने को समझनेवाला था। सम के आने पर वह इतना लवलीन था कि राजाज्ञा की उसे कुछ भी सुध न रही। जब वह सिर हिला चुका तब खड़ा होकर अर्ज करने लगा "सर्कार 'समझवाला की मौत छ'।" राजा साहब ने उससे कहा, हमने तो समझनेवाले को पहचानने के ही लिये ऐसी आज्ञा दी थी। तुम्हारा कोई अपराध नहीं है। तब से यह कहावत चल पड़ी। इसका प्रयोग ऐसी जगह व्यंग्य से होता है जहाँ कोई समझ की बात कहता है।

समझ माँ फेर पड़िगे। प्र०—जहाँ किसी बात का उलटा अर्थ लगाया जाय।

समझी बूझी करनो काज, हार्‌यो जित्यो नि औ लाज। प्र०—आगा पीछा विचार कर काम में हाथ डालना चाहिए इस पर।

सरग थूकणो अर महल मूतणो। प्र०—जहाँ कोई निर्बल बलवान् का तिरस्कार करे अथवा उससे दुश्मनी करे।

सप सणी दूध पिलाए। प्र०—उस कृतघ्न व्यक्ति पर जो उपकार के बदले अपकार करे।

स.री त.री होइगे। प्र०—जहाँ किसी बात से निराश होना पड़े।

सरहत्त खेती परहत्त बणज। प्र०—खेती अपनी देख-रेख में, बनज-ब्योपार दूसरों के हाथ से ही अच्छी तरह चल सकता है, इस पर।

सस्ती रोव बार बार महँगी रोव एकी बार। प्र०—सस्ते सौदे के कम टिकाऊपन पर और महँगे के टिकाऊपने पर।

स.ज पाको मिट्ठो होव। प्र०—देर से होनेवाले काम की उपयोगिता पर।

साग न भुजी बाड़ केकी, खाणो न पेणी जुल मुंडी[1] केकी। [१ बार बार झाँकना] प्र०—किसी निष्फल कार्य की व्यर्थ चेष्टा पर।

स्वांग[1] भौत रात थोड़ी। [१ मजाकिया] प्र०—जहाँ समय थोड़ा और काम अधिक हो।

सांटा की रोटी क्या मोट्टी क्या छोट्टी। प्र०—जहाँ कहीं किसी के बुरे काम का बदला बढ़ाकर दिया जाय।

सात घड्याला[1] लगायां पर बुवारी को बाल नि हल्के। [१ देवता औतारने के लिये बाजे बजाना] प्र०—जहाँ किसी काम को करने की सब तदवीरें व्यर्थ जायँ।

सात पाँचू की लाठी एक जणा को बोझ। प्र०—किसी काम को मिलकर थोड़ा थोड़ा परिश्रम ही से बड़ा काम बन जाता है इस पर।

सात लाख सलाणा नौ लाख दुमाण[1]। [१ अलकनंदा मन्दाकिनी के बीच का मुल्क (परगना नागपुर)]। प्र०—उक्त दोनों मुल्कों के विस्तार पर।

सात साखी सांदण, नौ साखी थुनेर। प्र०—सांदण और थुनेर इन दोनों लकड़ियों के टिकाऊपन पर।

सात सौत अर एक सौतेलो। प्र०—सौतेला (सौत का लड़का) सौत से भी अधिक दुःखदायी होता है इस पर।

सात्तू रैग्या सासू मूं, सपड़ाक[1] रैगे बुवारी मूं। [१ चखते हुए चटकारा] प्र०—जहाँ किसी वस्तु का उपभोग जाननेवाले को वह वस्तु दूसरे के पास होने के कारण अप्राप्य हो।

सांदण सूको बामण भूको। प्र०—उक्त दोनों की उपयोगिता पर।

सामल् वांधीक पीला पड़्यूँ छ। प्र०—जहाँ कोई किसी को बराबर दिक करता हो।

सामसा[1] की कुलौं[2] साम्मी[3] साम्मी। [१ शाहंशाह, २ चोड़ का पेड़, ३ सीधी] प्र०—समर्थ की गलत बात भी सच माननी पड़ती है।

साम्मी आंगुली घ्यू नि औंद। प्र०—जहाँ सरलता से काम न बने कुछ टेढ़ापन दिखलाना पड़े।

साम्मो ह्वैक स्यू नि खांद। प्र०—जहाँ शरण हो जाने से अपराध क्षमा हो जाय।

सारा दिन रयो पोड़ी, पिछ्वाड़ी दौं ल्यायो कमर तोड़ी। प्र०—जहाँ कोई किसी काम में सिर्फ उस वक्त शरीक होवे जब काम बिगड़ रहा हो।

सारी ढेबरी सूंडी पुछड़ै[1] दौं लिराट-किराट[1]। [१ चिल्लाहट] प्र०—जहाँ कोई किसी काम को पहले तो शांति से करे पर अंत में कुछ बखेड़ा खड़ा कर दे।

सारो स्याल् खैक पुछड़ा की दौं घीण[1]। [१ घृणा] प्र०—ऊपर के समान।

स्या लाणी पगड़ी जो नीभी जै दगड़ी। प्र०—शान शौकत का काम उसी हद तक करना चाहिए जो सारी जिंदगी भर निभ सके, इस पर।

स्वाली[1] मां पकोड़ी। [१ तेल की पूरी] प्र०—जहाँ कोई सच के साथ कुछ झूठ मिलावे।

सासू बुवारीन माछा लीन्या एकू कोन्नी[1] का बांटी दीन्या। [१ सरकंडे का बना अनाज रखने का बर्तन]

प्र०—जहाँ कुछ लोग एक ही काम के लिये एक ही पूँजी में से अपनी अपनी ओर से जुदा जुदा खर्च करें।

सांसा[1] की भौ ह्वौ कि जौ। [१ साहस की] प्र०—साहस की भलाई और बुराई दोनों पर।

स्वीणा[1] दुवणा झुट्टा मूत ढांड सच्ची। [१ सपने] प्र०—जहाँ किसी के विरुद्ध प्रत्यक्ष प्रमाण मौजूद हो।

सुंगरु का पोथलू छारै' पाणा। प्र०—जैसे को तैसे पर।

सुणनी सबकी करनी मन की। प्र०—सबकी सम्मति ले लेने की उपयोगिता पर।

सुदेसी कव्वा परदेसी भाख्या। प्र०—जहाँ कोई अपने लोगों के साथ परदेशी भाषा में बातचीत करता हो।

सूखा दगड़ी काचो भसम। प्र०—जहाँ कसूरवालों के साथ होने से किसी बेकसूर को भी दंडभागी होना पड़े।

सूणीक सुतीग[1] अर देखीक घीण[2]। [१ सूतक, २ घृणा] प्र०—उक्त दोनों बातें सुनकर और देखकर ही होती हैं इस पर।

स्यूणी को मुख ल्वार[1] प.ल्यौंद,[2] कीडा को मुख को प.ल्यौंद। [१ लोहार, २ पैना करना] प्र०—जहाँ कहीं किसी में बुरी आदतें बिना सिखाए अपने आप ही उत्पन्न होती दिखाई दें।

स्यूणा को साबलो। प्र०—जहाँ कोई बात को बहुत बढ़ाकर कहे।

सूत कातीक कोली की भौंदी पूत पालीक बौड़ी[1] की भौंदी। [१ बहू] प्र०—जहाँ लड़का अपनी स्त्री को लेकर माँ बाप से अलग हो जाय।

सून कि बिरालि त मि कल्लो पर म्यौं को कल्लो। काठ की करी बिरालि म्याँऊँ को कर—गमाली। जहाँ आदमी

में, जिस पद पर वह रक्खा गया है उसके, उपयुक्त योग्यता का अभाव हो।

सूना घट चंडाल़ को बास। प्र०—किसी शून्य स्थान में वास होने पर।

सूनी साल़से माखूं बल्द भलो। प्र०—कुछ न होने से थोड़ा होना भला इस पर।

सूम बियाई, सूम बियाई। प्र०—पाप के प्रायश्चित्त पर। जब किसी की स्त्री का प्रसव आसानी से नहीं होता तो राख की चुटकी उड़ाते हुए यह टोने की तरह कहा जाता है।

स्यू को एक अर स्याल़ का सौ। प्र०—बहुत से कपूतों से सपूत एक ही भला होता है इस पर।

स्यूं बौ ठांडा[1] स्यूं बौं पांडा[2]। [१ जंगल में का छप्पर, २ ऊपर की मंजिल] प्र०—जहाँ कोई किसी के साथ से बिलकुल जुदा न हो।

स्यू मां सासणो। प्र०—बड़ों के सामने अपना अपराध कबूल कर देने से डर नहीं रहता।

सेंत की चाकरी गांठ का खाणा, भगुली फाटी घर है जाणा। प्र०—बिला तलब तनखाह के नौकर पर।

सेंत को माल पिड़ा केकी। प्र०—मुफ्त माल को लुटाने पर।

सेयां[1] नौना[2] की भुक्की[3]। [१ सोए हुए, २ बच्चे का, ३ चुंबन] प्र०—जहाँ किसी को ऐसी मदद पहुँचाई जाय जिसकी उसको खबर ही न हो।

सेर मां सवा सेर। प्र०—जहाँ किसी अत्याचारी के ऊपर कोई और उससे भी जबर्दस्त अत्याचार करे।

सेर हक पाया सणी अढौ[1]। [१ नसीहत करे] प्र०—जहाँ कोई कम उम्रवाला अपने से बड़ी उम्रवाले को नसीहत करे।

सेला[1] रज्जा की घणी परजा। [१ दयावान् क्रोध-रहित] प्र०—जहाँ किसी बड़े आदमी के वश में उसके शील-स्वभाव के कारण अधिक लोग हों।

सेवा का मेवा। प्र०—किसी की सेवा या परिश्रम के सफल होने पर।

***स्वैणीन पकायो सैंसन खायो, भाट भिखारी कैन नि पायो।** प्र०—जिसके घर से किसी को कुछ न मिले उस पर।

स्वैणी सूं निलाणी सच्च, ठाकुर सूं निलाणी झूठ। प्र०—उक्त दोनों पर।

स्वैण सैंसू की कल़ दूध भात की बेल़। प्र०—स्त्री-पुरुष के झगड़े की अस्थिरता पर।

सोना मां स्वागो। प्र०—जहाँ सच्ची बात के साथ थोड़ी सी झूठ भी मिली हो।

सोना मा सुगंध। प्र०—जहाँ किसी में सभी गुण भले ही हों।

सोना की चिड़िया। प्र०—जहाँ किसी ठगनेवाले को मालदार आदमी मिले अथवा ऐसा मालदार जो अक्लमंद न हो। दे०—अक्कल को हीण इत्यादि।

† सोना की छुरी पेट थोड़ी ही मारें दी। प्र०—धन से प्राण अधिक प्यारा होता है।

सोना की विराल़ी मैं वथौ पर न्यूं को करो। प्र०—दे० सूना की इत्यादि।

---

* भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्।—गीता।
अर्थात् जो केवल अपने लिये पकाते हैं वे पाप को भक्षण करते हैं।

† अति अनीति लहिए न धन जो प्यारो मन होय।
पाए सोने की छुरी पेट न मारे कोय॥—वृंद।

सोरा की सर्दारी गधा की असवारी। प्र०—जहाँ बिरादरी के लोगों पर शासन सफल न हो।

सोरा के सयाणो ज्यूड़ा की साँझी।

सोरो सोरा काटो लुहो लुहा काटो। प्र०—जहाँ बिरादरीवालों से वैर हो।

*** सोहबत को असर हुँही जांद।** प्र०—जहाँ कुसंग से बुरा फल भोगना पड़े।

सौ अजाण एक सजाण। प्र०—अजान और सुजान के गुण तथा अवगुणों पर।

सौ कपूत एक सपूत। प्र०—कुपुत्र और सुपुत्र की क्रमशः बुराई-भलाई पर।

सौ का सवाया कम्बख्त का दूणा। प्र०—जो लाभ सौ की पूँजीवाले को सवाया मुनाफा लेने पर होता है वह कमबख्त दस पाँच की पूँजीवाले को दूना होने पर भी नहीं होता इस पर।

सौकीन बुढ़िया चटै का लहँगा। प्र०—व्यंग्योक्ति बेमेल बात पर।

सौको साही[1] न बौको भाइ, पाँच पकोड़ी की की खाइ। [१ साहूकार का साथी या सहायक या गवाह] प्र०—जहाँ कोई धूर्त्त सच झूठ मिलाकर मेहमान बन के दावत खाके चला जाय।

सौ चंडाल अर एक कंगाल। प्र०—कंगाल चंडाल से भी बुरा होता है इस पर।

सौ जणों की लकड़ी एक जणा को बोझ। दे०—सात पाँच की लकड़ी।

---

* जापै जैसी वस्तु है तैसो ही मन होय।
माला और गुलेल को कर ले देखे कोय॥—नागरीदास।

सौं डालिक कस्तूरी नि बिकदी। प्र०—प्रत्यक्ष अथवा जानी हुई बात के लिये गवाह अथवा कसम खाने की क्या आवश्यकता है इस पर।

सौण का अंधा कू हरी हरी सूझ। दे०—जैका औखा सौण इत्यादि।

सौण क्या सपूत भादौ क्या कपूत। प्र०—जहाँ कहीं दो की तुलना करने में दोनों में से एक भी कम न निकले।

सौण की गंगा टिमरु को मैण[1]**।** [१ जहर] प्र०—जहाँ बड़े काम पर छोटा उपाय कारगर न हो।

सौण मरी सासू भादौ आया आँसू। प्र०—जहाँ कोई आवश्यक काम जिसे बहुत पहले हो जाना चाहिए था वह बहुत देर में किया जाय।

सौण सूखा न भादौ हरा। प्र०—जो सब समय, सब भले बुरे कामों में एकसा रहे, बदले नहीं।

* **सौत चूना की भी बुरी होंदी।** प्र०—सौत की बुराई पर। सौत किसी हालत में भी भली नहीं हो सकती चाहे वह बहुत ही कमजोर व सीधी क्यों न हो।

सौ तैं निबोलनू होयूं, अर एक तैं निबोलनू जायूं। प्र०—उन्नति और अवनति की अंतिम सीमा तक यह नहीं कहा जा सकता कि हमेशा यही दशा बनी रहेगी इस पर।

सौ दिन चोर का एक दिन साहू को। प्र०—जहाँ कहीं पुराना चोर पकड़ा जाय।

---

* काँटा बुरा करील का अरु बदली का घाम।
सौत बुरी है चून की [illegible] ॥

सौ धौती अर एक गोती। प्र०—धौती अर्थात् लड़की की संतान सैकड़ों होने पर भी गोती अर्थात् अपने कुल का एक ही उपयुक्त उत्तराधिकारी होता है।

सौ बात की एक बात। प्र०—जहाँ किसी बात का सूक्ष्म तत्त्व कह दिया जाय।

सौ बोलनी पर लेखणी एक नि। प्र०—लिखी हुई बात की प्रामाणिकता और कही हुई बातों की अप्रामाणिकता पर।

सौ मां सत्ती, लाख मां जत्ती। प्र०—इस बात पर कि स्त्रियों में पतिव्रता और पुरुषों में एकपत्नीव्रत कोई बिरले ही होते हैं।

सौरा[1] नि रख साड़ी त बुवारी[2] क्या रख दाड़ी। [१ श्वशुर, २ पुत्रवधू] प्र०—इस बात पर कि जब कोई दूसरे की इज्जत बिगाड़ने पर उतारू हो जाय तो दूसरा उसकी इज्जत क्यों रखे—बदला क्यों न ले?

सौ सयाणै की एकी अक्कल। प्र०—इसकी मूल कहानी यह कही जाती है कि एक राजा साहब से उनके मंत्री ने एक दिन यह कहा कि "सौ सयानों की एक ही अक्ल" होती है पर राजा साहब इस बात पर सहमत न थे। उन्होंने कहा "मुंडे मुंडे मतिर्भिन्ना" अर्थात् शिर शिर में भिन्न भिन्न बुद्धि होती है। इस पर मंत्री ने अपनी बात की जाँच के लिये राजा साहब की ओर से सारे दरबारियों को—जो एक सौ तक थे—हुक्म दिया कि जो नया कुंड राजा साहब ने बनवाया है उसमें आज रात को प्रत्येक दरबारी एक एक घड़ा दूध डाल आवे। उन लोगों में से प्रत्येक ने यह सोचा कि जहाँ एक सौ दर्बारियों के सौ घड़े दूध जायँगे वहाँ हमारा एक घड़ा पानी खप ही जायगा। ऐसा विचार कर वे एक-एक घड़ा पानी रात को चुपके से कुंड में डाल आए। दूसरे दिन देखा गया तो कुंड में जल ही जल था, दूध का नाम न था। तब से यह कहावत

प्रसिद्ध हो गई। इसका प्रयोग ऐसे समय होता है जब किसी काम में सब बुद्धिमानों की एक सम्मति होती है।

सौ सुनार की एक लुहार की। प्र०—जहाँ कहीं कितनों ही का काम मिलाकर किसी एक के ही काम के बराबर अथवा उससे कम निकले, भला या बुरा।

सौ सझा[1] की एकू[2] झटाक[3]। [१ संध्या, २ एक ही ३ हाथ की मुद्रा] प्र०—जहाँ कोई बड़ी पेचीदा बात को थोड़े ही में हल कर दे।

संगत का गुण लगी ही जाँदन। प्र०—जहाँ संगति के गुण लग जायँ।

संपदा खाण नि देंदी बिपता रण नि देंदी। प्र०—जहाँ संपत्तिवान को कोई ऐसा दुःख आ घेरे जिससे वह संपत्ति उसे फीकी लगे।

संपदा का दगड़्या सबी होंदा विपता का क्वी नि होंदा। प्र०—उक्त दोनों पर।

संपदा की स्वैण, बिपदा की बैण। प्र०—जहाँ विपत्ति बहिन साथ दे।

स्यालू[1] क घर फाबसो[2]। [१ शृंगाल, २ फुफ्फुस] जहाँ जिस वस्तु की रक्षा नहीं हो सकती वहाँ उसकी रक्षा की आशा करना।

हथ्यारु[1] का घौं[2] मौलु[3] जाँदा पर वचन-घौ नि मौलदा। [१ हथियार, २ घाव, ३ भरना] प्र०—जहाँ कहीं दुर्वचनों के ही कारण बड़ी शत्रुता हो जाय।

हम आया तुम जाणी, तुम बैठ्या आँखा ताणी। प्र०—जहाँ कोई किसी के पास बड़ी आशा से जाय पर वह उसकी आशा पूरी न करे।

हम आया पैणा की राशी, तब निपाये सड़दो न बासी। प्र०—ऊपर के समान।

हम आयां सरड़ा[1] बोली, खात्तू खाया पाणी ओली। [१ पशुओं के रहने का स्थान जो बस्ती से दूर रहता है] दे०—हम आया तुम जाणीं।

हम चौड़ा बजार सांगुड़ा। प्र०—ऐसे घमंडी पर जो योग्यता न होने पर भी अपने समान किसी को कुछ न समझे।

हम तुमारा घर औला त तुम क्या देला अर तुम हमारा घर औला त हमुक क्या ल्यौला। प्र०—जो सब प्रकार अपने ही स्वार्थ की बात करे दूसरे के अर्थ की उपेक्षा करे।

हरसिंह खाव विरसिंह रिसाव। जहाँ एक मौज उठाता रहे और दूसरा केवल ईर्ष्या भर कर सके।

हल़ न मल़ खांदीं दौं ढुमजल़। प्र०—जो आप स्वयं कुछ परिश्रम न करे और दूसरे को उसके परिश्रम से लाभ पहुँचते देख ईर्ष्या करे।

हल़ को कोणो जोल़। प्र०—जहाँ कहीं एक जगह की हानि की पूर्ति दूसरी जगह के लाभ से हो जाय।

हल्कदी आवो नी हँसदी देव नी। प्र०—जिसके क्रोध और प्रसन्नता से परिणाम में कोई अंतर न हो।

हल्या डूम क्या जाण राजद्वारा की खबर। प्र०—जहाँ कोई साधारण बुद्धिवाले को पेचीदा बातें सुनावे।

हाइ विना डाइ न पीड़ बिना पछताइ। जहाँ कोई पराए दुख को देख कुछ भी समवेदना प्रकट न करे।

हाकिमी गरम, बणियाई नरम। प्र०—उक्त दोनों की विशेषताओं पर।

हाड़ पड़्यूंच। प्र०—जिस किसी त्योहार को किसी के घर मुर्दा मर जाता है वह त्योहार उस घर के लिये हमेशा 'हाड़ पड़ा' कहलाता है इस पर।

हाणीन गाणी। प्र०—जो कहीं भी गिनती में न आवे अर्थात् ऐसा काम या अहसान या लाभ जिसे कोई माने ही नहीं।

हांडी को मुख चौड़ो होयो त बिराला कू भी त शरम चैंदी। प्र०—जहाँ कोई किसी काम को ऐसे आदमी के भरोसे छोड़े जो स्वयं लूट खसोट करे।

***हाथ सुमरनी बगल कतरनी।** प्र०—जो मुँह से मीठा बोले—जाहिरा में सज्जनोचित व्यवहार रखे पर काम विपरीत करे।

हाथ कू हाथ नि सुझद। प्र०—जहाँ पर बहुत अँधेरा हो।

†हाथ कंकण कू आरसी क्या। प्र०—प्रत्यक्ष के लिये प्रमाण की क्या आवश्यकता? इस पर।

हाथ टूटिगे पर बौंछड़ो[1] निछूटे। [१ चलते समय हाथों का हिलाना] प्र०—जिसकी तंगदस्ती आ जाने पर भी अकड़ घमंड न छूटे।

‡हाथ पर चोरीं सैंदिख सच्चो। प्र०—जिसका अपराध प्रत्यक्ष दिखाई देता हो तिस पर भी अपने को निरपराध कहे।

---

* मुख में चार वेद की बातें, मन पर-धन पर-तिय की घातें।
धनि बगुला भगतन की करनी, हाथ सुमरनी बगल कतरनी॥

† परतछ नीके देखिए कहा बरने कोउ ताहि।
कर कंकण को आरसी को देखत है चाहि॥—वृंद।

‡ वाइज़ के वाज़ हैं सुनाने के और,
और आप अपने अमन में जाने के और।
फबती है उस पै ये मसल हाथी की,
खाने के हैं दाँत और दिखाने के और॥

हाथी का दाँत खाण का और हौंदा अर दिखौंण का और। प्र०—जो कहे कुछ और करे कुछ और उस पर। दे०—पोथी के भट्टा०।

हाथून आग लगै खुट्टू न बुझै। प्र०—जो आप ही झगड़ा कराए, आप ही सुलह करावे। दे०—चोरमूं चोरि करौ इत्यादि।

हाथै, मेरी तवै तेरी। प्र०—जहाँ कहीं ऐसी लूट-खसोट जारी हो कि जिसके हाथ जो लगे उसे ही ले चले।

हाथै लगे चांत[1]। [१ पाषाण पर] प्र०—जहाँ कहीं कोई बना हुआ काम बिगड़ जाय, हाथ में आई वस्तु खो जाय।

* **हान्नीं अपणी बोल पराया।** प्र०—बिना विचारे बेवकूफी से ऐसा काम करनेवाले पर जिसमें नुकसान अपना हो और लोग हँसी भी उड़ावें।

हाल घोड़ा हाल मैदान। प्र०—उतावली से काम करनेवाले पर।

हिट्ट मेरा ब.ल्द, जनो तेरो गोस्युं हिटा.ल्द। प्र०—जहाँ किसी को पराधीनता के कारण ऐसा निकम्मा काम भी करना पड़े जिसे वह स्वाधीनता की हालत पर कभी न करता।

हिंवाल़ अंडू पयाल़ घोल। प्र०—जहाँ साध्य कहीं और साधन दूर और कहीं हों कि उनसे कोई लाभ ही न उठाया जा सके।

हिलकायो गंगाड़ी[1] ऐ लग्यो पैंगाड़ी[2]। [१ गंगा तट पर रहनेवाले, यहाँ निकृष्ट, २ बगल में] प्र०—जहाँ कहीं किसी ऐसे कमीने को मुँह लगाया जावे जो अपना निरादर करने लगे।

---

* बिना विचारे जो करे सो पाछे पछताय।
  काम बिगारे आपनो जग में होत हँसाय॥

*** हिसाब जौ जौ, बकसीस सौ सौ।** प्र०—बखशीश सैकड़ों किया जा सकता है पर हिसाब में एक कौड़ी भी नहीं छूट सकती इस पर।

हींस[1] ते रीष[2] भलीं। [१ ईर्ष्या, २ क्रोध] प्र०—ईर्ष्या की बुराई पर।

हुस्याली[1] मौ ह्वै जौं, हिस्याली[2] मौ चल जौ। [१ प्रतियोगिता की इच्छा करनेवाला, २ ईर्ष्या करनेवाला] प्र०—प्रतियोगिता की प्रशंसा और ईर्ष्या से जलनेवाले की निंदा पर।

ह्यूंद[1] हिंवाल[2] रूड़ी[3] पयाल[4]। [१ शीतकाल, २ ठंडी जगह, ३ गर्म मौसम, ४ गर्म जगह] प्र०—ठंडे मौसिम की फस्ल ठंडी जगहों और गर्मी की मौसिम की फस्ल गर्म स्थानों में पहिले कटती है इस पर और ठंडी मौसिम में ठंडे स्थानों और गर्म मौसिम में गर्म स्थानों का वास बड़ा कष्टकारक होता है इस पर भी।

हूँ भडर[1] द्यूं घरों घर। (१ जामिन) प्र०—जामिन होने की बुराई पर।

होंची[1] जात करो उत्पात। [१ कमीनी] प्र०—कमीने के उपद्रव करने पर।

होंची पुजै देखीक बोगठ्या हैंस। प्र०—जहाँ किसी बेवकूफ के किए हुए काम पर साधारण मनुष्य भी नुक्ताचीनी करता हो।

---

* यः काकिनीमप्यपथःप्रपन्नां समुद्धरेन्निष्कसहस्रतुल्याम्।
कालेषु कोटिष्वपि मुक्तहस्तस्तं राजसिंहं न जहाति लक्ष्मीः॥
भावार्थ—जो अकारथ जानेवाली एक कौड़ी को भी हजार अशर्फियों के समान समझकर समेट लेता है और समय पाकर करोड़ों को मुक्तहस्त होकर दान कर देता है ऐसे राजसिंह पुरुष को लक्ष्मी नहीं छोड़ती।

होणीं[1] होन्यार कैल देखे। [१ होनेवाली दुर्घटना] प्र०—दुर्घटना की आशंका पर।

होन्यार नि टलदी। प्र०—होनहार अर्थात् भवितव्यता की अटलता पर।

***होणत्याली डाली का चलचला पात।** प्र०—जहाँ किसी होनहार में सुलक्षण पहिले ही से दीख पड़ें।

होत्ती का तीन नाम परशु परसा परसराम। प्र०—मनुष्य की योग्यता बढ़ने पर उसके नाम और पदवी भी बढ़ जाती है इस पर।

होत्ती की बल्यारी छन। प्र०—जहाँ किसी भाग्यवान् में सद्गुण भी पाए जांय।

होंदा का नौना की भुक्की सब कोई पेंदा। प्र०—जहाँ बलवान् का सभी समर्थन करें।

होंदा की हींस[1] जांदा की टीस[2]। [१ डाह, २ समवेदना] प्र०—उक्त दोनों पर।

हो पड़ोसी मैं सारक्या[1]। [१ सरीखा, समान] प्र०—जहाँ कोई आप तो स्वयं बुरी दशा में हो और अपने साथी को भी बुरी दशा में देखकर संतोष माने।

होमेरी सैण कि काटू तेरो नाक। दे०—मा खांधी कसौदा की तरह।

होयां उपज्यां की खाल, पेट करा की आस। प्र०—जहाँ बने-बनाए काम बिगड़ जायँ और होनेवाले की आशा की जाय।

---

* कुल सपूत जान्यो परे लखि सब लच्छन गात।
होनहार बिरवान के होत चीकने पात॥

हांया का सौ नौं नि होयां की एकी नौं। प्र०—कुपुत्र को देखकर।

हत्यारी बळड़ीं। प्र०—जहाँ पर कोई नाजुक काम हाथ में आ पड़े।

हंसण च कि निकसणो। प्र०—जहाँ कोई बनावटी हँसी या तिरस्कार की हँसी हँसे।

हांच कि तिमासी धोति की गेड़ि। प्र०—अपने विभव के व्यर्थ प्रदर्शन पर।

अनुवचन

यह गढ़वाली कहावतों का पहला संग्रह नहीं है। पं० गंगादत्त उप्रेती इससे बहुत पहले कुमाऊँ और गढ़वाल की कहावतों का एक संग्रह कर चुके हैं। उन्होंने कहावतों के विषय के अनुसार विभाजित किया है और साथ में अँगरेजी अनुवाद भी दिया है। गढ़वाल की कहावतें स्वभावतया उनके संग्रह में कम आई हैं। मैंने इसमें केवल गढ़वाली कहावतों का संग्रह किया है। मेरा प्रयत्न इसे पूर्ण बनाने का रहा है पर एक ही व्यक्ति के प्रयत्न से गढ़वाली सरीखी कहावतों की भंडार भाषा की सम्पूर्ण लोकोक्तियों का एकत्र हो जाना असम्भव है। कोश के ढंग पर अक्षर-क्रम से मैंने इसमें कहावतों को रक्खा है। पहले मैंने हिंदी अनुवाद भी साथ दिया था किंतु पत्रिका में इतना स्थान मिल सके न मिल सके, इस डर से मैंने बाद को उसे निकाल दिया। किंतु मुझे भय है कि इससे इस संग्रह की उपयोगिता में कमी आ गई है। संग्रह को पुस्तकाकार प्रकाशित करते समय अनुवाद भी उसमें जोड़ दिया जायगा।

शालिग्राम वैष्णव

---

(६) भगवान् महावीर और मंखलिपुत्र गोशाल

[लेखक—मुनिराज श्री विद्याविजय, करांची]

ढाई हजार वर्ष की बात है। जिस समय भारतवर्ष में यज्ञ-यागादि के निमित्त पशु-हिंसा का घोर आतंक फैला हुआ था, जिस समय अज्ञान-जन्य रूढ़ियों ने अपना साम्राज्य फैला रक्खा था, जिस समय स्वार्थी उपदेशकों के वाग्जालों में भद्रिक जीव फँसे जा रहे थे, उस समय जैनों के, अंतिम तीर्थंकर भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध ने 'अहिंसा' का संदेश घर घर पहुँचाने का प्रबल पुरुषार्थ किया था। सच्चा धर्म क्या हो सकता है? 'अहिंसा, 'संयम' और 'तप' यही धर्म का सच्चा स्वरूप है, इस बात का भगवान् महावीर स्वामी ने न केवल प्रतिपादन ही किया, बल्कि बारह वर्ष तक घोर तपस्या करके, अपने जोवन के साथ उसका साक्षात्कार करके बता दिया।

इसी समय में और भी कुछ धर्मोपदेशक भारतवर्ष में विचरते थे, जिनका उल्लेख बौद्धों के पिटकग्रंथों में पाया जाता है। **पूरणकाश्यप, मंखली गोशाल, अजितकेश कंबल, ककुदकात्यायन, संजयवेलस्थिपुत्र**—इन पाँच[1] धर्मोपदेशकों

(१) बौद्ध-ग्रथों में पूर्णकाश्यप, मंखली गोशाल, अजितकेश कंबल, ककुद-कात्यायन, संजयवेलाष्टपुत्र और निर्ग्रंथ ज्ञातपुत्र (भगवान् महावीर) इन छः के नाम स्थान स्थान पर पाए जाते हैं। इन छः को बुद्ध ने अपने विरोधी, पाखंडी और झूठी प्ररूपणा करनेवाले समझा था। इनमें से किसी एक का जहाँ कहीं नामोल्लेख करने का प्रसंग आया, वहाँ प्रायः इन छहों का नामोल्लेख किया गया है और उन सभी स्थानों में उनकी अपकृष्टता और अपनी उत्कृष्टता दिखलाने के सिवाय और कोई उद्देश्य नहीं दिखता। देखिए—

के नाम विशेषतः उल्लिखित हैं। इनमें 'मंखली गोशाल' का नाम भी है। इस लेख में 'मंखली गोशाल' का परिचय पाठकों को कराना, यही उद्देश्य रखा गया है।

बुद्धचर्या (राहुल सांकृत्यायन-लिखित) के ये प्रकरण

१ दिव्यशक्ति-प्रदर्शन	पृ० ८२
२ छः शास्ताओं की सर्वज्ञता	" ६१-६२
३ महासकुलुदायि-सुत्त	" २६६
४ सामञ्जफलसुत्त	" ४६०-४६३
५ पावा में	" ५४०
६ मज्झिमनिकाय (राहुल सांकृत्यायन अनुवादित)	" १२४, १४७

उपर्युक्त उल्लेखों में इन छः के नाम इस प्रकार लिखे गए हैं--

"पूर्णकाश्यप, मक्खली (= मस्करी) गोशाल, निगंठनाटपुत्त (निर्ग्रंथज्ञातृपुत्र), संजयबेलट्ठिपुत्त, पकुधकात्यायन, अजितकेश-कंबलि।"

बौद्ध ग्रंथों में इन छः धर्म-प्रचारकों के नाम मात्र ही नहीं दिए, बल्कि उनका व्यक्ति-परिचय और मत-परिचय भी कहीं कहीं दिया है।

इसमें कोई शक नहीं कि ये छहों धर्म-प्रचारक थे, और वे किसी न किसी प्रकार के सिद्धांतों का प्रचार करते थे। परंतु उनकी आलोचना करने का यह स्थान नहीं है। यहाँ सिर्फ इतना ही वक्तव्य है कि—गोशालक उन छः धर्म-प्रचारकों में से एक था, जिनका उल्लेख बौद्ध-शास्त्रों में अधिक पाया जाता है।

जैनसूत्रों में मंखलि गोशाल के सिवाय इनके नाम देखने में नहीं आते। और वर्त्तमान में श्रमण निर्ग्रंथ ज्ञात-पुत्र भगवान् महावीर स्वामी का धर्म, जिस प्रकार भारतवर्ष में प्रचलित है, उस प्रकार भगवान् महावीर और बुद्ध के अतिरिक्त पाँच प्रचारकों का कोई धर्म प्रचलित हो, ऐसा जाहिर में देखने में नहीं आता।

बंगाल के प्राच्य-विद्या-महार्णव श्री नगेंद्रनाथ बसु संकलित बंगाली 'विश्वकोश' में इन धर्म-प्रचारकों के लिये लिखा है--

"बौद्धधर्मशास्त्रे इहादिगके 'पाखंड' आख्या प्रदान करा हइया छे। इहादेर कारण, बुद्धदेवेर मतेर संगे इहादेर काहारओ मतेर मिल छिल ना। इहादेर

'मंखली गोशाल' जैनों में **'गोशाला'** के नाम से खूब प्रसिद्ध है। आज कोई साधु अपने गुरु से विरुद्ध होकर निकल जाता है, तो अक्सर कहा जाता है कि—यह तो **'गोशाला'** निकला। ऐसी लोकोक्ति होने का खास कारण है। **'मंखली गोशाल'** भगवान् महावीर स्वामी का शिष्य हुआ था। बाद में वह महावीर स्वामी से विरुद्ध होकर निकल गया था, और महावीर के सिद्धांतों से विरुद्ध सिद्धांतों को प्रकाशित करता था। इतना ही नहीं, भगवान् महावीर को और उनके भक्त शिष्यों को तकलीफ देने का भी दुस्साहस करता था। यही कारण है कि—गोशाला को भगवान् 'महावीर का शिष्यभास' कहा जाता है।

गोशाल का और उसके **आजीविक** मत का परिचय जैन-सूत्रों में विशेष प्रकार से पाया जाता है। खास करके **उवासग-दसाओ** और **भगवतीसूत्र** में। वह भी टीका में नहीं, मूल में। इसी के आधार पर **'मंखली गोशाल'** का परिचय यहाँ पाठकों को संक्षेप में कराया जाता है।

मध्ये ज्ञातपुत्र निर्ग्रंथ महावीर प्रवर्तित धर्म भारतवर्षे एखनओ बहुसंख्यक नरनारी मध्ये प्रचलित आछे। मस्करी गोशाल आजीविकसंप्रदायेर प्रवर्त्तक। ए संप्रदायेर ओ अस्तित्व भारतवर्षे अनेक दिन पर्यंत छिल।"

पृ० ४२४

अपने 'मत' से जो सहमत न हों, उन सभी को 'पाखंड' कहना, नितांत भूल है। जिस भ० महावीर के जैन धर्म को बौद्ध-ग्रंथों ने 'पाखंड' बताया, उस धर्म को आज जगत् के विद्वान् आस्तिक, सच्चा, प्राचीन, पवित्र वैज्ञानिक बिलकुल स्वतंत्र धर्म बतलाते हैं। इस प्रकार यदि 'पाखंड' कहा जाय, तो आज संसार में एक भी धर्म बिना 'पाखंड' का नहीं रहेगा; क्योंकि एक दूसरे की अपेक्षा से सभी 'पाखंड' ठहरेंगे।

'गोशाल' का पिता मंखलि[1] 'मंख' जाति का था। उसके भद्रा नाम की स्त्री थी। किसी समय भद्रा सगर्भा हुई। उस

---

(१) मंखलिगोसाल 'मंखलि गोशाल' के संबंध में जिस प्रकार जैनों के 'भगवतीसूत्र' में उल्लेख आता है, उसी प्रकार 'उवासगदसाओ' में भी आता है। बौद्ध ग्रथों में तो उसका उल्लेख स्थान स्थान पर आता है, यह बात 'छः धर्मप्रचारकों' के नोट से विदित हो चुकी है। इसके अतिरिक्त आधुनिक यूरोपियन और भारतीय विद्वानों ने भी 'मंखलिगोसाल' और उसके 'आजीविक' मत पर बहुत कुछ लिखा है।

'मंखलि गोशाल' इसमें दो शब्द हैं। 'मखलि' और 'गोशाल'। 'मखलि' के विषय में विद्वानों में मतभेद है।

'भगवतीसूत्र', जिसमें गोशालक का विस्तृत जीवन-चरित्र दिया है, 'मंखलि' यह गोशाल के पिता का नाम बताया है। 'मख' यह मांगने की वृत्ति करनेवाली एक जाति का नाम है। और उस पर से 'मंखलि' नाम 'गोशालक' के पिता का बताया गया है।

बौद्धों के 'दीघनिकाय' की टीका में बुद्धघोष का कथन है कि 'मंखलि' यह गोशाल का ही नाम था। और वह 'गोशाला' में जन्मा था, इसलिये उसका प्रसिद्ध नाम 'गोशाला' रहा।

प्रसिद्ध विद्वान् डॉ० ए० एफ आर० हार्नले ने 'इंसाइक्लोपीडिया ऑफ़ रिलिजीयन् एंड एथिक्स' के वा० १ में 'मंखलिगोशाल' के 'आजीविकसंप्रदाय' पर एक लेख लिखा था। उसमें उन्होंने मखलि-मंखालि-मस्करी शब्द पर खूब परामर्श कया है। अंत में उन्होंने अपना अभिप्राय प्रकट करते हुए लिखा है।

"सत्य निःशंक बात यह है कि नायपुत्ताः 'नायवंश का मनुष्य' (महावीर का विशेषण), इसी प्रकार मंखलिपुत्रा यह भो साधित शब्द (Formation) है। यह ऐसा सूचित करता है कि 'गोशाल' मूल 'मंखलि' किंवा 'मकरिन्' नाम का भिक्षुवर्ग का मनुष्य था।

इसकी पुष्टि में डॉ० हार्नले प्रमाण देते हैं कि—

"विख्यात वैयाकरण पाणिनि अपने व्याकरण में 'मस्करिन्' नाम होने का यह कारण दिखाते हैं कि-'वे लोग अपने हाथ में 'मस्कर' बाँसदंड रखते थे। दंड रखने के कारण वे 'एकदंडिन्' के नाम से प्रसिद्ध होते

समय **सरवण** ग्राम में **गोबहुल** नामक ब्राह्मण की एक गोशाला थी। **मंखलि,** अपनी सगर्भा स्त्री के साथ गाँव गाँव भ्रमण करता हुआ और भिक्षा माँगता हुआ, **सर-वण** ग्राम में **गोबहुल** की गोशाला में आकर ठहरता है। वहाँ उसकी स्त्री को पुत्र उत्पन्न होता है। गोशाला में उत्पन्न होने के कारण उसका नाम **'गोशालक'** रखा जाता है। बड़ा होने पर वह भी पठित होकर भ्रमण करता है और भिक्षावृत्ति करता है।

परिचय

थे। **पतंजलि** ने भाष्य में समझाया है कि—"इस प्रकार का परिव्राजक **'मस्करिन्'** कहलाता था। इसका कारण यह है कि उन्होंने सब प्रकार की प्रवृत्तियों के त्याग करने की प्रतिज्ञाएँ की हुई थीं न कि वे दंड रखते थे।"

देखो, जैन साहित्य-संशोधक खं० ३, अं० ४, पृ० ३३७।

गोशालक जिस समय भगवान् **महावीर** का शिष्य बनता है, उस समय अपने पास की चीजें ब्राह्मण को दे देता है। उन चीजों के जो नाम **भगवती-सूत्र** में बताए हैं वे ये हैं।

"साडियाओ य पाडियाओ य कुंडियाओ य वाहणाओ य चित्तफलगं च माहणे आयामेति।"

साटिक (अंदर के वस्त्र), पाटिक (ऊपर के वस्त्र), कुंडिआँ, उपा-नह (जूते) और चित्रफलक—चित्रपट—ये ब्राह्मण को देता है।

इनमें दंड का नाम नहीं है। यदि ये 'मंख' लोग 'दंड' रखते तो जरूर भगवतीसूत्र में उसका भी नामोल्लेख होता। इसलिये **'पतंजलिजी'** का अभिप्राय ठीक मालूम होता है।

डॉ० हार्नले गोशालक की प्रकृति के विषय में कहते हैं—

"गोशालक प्रकृति से ही उस परिव्राजकपने के बहाने से स्वच्छंदी जीवन व्यतीत करनेवाला हलके प्रकार के मस्करियों में से एक होगा।"

जैन साहित्य-संशोधक खं० ३, अं० ४, पृ० ३३७ 'गोशाल' नाम की प्रसिद्धि उसके **'गोशाला'** में जन्म लेने के कारण हुई थी, इसमें तो दो मत मालूम नहीं होते।

किसी समय भगवान् महावीर '**नालंदा**' से निकलकर **राजगृह** में '**विजय**' नामक गाथापति के यहाँ भिक्षा के लिये प्रवेश करते हैं। ऐसे महापुरुष को दान देने की उत्कट भावना से और दान देने से **विजयगाथापति** के यहाँ पंचदिव्य प्रकट होते हैं। लोगों में यह बात प्रसिद्ध होती है। **गोशाला** भगवान् **महावीर** के पास जाता है और कहता है—"हे भगवन्, आप मेरे धर्माचार्य हैं और मैं आपका धर्म-शिष्य हूँ।" महावीर ने इस बात को न स्वीकार किया, न आदर किया। किंतु मौन रहे।

महावीर और गोशालक

कुछ समय के बाद भगवान् **महावीर** चतुर्थ मासक्षपण के पारणे के लिये तंतुवाय की शाला में से निकलकर **नालंदा** के पास **कोल्लाक** सन्निवेश में **बहुल** नामक ब्राह्मण के यहाँ भिक्षार्थ जाते हैं। **गोशालक** ने तंतुवाय की शाला में **महावीर** को नहीं पाया। वह **राजगृह** गया। वहाँ पता नहीं चला, फिर तंतुवायशाला में जाकर अपने '**मंख**' वेष को त्याग कर दाढ़ी-मूँछ का मुंडन कर साधु हो गया। वह **कोल्लाक** सन्निवेश में गया, वहाँ भगवान् **महावीर** को मिला। नमस्कार किया और कहने लगा—"भगवन्, आप मेरे धर्माचार्य हैं। मैं आपका शिष्य हूँ।" "भगवान् महावीर ने मंखली पुत्र **गोशालक** की इस बात को स्वीकार कर शिष्यरूप से अपनाया[1]। गोशालक उनके साथ रहकर विचरने लगा।

शिष्य रूप से स्वीकार

---

(१) किसी किसी विद्वान् का मत है कि **गोशाला** भगवान् महावीर स्वामी का शिष्य हुआ ही नहीं था। अथवा भगवान् महावीर स्वामी ने उसको शिष्यरूप से स्वीकार किया ही नहीं था। जैसा कि Dr. B. M. Barua. M. A. D. Litt ने The Ajivkas नामक अपनी पुस्तक में लिखा है—

शरद् ऋतु का समय था। वृष्टि बंद थी। भगवान् महावीर अपने **गोशालक** शिष्य के साथ **सिद्धार्थ** नगर से **कूर्मग्राम** की तरफ विहार कर रहे थे। मार्ग में एक तिल का पौधा (छोड़), जो कि पत्र-पुष्प से खिला हुआ था, देखने में आया। **गोशाला** ने भगवान् **महावीर** से पूछा—'इस पौधे के सात पुष्पों के जीव मरकर कहाँ जायँगे? कहाँ उत्पन्न होंगे?' भग-

महावीर स्वामी से मत-भेद

"भगवान् महावीर का **गोशालक** के साथ गुरु-शिष्य का संबंध नहीं था।"

परंतु डाक्टर साहब का यह भ्रम भी वैसा ही है, जैसा उन्होंने यह भी लिखा है कि "स्वयं महावीर भगवान् ने **'आजीविक'** संप्रदाय के सिद्धांतों से अपने धर्मोपदेश देने में सहायता ली थी।"

ये दोनों मत नितान्त भ्रमपूर्ण हैं। **'भगवतीसूत्र'** में भगवान् महावीर स्वयं कहते हैं—

"तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते हट्ठ—तुट्ठे ममं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं जाव नमसित्ता, एवं ययासि—'तुज्झेण भंते! मंम धम्माचरिया,' अहन्न तुज्झं अंतेवासी।' तए णं अहं गोयमा! गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स एथमट्ठं **पडिसुणेमि**। तए णं अहं गोयमा! गोसालेणं मंखलिपुत्तेणं सद्धि पणिय भूमिए छव्वासाइं लाभं-अलाभं, सुख-दुक्खं, सक्कारमसक्कारं पच्चणुभवमाणे अणिच्चजागरियं विररित्था।" भगवती०, श० १५।

अर्थात्—"इसके बाद मंखलिपुत्र **गोशाल** ने हृष्ट-तुष्ट होकर मेरी तीन बार प्रदक्षिणा की। यावत्-नमस्कार करके बोला 'हे भगवन्! आप मेरे धर्माचार्य हैं और मैं आपका शिष्य हूँ।' 'हे गौतम! मैंने मंखलिपुत्र गोशालक की यह बात स्वीकार की। पश्चात् हे गौतम! मैं मखलिपुत्र गोशाल के साथ प्रणीत भूमि में छः वर्ष तक लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, सत्कार-असत्कार का अनुभव करता और अनित्यता का विचार करता हुआ विचरता रहा।"

डॉ० ए० एफ० हार्नले ने, अपने 'आजीविकसंप्रदाय' नामक लेख में, **भगवतीसूत्र** की उपर्युक्त बात को विशेष प्रामाणिक माना है और उस के अधार पर उन्होंने अपने लेख में विशेष पुष्टता की है।

वान् ने कहा—'गोशालक ! ये सातों पुष्पों के जीव मरकर इसी पौधे में तिलफली में सात तिल के रूप में उत्पन्न होंगे।'

गोशालक ने सोचा, देखो, भगवान् का वचन मिथ्या करता हूँ या नहीं ? ऐसा सोचकर वह धीरे धीरे **महावीर** के पास से पृथक् हो गया, और उसने उस पौधे के पास जाकर उस पौधे को मय मिट्टी के मूल से उखाड़कर एक स्थान में रख दिया। होन-हार थी। उसी समय आकाश में बादल चढ़ आए, बिजली चमकने लगी और वर्षा हुई। तिल का पौधा सूखने न पाया, स्थिर हो गया। मूलबद्ध होकर फलित हुआ। वे फूल के सात जीव उसी की एक फली में सात तिलरूप में उत्पन्न हुए।

किसी दिन भगवान् **महावीर** स्वामी, गोशालक के साथ **कूर्मग्राम** से **सिद्धार्थ नगर** को पधार रहे थे। मार्ग में तिल के पौधे की बात निकली। भगवान् महावीर ने कहा कि—वे सात फूल के जीव जरूर उस तिल-फली में उत्पन्न हुए हैं। गोशाला उस पौधे के पास पहुँचा। तिलफली को तोड़ खोल देखता है

तिल के पौधे की परीक्षा और परिवर्त्तवाद की प्ररूपणा

डॉ॰ बारुआ की दूसरी बात कि—'भगवान् महावीर का आजीविकसंप्रदाय के सिद्धांतों से अपने धर्मोपदेश में सहायता लेना' ऐसा ही असत्य है जैसा दिन को रात कहना।

बौद्धों के **पिटकग्रंथों** में ज्ञातपुत्र भगवान् महावीर का और मंखलि-गोशाल का उल्लेख स्थान स्थान पर आता है। और भ॰ महावीर को बुद्ध ने अपना प्रतिस्पर्द्धि धर्मोपदेशक बताया है। परंतु उसमें कहीं भी यह उल्लेख नहीं किया गया है कि भगवान् महावीर ने आजीविक से कोई बात ली हो। वस्तुतः **आजीविक** संप्रदाय वेबुनियाद, अवैज्ञानिक और युक्तिहीन होने के कारण उसमें भ॰ महावीर को कौन सी सहायता लेने योग्य थी। **डॉ॰ बारुआ** ने यह भी स्पष्टतया नहीं बताया कि भगवान् महावीर ने 'आजीविक' संप्रदाय से कौनसी बातें ली थीं।

तो उसमें से सात तिल के दाने निकले। गोशालक ने उस पर से अपने मन में निश्चय कर लिया कि—"प्रत्येक जीव मरकर के उसी शरीर में उत्पन्न होता है।" मंखलि **गोशाल** का यह **'परिवर्त्तवाद'** है।

तेजोलेश्या की प्राप्ति

मंखलि-पुत्र **गोशालक** ने **वैश्यायन** नामक बाल तपस्वी का अपमान किया था। वैश्यायन मुनि ने पहले तो अपमान सहन किया परंतु आखिर बहुत अपमान उसने किया तब **'तेजोलेश्या'** नामक शक्ति गोशाला पर लगाई। भगवान् **महावीर** को गोशाला पर अनुकंपा हुई। उन्होंने तेजोलेश्या के प्रतिकार-रूप **शीतलेश्या** फेंकी। परिणामतः गोशाला बच गया। बाद में उसने भगवान् से प्रार्थना करके तेजोलेश्या की प्राप्ति कैसे हो, उसकी विधि सीखी। यह तेजोलेश्या छः महीने तक घोर तपस्या करने पर प्राप्त होती है। गोशाला ने उस तपस्या को करके तेजोलेश्या की शक्ति प्राप्त की।

छः शिष्यों की प्राप्ति

गोशालक अब तो भगवान् महावीर का विरोधी हो चुका था। उसने **'परिवर्त्तवाद', नियतिवाद** अथवा **आजीविक** मत का प्रचार करना शुरू कर दिया था[1]। संयोगवश उसको छः शिष्यों की प्राप्ति भी हो गई। वे छः दिशाचर शिष्य ये थे। **१ शान, २ कलंद, ३ कर्णिकार, ४ अच्छिद्र, ५ अग्नि** वैश्यायन और

---

(१) भगवान् महावीर से विरुद्ध होकर **गोशाल** ने जो मत प्रचार किया, उसका **'नियतिवाद,' 'परिवर्त्तवाद,'** अथवा **'आजीविक'** मत के नाम से उल्लेख आता है। विशेषतः **'आजीविक मत'** के नाम से अधिक ख्याति है। **गोशाल** के इस 'आजीविक' मत संबंधी **बौद्ध-पिटक** ग्रंथों में उल्लेख आता है। बौद्ध और **'जैन ग्रंथों'** के आधार पर ही **डॉ० ए० एफ० आर० हॉर्नले, डॉ० बी० एम० बारुआ** आदि कई विद्वानों ने स्वतंत्र

६ **गोमायुपुत्र अर्जुन।** (**चूर्णिकार** का कथन है कि ये छः दिशाचर भगवान् **महावीर स्वामी** के ही शिष्य थे, जो कि पतित हो गए थे। और वे पार्श्वनाथ की परंपरा में थे।) **गोशाला** को इन छः शिष्यों की प्राप्ति होने से अपने मत का प्रचार करने में

लेख लिखे हैं। इसके अतिरिक्त, कई विद्वानों ने प्रसंग प्रसंग पर उस विषय में संक्षिप्त नोट्स भी लिखे हैं। इन सब उल्लेखों से यह स्पष्ट है कि–'मंखलि गोशाल आजीविक संप्रदाय का नेता था'।

मंखलि गोशाल के इस सिद्धांत का सामान्य परिचय इस प्रकार है—

"प्राणियों के **क्लेश** के लिये कोई हेतु-प्रत्यय नहीं है। विना हेतु-विना प्रत्यय ही प्राणी क्लेश पाते हैं। प्राणियों की **शुद्धि** का कोई हेतु-प्रत्यय नहीं है। विना हेतु-प्रत्यय ही प्राणी **विशुद्ध** होते हैं। न आत्मकार है, न परकार है, न पुरुषार्थ है, न बल है, न वीर्य है। सभी सत्त्व, प्राण, भूत, जीव स्ववश हैं। बल-वीर्य-रहित हैं। नियति से निर्मित अवस्था में परिणत हो, छः ही अभिजातियों में सुख-दुःख अनुभव करते हैं। यह चौदह सौ हजार प्रमुख योनियाँ हैं। दूसरी आठ सौ, दूसरी छः सौ। पाँच सौ कर्म हैं। दूसरे पाँच कर्म, दूसरे तीन कर्म, एक कर्म और आधा कर्म। बासठ परिषद्, बासठ अंतर्कल्प, छः अभिजातियाँ, आठ पुरुषभूमियाँ, उन्चास सौ आजीवक, उन्चास सौ परिव्राजक, उन्चास सौ नागावास, वीस सौ इंद्रिय, तीस सौ नरक, छत्तीस् रजो धातु, सात संज्ञी गर्भ, सात असंज्ञी गर्भ, सात निगंठी गर्भ, सात देव, सात मनुष्य, सात पिशाच, सात शर, सात गाँठ, सात सौ पसुर, सात प्रपात, सात सौ प्रपात, सात स्वप्न, सात सौ स्वप्न। बाल भी, पंडित भी, चौरासी हजार महाकल्प—इनमें आवागमन कर दुःख का अंत करेंगे।"

देखो, 'बुद्धचर्या,' (ले० राहुल सांकृत्यायन) पृष्ठ४६२.

जैनसूत्र **'उवासगदसाओ'** में गोशाल का सिद्धांत इस प्रकार दिखलाया है—

"गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स धम्मपण्णत्ती, नत्थिउट्ठाणे इवा, कम्मं इवा, बले इवा, वीरिए इवा, पुरिसक्कार परक्कमे इवा। नियया सव्वभावा।"

देखो, छठा कुण्डकोलीय अध्ययन.

अर्थात् मंखलिपुत्र गोशालक की धर्मप्रज्ञप्ति, उत्थान नहीं, कर्म नहीं, बल नहीं, वीर्य नहीं, पुरुषार्थ नहीं, पराक्रम नहीं, समस्त पदार्थ नियत ही हैं।

काफी सहूलियत हो गई। उसने न केवल अपने विचारों का—मत का—प्रचार ही किया, बल्कि अपने को 'जिन' बतलाते हुए

'सभगडांग सूत्र' के प्रथम श्रुतस्कंध के प्रथम अध्याय के दूसरे उद्देशक में दूसरी-तीसरी गाथा में किसी का नाम नहीं लेते हुए यह कहा गया है कि—

"कई ऐसा कहते हैं कि—जीवों को जो सुख दुःख होता है, वह स्वयंकृत नहीं, और अन्यकृत भी नहीं है। किंतु यह सब सिद्ध ही है—स्वाभाविक ही है।"

यह मत और किसी का नहीं, गोशालक ही का समझना चाहिए।

बौद्धों के मज्झिमनिकायांतर्गत 'तिविज्ज-वच्छगोत्त-सुत्तन्त' में गौतम बुद्ध ने इस मत की निरर्थकता बतलाते हुए इसको शून्य ही प्रतिपादित किया है।

देखो मज्झिमनिकाय (राहुल सांकृत्यायन-अनुवादित) पृ० २८०.

श्रीयुत वेणीमाधव बडूया एम० ए० डी० लिट० अपने 'बौद्धग्रंथ कोश' नामक ग्रंथ प्रथम खंड में लिखते हैं—

"ठीक एई समये अंगदेशेर राजा कुणिक वा अजातशत्रु, लिच्छविराज-गणेर सहित युद्धे प्रवृत्त हन। गोशालेर शेष-जीवन एवं एइ युद्धेर घटना-वली अवलंबन करिया गोशालेर 'आजीविक' शिष्यगण 'अष्टमचरमवाद' नामे एक नवधर्ममत उद्भावन करेन। १ चरम पान, २ चरम चार (गान), ३ चरम नृत्य, ४ चरम अंजलिकर्म, ५ चरम पुष्करसंवर्त महामेघ, ६ चरम श्रेयनाग गंधहस्ति, चरम महाशीतलकांतक ओ ८ चरम तीर्थंकर—एइ आटटि आजीविक चरमवादेर अष्ट अंग।" देखो पृ० ४८०

भगवतीसूत्र में भी, लगभग उसी प्रकार का, जैसा कि ऊपर 'बुद्ध-चर्या' का पाठ दिया गया है, गोशाल के सिद्धांत का उल्लेख किया गया है। 'अष्टम चरमवाद' के नाम भगवतीसूत्र में इस प्रकार दिए हैं :—

१ चरमपान, २ चरमगान, ३ चरमनाट्य, ४ चरम अंजलिकर्म, ५ चरमपुष्कल संवर्तमहामेघ, ६ चरमसेचनक गंधहस्ति, चरम-महाशिलाकंटक संग्राम और ८ चरमतीर्थंकर (जो कि—इस अवसर्पिणी काल में अपने को—खुद को बताया)।

प्रचार करता रहा। एक समय में दो 'जिन' 'तीर्थंकर' नहीं विचरते हैं, परंतु **गोशाला** के अपने को 'जिन' नाम से प्रसिद्ध करने से लोगों में संदिग्धता उत्पन्न हो गई।

लोगों की शंकाओं को दूर करने के लिये किसी समय **श्रावस्ति** नगरी में, एक बड़ी सभा के समक्ष, भगवान् **महावीर** ने **गोशालक** का स्वरूप प्रकट किया। लोगों में घर घर बात चली कि गोशाला 'जिन' नहीं है परंतु झूँठे 'जिन' नाम से स्वयं ख्याति कर रहा है। लोगों में यह बात सुनकर **गोशाला** और गुस्सा हुआ और भगवान् **महावीर** का कट्टर विरोधी हुआ।

भगवान् महावीर का सत्य-प्रकाश

यह 'चरमवाद' उसने उस समय प्रकाशित किया था, जिस समय सबसे परास्त होकर **'हालाहला'** कुँभारिन के यहाँ आम्रफल को चूसता, मद्यपान करता तथा 'हालाहला' को अंचलि देता हुआ रहता था। अपनी इस प्रवृत्ति को ढकने के लिये उसने यह **'चरमवाद'** तथा इसके अतिरिक्त चार प्रकार के **पानक** और चार प्रकार के **अपानक** भी दिखलाए थे।

गोशालक के इस 'आजीविक' मत के संबंध में यों तो कई विद्वानों ने लिखा है, जैसा कि मैं पहले बतला चुका हूँ। परंतु सबसे अधिक परामर्श-पूर्वक लिखनेवालों में **डॉ० होर्नले** मुख्य हैं। उनका लेख अति महत्त्व-पूर्ण है। उन्होंने सब अभिप्रायों को देने के बाद लिखा है—

"यह बात स्पष्ट है कि सिद्धान्त की दृष्टि से वह एक प्रकार का ठोस **नियतिवाद** था, जो कि मनुष्य की स्वतंत्र इच्छाशक्ति में और शुभाशुभ कर्म में, उसके उत्तरदायित्व में 'नकार' कहता था। यह भी इतना ही स्पष्ट है कि यदि यह सिद्धांत आचार में रखा जाय, तो यह अत्यंत ही उपद्रवकारक हो जाय। **बौद्ध** और **जैन** दोनों सम्मत हैं कि—गोशाला ने अपना सिद्धांत आचार में भी उतारा था। जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, बुद्ध ने उसके ऊपर अब्रह्मचर्य का आरोप रक्खा था। **महावीर का कथन** भी उतना ही वजनदार है।..............गोशाला ने अपना मुख्य मठ एक स्त्री के मकान में रखकर अपने ही कृत्य से अपने पर यह आरोप उठा लिया था।"

देखो, जैन साहित्य-संशोधक, खं० ३, अं० ४, पृ० ३४०.

गोशालक के '**आजीविक**' मत में **हालाहला** नाम की कुँभारिन प्रधान स्थान रखती है। वह **श्रावस्ति** नगरी की रहने-वाली थी। वह अच्छी धनाढ्य थी। बुद्धिमती थी। सौंदर्यवाली थी। उसने '**आजीविक**' सिद्धांत का स्वीकार किया था। उस सिद्धांत में दृढ़ आस्तिक्य वाली हो गई थी।

हालाहला कुँभारिन

गोशाला जब **श्रावस्ति** में आता, अक्सर इसी कुँभारिन के स्थान में मुकाम करता। जिन छः दिशाचर-शिष्यों की प्राप्ति का वर्णन ऊपर किया गया है, वे यहीं **गोशाला** को आ मिले थे।

किसी दिन **गोशाला हालाहला** कुँभारिन के यहाँ ठहरा हुआ था। उसने भगवान् महावीर के **आनंद** नामक निर्ग्रंथ को देखा। उसने **आनंद** को अपने पास बुला कर कहा 'देखो तुम्हारे धर्माचार्य ज्ञातपुत्र (महावीर) बड़ी उम्रवाले हुए हैं। देव, मनुष्य और असुरों से पूजित हुए हैं। '**श्रमण भगवान् महावीर**' '**श्रमण भगवान् महावीर**' ऐसी प्रसिद्धि हुई है, ठीक है, लेकिन आज मुझे वे कुछ भी कहेंगे, तो मैं अपने तपस्तेज से उनको जला-करके भस्म कर दूँगा। तू जा, और अपने धर्माचार्य ज्ञातपुत्र को यह बात कह।"

आनंद के द्वारा भगवान् महावीर को भय बताना

आनंद ने भगवान् **महावीर** के पास जाकर यह बात निवे-दन की और पूछा कि—"क्या **गोशाला**, इस प्रकार, अरिहंत को भस्म करने की सामर्थ्य रखता है?" महावीर ने उत्तर दिया—"गोशाला की शक्ति से अरिहंत की शक्ति अनंत गुणी है। हाँ,

---

इस प्रकार **गोशाल** के 'नियतिवाद' अथवा 'आजीविक मत' के संबंध में अनेक विद्वानों ने लिखा है। उन सब का यहाँ उल्लेख करना असंभव है।

गोशाला में भस्म करने की शक्ति है, परंतु अरिहंतों को ऐसा नहीं कर सकता है। सिर्फ उनको दुःख उत्पन्न कर सकता है।"

भगवान् **महावीर** ने उस समय **आनंद** को कहा—तुम जाओ, और गौतमादि निर्ग्रंथों को कहो कि '**गोशाला** के साथ कोई किसी प्रकार का वार्त्तालाप नहीं करे।'

कुछ ही समय में **हालाहला** कुँभारिन के यहाँ से **गोशाला** भगवान् महावीर के पास आता है और कहता है—'हे आयुष्मन्! काश्यपगोत्रीय! 'मंखलिपुत्र को भस्म करना।' गोशालक मेरा धर्म-संबंधी शिष्य है ऐसा जो कहते हो, वह ठीक है; परंतु तुम्हारा शिष्य **गोशाला** तो मरकर किसी देवलोक में उत्पन्न हुआ है। मैं तो कौंडिन्यायन गोत्रीय **उदायी** नाम का हूँ। मैंने गौतमपुत्र अर्जुन के शरीर का त्याग करके **मंखलिपुत्र गोशालक** के शरीर में प्रवेश किया है। **"यह सातवाँ शरीरांतर-प्रवेश है"**। गोशालक ने ऐसा कहकर अपने सिद्धांत की कई एक बातें कह डालीं।

गोशाला का महावीर के पास आना और सुनक्षत्र-सर्वानुभूति

भगवान् **महावीर** ने कहा—"तू अपनी आत्मा के स्वरूप को छिपाता है। गोशालक! ऐसा नहीं करना चाहिए। ऐसा करने के योग्य तू नहीं है।"

महावीर के इस वचन से **गोशाला** की गरमी का पारा बढ़ गया। वह भगवान् **महावीर** स्वामी का तिरस्कार और अपमान करने लगा। और कहने लगा—"मैं मानता हूँ कि तू अब नष्ट हुआ है। अब तेरा अस्तित्व नहीं है।"

कुछ भी कहा, **महावीर** भगवान् सहन करते रहे। सहन करने में वे समर्थ थे। परंतु **सर्वानुभूति** अनगार से अपने गुरु का, देव का, अपमान सहन नहीं हुआ। वे **गोशालक** के पास

गए और कहने लगे—"गोशालक, धर्म के एक वचन को भी सुनाने-वाले का उपकार भूला नहीं जाता, परंतु तू विचार कर, भगवान् **महावीर** ने तुझे दीक्षा दी, शिष्य रूप स्वीकार किया, शिक्षित किया, बहुश्रुत किया, तथापि तू भगवान् के साथ अनार्यपने का आचरण करता है।" बस, **गोशाला सर्वानुभूति** अनगार पर और गुस्सा हुआ और अपनी शक्ति से उसको जलाकर भस्म किया। इसी प्रकार **सुनक्षत्र** नामक अनगार को भी भस्म किया।

पुनः वह **महावीर स्वामी** के पास जाकर आक्रोश करने लगा। भगवान् ने उसको, पूर्वकृत उपकारों को याद कराया, परंतु इससे तो वह और बिगड़ा, और अपने शरीर में से **तेजोलेश्या** निकाली; परंतु वह तेजोलेश्या भगवान् को जलाने के लिये समर्थ न हुई। इधर उधर चक्कर लगाकर खुद **गोशाला** के शरीर को दग्ध करती हुई उसी के शरीर में पुनः प्रविष्ट हुई। **गोशाला** शरमिंदा हो गया। फिर भी वह कहता है—"हे आयुष्मन्, मेरी तेजोलेश्या से पराभव होकर छः महीने में दाह की पीड़ा से छद्मस्थ अवस्था में ही तू मरेगा।" भगवान् ने कहा—"गोशालक, अभी तो मैं सोलह वर्ष तक 'जिन'पने में विचरूँगा, परंतु तू स्वयं अपने तेज से पराभव पाकर सात रात्रि के अंत में पित्तज्वर से पीड़ित होकर छद्मस्थावस्था में ही काल करेगा।"

अपनी इच्छा पूर्ण नहीं होने के कारण और अपनी तेजोलेश्या निष्फल जाने के कारण **गोशालक** अब शक्तिहीन बन गया था। अब

गोशालक का परास्त होना और उनके शिष्यों का महावीर के पास जाना

भगवान् **महावीर** के कई श्रमण गोशालक के पास जाकर उसके मत के विरुद्ध प्रश्नोत्तर करने लगे, उससे प्रतिकूल वचन कहने लगे, परंतु **गोशालक** लाजवाब ही होता रहा। वास्तविक उत्तर कुछ नहीं दे सकता था। इससे उसको गुस्सा भी बहुत

आने लगा। परिणाम यह हुआ कि **गोशालक** के बहुत से शिष्य भगवान् **महावीर** के पास आए और उनको वंदन-नमस्कार कर उनके आश्रय में रहकर विचरने लगे। **'आजीविक'** मत के कुछ स्थविर **गोशालक** के पास भी रहे।

गोशाला 'हालाहला' कुँभारिन के यहाँ रहता है। अपने शरीर के दाह को शांत करने के लिए आम्रफल हाथ में लेकर चूसता है। मद्यपान करता है। बार बार गाता है, नाचता है। और बारंबार **हालाहला** कुँभारिन को अंजलि देते हुए मिट्टी के भाजन में रखे हुए ठंडे पानी से अपने शरीर का सिंचन करता है। अपनी इस सावद्य प्रवृत्ति को निरवद्य बताने के लिये पानी की भिन्न भिन्न जातियाँ बताता है। अर्थात् वह जिस पानी का उपयोग कर रहा है, वह निर्दोष है, ऐसा समझाने की कोशिश करता है।

गोशालक की अनुचित प्रवृत्ति

गोशालक ने अपना जब अंतिम समय देखा, तो अपने **'आजीविक'** स्थविरों को पास बुलाकर आदेश दिया कि—

गोशालक का अंतिम समय, पश्चात्ताप और सत्यप्रकाश

"देखो, जब मैं कालधर्म को प्राप्त करूँ, तब मेरे को सुगंधी गंधोदक से स्नान कराना, गोशीर्ष चंदन से मेरे शरीर का विलेपन करना। महामूल्य हंस के चिह्नवाला पटशाटक पहनाना, सर्वालंकार से विभूषित करना, और राजमार्ग में बड़ी उद्घोषणा के साथ यह पुकारते हुए मेरे शरीर को बाहर निकालना कि—'मंखलिपुत्र **गोशालक,** इस अवसर्पिणि में चौबीसवाँ—अंतिम तीर्थंकर होकर सिद्ध हुआ है'।"

परंतु **गोशालक** का यह आदेश अंतिम समय तक स्थिर नहीं रहा। सात रात्रि व्यतीत होते ही, **गोशालक** की आत्मा में सच्चाई का प्रकाश हुआ। दाह से पीड़ित गोशाला को अंतिम

समय में पूर्वकृत अनुचित कार्यों का पश्चात्ताप हुआ। "अरे मैं 'जिन' नहीं होते हुए 'जिन प्रलाप' करता रहा। मैंने श्रमणों का घात किया। मैं श्रमणों का विरोधी हुआ। मैं मंखलिपुत्र **गोशालक** हूँ। परंतु मैंने बहुत असद् भावना करके अपने को और दूसरों को भी भ्रांति में डाला। मैं छद्मस्थ अवस्था में ही काल करूँगा। श्रमण भगवान् **महावीर** जिन हैं" इस प्रकार पश्चात्ताप करते हुए उसने **'आजीविक'** स्थविरों को अपने पास बुलाया, और उनको अनेक प्रकार के शपथ देकर के इस प्रकार कहा—

"देखो मैं जिन नहीं हूँ। मैं श्रमण का घात करनेवाला मंखलिपुत्र **गोशालक** हूँ। मैं छद्मस्थावस्था में काल करूँगा। श्रमण भगवान् **महावीर** जिन हैं। इसलिये हे देवानुप्रिय! जब मैं कालधर्म को प्राप्त करूँ, मेरे बायें पैर को डोरी से बाँधकर मेरे मुख में तीन बार थूकना, और **श्रावस्ति** नगरी के श्राममार्ग में, उद्घोषणापूर्वक यह कहते हुए, मुझको बाहर ले जाना कि 'मंखलिपुत्र **गोशालक** जिन नहीं था। श्रमण का घात करनेवाले मंखलिपुत्र **गोशालक** ने छद्मस्थावस्था में ही कालधर्म पाया है। श्रमण भगवान् **महावीर** जिन हैं'।"

ऐसा कहते हुए मंखलि-पुत्र **गोशालक** ने अपना शरीर छोड़ा। **गोशाला** ने, अपने अनुयायियों को शपथ देकर उपर्युक्त कार्य करने को कहा था, इसलिए अपनी प्रतिज्ञा का पालन करने के लिये **'हालाहला'** कुँभारिन के स्थान में, **श्रावस्ति** का आलेखन किया। और **गोशाला** के पैर को बाँधकर, तीन बार मुँह में थूँककर, और जिस प्रकार कहने को कहा था, उसी प्रकार कहकर अपने शपथ को पूरा किया। बाद में विधिपूर्वक गंधोदक से स्नान कराकर, बड़ी धूमधाम के साथ **श्रावस्ति** नगरी में होकर के उसके शरीर को बाहर निकाला।

इस प्रकार भगवान् महावीर स्वामी के कथनानुसार अपनी ही तेजोलेश्या के प्रताप से मंखलि-पुत्र **गोशालक** का बराबर सात रात्रि व्यतीत होने पर शरीरांत हुआ।

गोशाला की तेजोलेश्या के प्रसंग को छः महीने व्यतीत हुए ही नहीं थे कि भगवान् महावीर जिस समय **मेंठिक** ग्राम के **'साणकोष्टक'** नामक चैत्य में पधारे थे, उस समय भगवान् को असह्य पित्तज्वर हुआ जिसके कारण बहुत दाह हुआ और खून-युक्त दस्त भी हुए। लोगों को शंका हो गई कि **गोशाला** के कथनानुसार भगवान् **महावीर** जरूर 'कालधर्म' को प्राप्त करेंगे। परंतु भगवान् ने कहा कि—'मैं अभी सोलह वर्ष पर्यंत काल करूँगा नहीं'। बाद में **सिंह** नाम के अनगार **मेंठिक** ग्राम में जाकर **रेवती** नाम की गृहस्थिनी के यहाँ से, दाह को शमन करनेवाला बीजोरा-पाक ले आए। भगवान् महावीर ने उसको लिया और उससे भगवान् का रोग शांत हुआ।

भगवान् महावीर का कष्ट

इस प्रकार गोशाल का वचन झूठा होता है, और भगवान् महावीर का वचन सत्य होता है।

इतिहास-तत्त्व-महोदधि पूज्यपाद आचार्य श्री विजयेन्द्र सूरि महाराज का मैं अनुगृहीत हूँ जिन्होंने आवश्यक सामग्री भेजकर, इस लेख के लिखने में मुझको अनुकूलता कर दी।

(७) मारवाड़ की सबसे प्राचीन जैन मूर्तियाँ

[लेखक—श्री मुनि कल्याणविजय]

१—उत्थान

यों तो मारवाड़ में अनेक जगह प्राचीन जैन मूर्तियाँ विद्यमान होंगी, परंतु आज तक हमने जितनी भी धातुमयी और पाषाणमयी जैन-मूर्तियों के दर्शन किए उन सबमें पिंडवाड़ा (सिरोही) के महावीर स्वामी के मंदिर में रखी हुई कतिपय सर्वधातु की मूर्तियाँ अधिक प्राचीन हैं।

पहले पहल हमने संवत् १९७८ के पौष सुदी ७ के दिन इन मूर्तियों के दर्शन किए थे और लेख तथा तत्संबंधी जरूरी नोट भी लिख लिए थे, परंतु इस विषय में लिखने की इच्छा होने पर भी कुछ लिखा नहीं जा सका, कारण यह था कि उनमें की सबसे प्राचीन एक मूर्ति पर जो लेख था वह पूरा पढ़ा नहीं गया था, यद्यपि उसका प्रथम और अंतिम पद्य तथा संवत् स्पष्ट पढ़ा गया था, परंतु अक्षरों के घिस जाने के कारण बिचले दो पद्य ठीक पढ़े नहीं जा सके थे, और इच्छा लेख पूरा पढ़कर कुछ भी लिखने की थी।

वि० सं० १९९३ में आषाढ़ बदी ९ के दिन फिर हमने प्रस्तुत मूर्तियों के दर्शन किए और उनके संबंध में फिर भी कुछ बातें नोट कीं। बाद में वहीं पर सुना कि 'कोई ४-५ दिन पहले ही राय-बहादुर महामहोपाध्याय पंडित गौरीशंकरजी ओझा यहाँ की इस प्राचीन कायोत्सर्गिक मूर्ति का लेख ले गए हैं', यह सुनकर बड़ा प्रसन्नता हुई। पंडितजी से लेख की नकल मँगवा लेने के विचार से इस बार उक्त लेख पढ़ने का हमने प्रयत्न ही नहीं किया।

पिंडवाड़ा से विहार कर जब हम रोहिड़ा आए तो पंडितजी यहीं थे। खबर पहुँचते ही आप उपाश्रय में पधारे और बराबर तीन घंटों तक पुरातत्त्व-विषयक ज्ञानगोष्ठी करते रहे। दर्मियान उक्त जैन लेख के बारे में पूछने पर ज्ञात हुआ कि वह लेख आपके नोट में भी पूरा नहीं है। घिस जाने के कारण बिचला भाग ठीक नहीं पढ़ा गया[१]। हमें बड़ी निराशा हुई, अब लेख के संपूर्ण पढ़े जाने की कोई आशा नहीं रही और उन मूर्तियों तथा लेख के संबंध में जो कुछ लिखने योग्य है उसे लिख देने का निश्चय कर लिया गया।

२—मूर्तियों का मूल प्राप्ति-स्थान

प्रस्तुत मूर्तियाँ यद्यपि इस समय पिंडवाड़ा के जैन-मंदिर में स्थापित हैं, परंतु इनका मूल प्राप्ति-स्थान कि जहाँ से ये लाई गई हैं **वसंतगढ़** है।

'वसंतगढ़' पिंडवाड़ा से अग्निकोण में करीब ३ कोस की दूरी पर एक पहाड़ी किला है, जो इसी नाम से प्रसिद्ध है। यहाँ के भील, मेहजन आदि पहाड़ी लोग इसे 'चवलियोंरो गढ़' इस नाम से अधिक पहिचानते हैं[२]। सोलहवीं सदी के शिलालेखों में इस स्थान का नाम 'वसंतपुर' लिखा है, तब कोई कोई पुरातत्त्वज्ञ इसका प्राचीन नाम 'वसिष्ठपुर' भी बताते हैं। कुछ भी

---

(१) बाद में हमने पंडितजी से उस लेख की नकल भी अजमेर से मँगवाई, परंतु आपके कहने मुजब ही उसके बिचले दो पद्य अधिकांश में अक्षरों के घिस जाने के कारण पढ़े नहीं गए थे, फिर भी हमें पंडितजी की नकल से दो एक शब्द नए अवश्य मिले और उनके आधार से उन पद्यों का भाव समझने में कुछ सुगमता हो गई।

(२) वसंतगढ़ से करीब डेढ़ मील के फासले पर एक 'चवली' नाम का गाँव है। उसी के ऊपर से इसे 'चवलियोंरो गढ़' कहते हैं।

हो लेकिन 'वसंतगढ़' मारवाड़ के अति प्राचीन स्थानों में से एक है, यह बात वहाँ के क्षेमार्या देवी के मंदिर के, विक्रम की सातवीं सदी के, एक शिलालेख से ही सिद्ध है।

वसंतगढ़ में इस समय भी तीन-चार जैन-मंदिर अर्धध्वस्त दशा में दृष्टिगोचर होते हैं। दो-तीन जैनेतर देवताओं के मंदिर भी खंडित दशा में विद्यमान हैं, जिनमें एक देवी 'क्षेमार्या' का प्राचीन मंदिर है।

प्रस्तुत धातु-मूर्तियाँ विक्रम संवत् १९५६ तक वसंतगढ़ के जैन मंदिर के भूमिगृह में थीं, जिनका किसी को पता नहीं था; परंतु उक्त वर्ष में, जो कि एक भयंकर दुष्काल का समय था, धन के लोभ से अथवा अन्य किसी कारण से पुराने खंडहरों की तलाश करनेवालों को इन जैन-मूर्तियों का पता लगा। उन्होंने तीन-चार मूर्तियों के अंग तोड़कर उनकी परीक्षा करवाई और उनके सुवर्णमय न होने के कारण मूर्तियों को वहीं छोड़ दिया। बाद में धीरे धीरे यह बात निकट के गाँववालों के कानों तक पहुँची, तब पिंडवाड़ा आदि के जैन श्रावकों ने वहाँ जाकर छोटी-बड़ी अखंडित और खंडित सभी धातु-मूर्तियाँ पिंडवाड़े लिवा लाए और उनमें जो जो पूजने योग्य थीं उन्हें ठीक करवाकर महावीर स्वामी के मंदिर के गूढ़ मंडप में और पिछली बड़ी देहरी के मंडप में स्थापित किया जो अभी तक वहीं पूजी जाती हैं।

३—मूर्तियों की वर्तमान अवस्था—यों तो वसंतगढ़ से आई हुई मूर्तियों की संख्या बहुत है परंतु उनमें से अधिकांश तीन तीर्थियाँ, पंचतीर्थियाँ और चतुर्विंशतियाँ, दसवीं, ग्यारहवीं और बारहवीं सदी की होने से इस लेख में उनका परिचय देने की विशेष आवश्यकता नहीं। जो जो मूर्तियाँ नवम शताब्दी के पूर्वकाल की हैं उन्हीं का परिचय कराना यहाँ योग्य समझा गया है।

जिन्हें मैं आठवीं सदी की मूर्तियाँ कहता हूँ वे कुल आठ हैं। उनमें तीन अकेली[१], तीन त्रितीर्थियाँ और दो अकेली कायोत्सर्गिक मूर्तियाँ हैं।

इनमें से पहली तीन अकेली मूर्तियाँ पौन फुट के लगभग ऊँची हैं और बिलकुल ही खंडित तथा बेकार बनी हुई हैं। पहले ये भूहरे में रख दी गई थीं, परंतु बाद में वहाँ के एक श्रावक ने गाँव के पंचों की राय लिए बगैर ही पालणपुर के एक पुरातत्त्व-अन्वेषक गृहस्थ को दे दी थीं, परंतु साल भर के बाद जब गाँव के पंचों को इस बात का पता लगा तो देनेवाले को मूर्तियाँ वापिस लाने के लिये तंग किया और ले जानेवाले गृहस्थ से भी मूर्तियाँ वापस दे देने के लिये लिखा-पढ़ी की, आखिर वे तीनों मूर्तियाँ फिर पिंडवाड़े आ गईं, जो अभी पिछली देहरी के कपिला मंडप के दोनों खत्तकों में रखी हुई हैं।

तीन त्रितीर्थियाँ भी उसी देहरी के मंडप में भीतर जाते दाहिने हाथ की तरफ़ विराजमान हैं। ये सवा फुट के लगभग ऊँचाई में होंगी। ये मूर्तियाँ अभी तक अच्छी हालत में हैं।

त्रितीर्थियों के मूलनायकों की प्राचीनता उनके लंबगोल और सुंदर मुख से ही झलकती है, बाकी उन पर न लेख हैं और न वस्त्र या नग्नता का ही चिह्न। परंतु इन त्रितीर्थियों में जो दो दो कायोत्सर्ग-स्थित मूर्तियाँ हैं उनकी आकृति और कटिभाग के नीचे स्पष्ट दीखने-वाला वस्त्रावरण इनकी प्राचीनता का खुला साक्ष्य दे रहा है।

इन त्रितीर्थियों में दो एक बातें अर्वाचीन त्रितीर्थियों से भिन्न प्रकार की देखी गईं। अर्वाचीन त्रितीर्थियों में दोनों कायोत्सर्गिक

(१) पहले तमाम मूर्तियाँ सपरिकर ही होती थीं। इस नियम से ये मूर्तियाँ भी पहले सपरिकर ही होंगी और बाद में परिकर से जुदा पड़ जाने से अकेली हुई होंगी ऐसा अनुमान है।

मूर्तियाँ एक ही तीर्थंकर की होती हैं—कम से कम ऐसी मान्यता तो है ही, और उनमें यक्ष-यक्षिणी भी मूलनायक के ही होते हैं, परंतु इन त्रितीर्थियों के संबंध में यह बात नहीं पाई गई। इनमें मूलनायक तो अन्य तीर्थंकर हैं ही, परंतु दो कायोत्सर्गिक भी भिन्न-भिन्न तीर्थंकर हैं, और केवल मूलनायक के ही नहीं बल्कि सबके पास अपने अपने अधिष्ठायकों की मूर्तियाँ दृष्टि-गोचर होती हैं।

दो अकेली कायोत्सर्गिक मूर्तियाँ मूल मंदिर के गूढ़मंडप में दाहिने और बायें भाग में सामने ही खड़ी हैं। दोनों मूर्तियों के नीचे धातुमय पादपीठ हैं जिनसे मूर्तियाँ काफी ऊँची दीखती हैं। पादपीठ सहित इन कायोत्सर्गिकों की ऊँचाई ४ फुट से अधिक होगी। सामान्यतया दोनों मूर्तियाँ अच्छी हालत में हैं, परंतु ध्यान से देखने से इनकी भुजाओं में श्वेत धातु की झालन स्पष्ट दिखाई देती है। इससे ज्ञात होता है कि इनकी भुजायें अनार्य लोगों ने तोड़ दी होंगी अथवा तोड़ने के लिये इन पर शस्त्र प्रहार किए होंगे जिससे भुजाओं में गहरी चोटें लगी हैं जो बाद में चाँदी से भर दी गई मालूम होती हैं।

उक्त दो मूर्तियों में से बायें हाथ तरफ की मूर्ति के पादपीठ पर ५ पंक्तियों का एक संस्कृत भाषा में लेख है, जो विवेचन-पूर्वक आगे दिया जायगा।

४—मूर्तियों की विशिष्टता

प्रस्तावित मूर्तियों की विशिष्टताएँ भी देखने योग्य हैं। गुप्त-कालीन शिल्पकला के उत्कृष्ट नमूने होने के कारण तो ये दर्शनीय हैं ही, परंतु अन्य भी अनेक विशिष्टताएँ इनमें सन्निहित हैं।

(१) आज तक हमने कायोत्सर्गस्थित जितनी प्राचीन जिन मूर्तियाँ देखी हैं उन सब के कटिभाग में तीन, पाँच अथवा सात

सेर का कच्छ बँधा हुआ और उसके अंचल सामने गुह्यभाग से लेकर जाँघ के मध्य तक लंबे देखे गए हैं, परंतु इन मूर्तियों के विषय में यह बात नहीं है। इनके कटि-प्रदेश में कच्छ या लँगोट नहीं किंतु कंदोरा-सा बँधा हुआ दिखाई देता है जिसका गठबंधन सामने ही मूर्ति के दाहिने हाथ की तरफ किया हुआ है, और वहीं उसके छोर लटकते हुए दिखलाए हैं, परंतु रस्सी का एक छोर सामने की तरफ भी नीचे लटकता हुआ दिखाया गया है, जो कपड़े के एक अंचल से बँधा हुआ सा ज्ञात होता है। इससे मूर्ति के दाहिने भाग में तो कंदोरे की गाँठ मात्र ही दीखती है, परंतु बाईं तरफ जघनभाग से सटा हुआ कपड़ा दिखाई दे रहा है जो सामने के बायें अर्धभाग को ढँकता हुआ घुटनों के भी नीचे पतली जाँघों तक चला गया है। बायें भाग में कपड़े पर बल पड़े होने से वह स्पष्ट दिखाई देता है, दाहिने भाग में वैसा न होने से कपड़े का चिह्न स्पष्टतया प्रतीत नहीं होता, परंतु दोनों जाँघों के निचले भागों में टखनों के कुछ ही ऊपर कपड़े की किनारी स्पष्ट दिखाई देती है, जिससे 'मूर्तियों का कमर के नीचे का भाग वस्त्रावृत है' यह बात स्पष्टरूप से समझ में आ जाती है। इस प्रकार की उक्त मूर्तियाँ न तो कच्छवाली कही जा सकती हैं और न नग्न ही, किंतु जिस प्रकार श्वेतांबर जैन साधु आज कल चोल-पट्टा पहिनकर ऊपर कंदोरा बाँधते हैं, ठीक उसी प्रकार ये मूर्तियाँ भी कमर से जंघा तक कपड़ा पहिने और ऊपर कंदोरा बँधी हुई प्रतीत होती हैं।

प्रस्तुत मूर्तियों की सबसे पहली यही विशिष्टता है और इस विशिष्टता से हमारे समाज में चिर-प्रचलित एक दंतकथा निराधार प्रमाणित होती है।

कहा जाता है, और अनेक ग्रंथकार अपने ग्रंथों में लिख भी चुके हैं कि "पूर्वकाल में जैन मूर्तियाँ न तो नग्न होती थीं और न

वस्त्रवाली, किंतु वे दोनों आकारों से विलक्षण आकारवाली होती थीं, जिन्हें श्वेतांबर-दिगंबर दोनों संप्रदायोंवाले मानते थे, परंतु बप्पभट्टि आचार्य के समय में (विक्रम की नवीं शताब्दी में) एक बार गिरनार तीर्थ के स्वामित्व हक के बारे में श्वेतांबर-दिगंबरों में झगड़ा हुआ। झगड़े का फैसला बप्पभट्टि आचार्य के प्रभाव से श्वेतांबरों के हक में होकर उक्त तीर्थ श्वेतांबर संप्रदाय का प्रमाणित हुआ। परंतु इस झगड़े से दोनों संप्रदायवाले चौकन्ने हो गए और भविष्य में फिर कभी बाधा न उठे इस वास्ते एक संप्रदाय-वालों ने अपनी जिनमूर्तियाँ कच्छकंदोरेवाली बनवाने की प्रथा प्रचलित की और दूसरों ने बिलकुल नग्नाकारवाली।" परंतु प्रस्तुत मूर्तियों के आकार-प्रकार से उक्त दंतकथा निराधार प्रमाणित होती है। जिस समय बप्पभट्टि का जन्म भी नहीं हुआ था उस समय भी जब इस प्रकार की वस्त्रधारिणी जैन मूर्तियाँ बनती थीं तब यह कैसे माना जाय कि बप्पभट्टि के समय से ही सवस्त्र जिनमूर्तियाँ बनने लगीं ? १।

(२) अधिकृत मूर्तियों की दूसरी विशिष्टता यह है कि इनके मस्तक केशोर्णाओं से (केशों के मणिकों से) भरे हुए हैं, जब कि दशवीं शताब्दी और इसके बाद की जैन मूर्तियों के मस्तक पर

---

(१) मथुरा के प्राचीन खंडहरों में से विक्रम की छठी सदी के लगभग के समय की कुछ जैनमूर्तियाँ निकली हैं जो आधुनिक दिगम्बर मूर्तियों की तरह बिलकुल नग्नाकार हैं, इससे भी उक्त दंतकथा जो बप्पभट्टि के समय से नग्न मूर्तियों का प्रचार होना बताती है, निराधार प्रमाणित होती है। सच बात तो यह है कि संप्रदायों की प्रतिष्ठा के समय से ही उनकी अभिमत मूर्तियाँ अपनी अपनी मान्यता के अनुसार बनने लगी थीं, परंतु समय-समय पर होनेवाली शिल्प-शास्त्र की उन्नति अवनति के असरों से कालांतरों में उनका मूलस्वरूप कई अंशों में परिवर्तित हो गया और मूर्तियाँ वर्तमान स्वरूप को प्राप्त हो गईं।

ज्यादा से ज्यादा ७ और कम से कम ३ मणिकमालाएँ देखी जाती हैं, और प्राय: सभी मूर्तियों की शिखाएँ मणिक-रहित होती हैं, तब इनकी ऊँची शिखाएँ भी मणिकों से परिपूर्ण हैं। जवान आदमी का शिर जैसा घूँघरवाले बालों से सुशोभित होता है, ठीक वैसे ही इन मूर्तियों के शिर हैं।

(३) इनमें से कुछ खड़ी मूर्तियों के कंधों पर स्पष्ट रूप से जटाएँ रखी हुई प्रतीत होती हैं। यद्यपि किन्हीं किन्हीं अर्वाचीन मूर्तियों के स्कंधों पर भी जटाओं के आकार देखे जाते हैं, पर वे आकार जटाओं के न होकर कानों के निचले भाग के पास कंधों पर एक दूसरी से चिपटी हुई तीन गोलियाँ बना दी जाती हैं, जिनको जटा मानकर उनके आधार पर यह मूर्ति ऋषभदेव की कही जाती है, परंतु इन मूर्तियों के कंधों पर की जटाएँ हूबहू जटाएँ होती हैं। मूल में एक एक होती हुई भी कुछ आगे जाकर वह तीन-तीन भागों में बँट जाती हैं, जिससे वह समूचा दृश्य हवा से बिखरी हुई एक जटा का-सा सुंदर दीखता है। यह इन मूर्तियों की तीसरी विशिष्टता है।

(४) प्रस्तावित मूर्तियों की चौथी विशिष्टता यह है कि वे भीतर से पोली हैं। आज तक जितनी भी सर्वधातुमयी मूर्तियाँ हमने देखीं सब ठोस ही ठोस देखीं, परंतु उक्त छोटी बड़ी सभी मूर्तियाँ भीतर से पोली हैं, जो लाख जैसे हलके लाल पदार्थ से भरी हुई हैं।

५—मूर्ति के लेख का परिचय

इन सब में से पूर्वोक्त एक ही बड़ी कायोत्सर्गिक मूर्ति के पादपीठ पर पाँच पंक्तियों का एक पद्यबद्ध लेख है।

लेख का प्रारंभ ॐकार से किया गया है। लेख के पहले दो पद्य श्लोकात्मक, तीसरा आर्यावृत्त और चौथा श्लोक हैं।

प्रथम पंक्ति में द्वितीय पद्य के ४ अक्षर आए हैं, बाकी प्रत्येक पंक्ति में पूरा एक एक पद्य समा गया है।

इनमें से प्रथम तथा चतुर्थ पद्य तो स्पष्ट पढ़े जा सके हैं परंतु बिचले दो पद्य अधिक घिस जाने से ठीक पढ़े नहीं गए।

प्रथम पद्य में मूर्तिदर्शन की आवश्यकता सूचित की है, दूसरे में मूर्तियुगल का निर्माण करवानेवाले गृहस्थों के नाम हैं जो घिस जाने से पढ़े नहीं जा सके, उनमें से सिर्फ एक 'यशोदेव' नाम स्पष्ट पढ़ा गया है। तीसरी पंक्ति में मूर्तिदर्शन से होनेवाले लाभों की प्राप्ति के लिये प्रार्थना है। चौथी पंक्ति में प्रतिष्ठा का संवत् है और उसके नीचे पाँचवीं पंक्ति में मूर्ति बनानेवाले शिल्पी की प्रशंसा लिखी गई है।

६—मूल-लेख

मूल-लेख की अक्षरशः नकल और उसका अर्थ नीचे मुजब है—

(१) ॐ नीरागत्वादिभावेन, सर्व्वज्ञत्वविभावकं। ज्ञात्वा भगवतां रूपं, जिनानामेव पावनं ॥ द्रो—वयक

(२) यशोदेव देव..........भिः.................रिदं जैनं कारितं युग्ममुत्तमं ॥

(३) भवशतपरंपराज्जित-गुरुकर्म्मरसो (जो)...त.........
...........वर दर्शनाय शुद्ध सञ्ज्ञान चरणलाभाय ॥

(४) संवत् ७४४।

(५) साक्षात्पितामहेनेव, विश्वरूपविधायिना।
शिल्पिना शिवनागेन, कृतमेतज्जिनद्वयम् ॥

अर्थ—'वीतरागत्व आदि गुण से सर्वज्ञत्व प्रकट करनेवाली जिन भगवंतों की पवित्र मूर्ति ही है (ऐसा) जानकर..... यशोदेव ....आदि ने जिनमूर्तियों की यह जोड़ी बनवाई।

सैकड़ों भवपरंपराओं में उपार्जन किए कठिन कर्मरज......
(के नाश के लिये तथा) सम्यग्दर्शन, शुद्ध ज्ञान और चारित्र के लाभ के लिये (हो)।

विक्रम संवत् ७४४ में (इस मूर्तियुगल की प्रतिष्ठा हुई।)

साक्षात् ब्रह्मा की तरह सर्वप्रकार के रूपों (मूर्तियों) को बनानेवाले शिल्पी (मूर्तिनिर्माता स्थपति) शिवनाग ने ये दोनों जैनमूर्तियाँ बनाईं।

७—उपसंहार

मारवाड़ में हजारों प्राचीन जैन मूर्तियाँ हैं, परंतु ज्ञात मूर्तियों में दशवीं सदी के पहले की बहुत कम होंगी। विक्रम की पाँचवीं सदी के पहले ही यह प्रदेश जैनधर्म का क्रीड़ास्थल बन चुका था और छठी, सातवीं तथा आठवीं सदी तक यह देश जैन-धर्म का केंद्र बना हुआ था। इस हिसाब से उक्त पिंडवाड़ा की मूर्तियों से भी बहुत पहले की मूर्तियाँ यहाँ प्रचुर संख्या में उपलब्ध होनी चाहिए थीं, परंतु हमारे अनुसंधान में वैसी मूर्तियों का अभी तक पता नहीं लगा। इसका कारण प्रायः राज्यक्रांतियाँ हो सकती हैं। इस भूमि में आज तक कई जातियाँ राज्याधिकार चला चुकी हैं। राज्यसत्ता एक वंश से दूसरे वंश में यों ही नहीं जाती। कई प्रकार के झगड़ों और घातक युद्धों के अंत में ही नई राज्य-सत्ता स्थापित हो सकती है। इस प्रकार के कष्टमय राज्यसंक्रांति-काल में प्रजा का अपने जान-माल की रक्षा के लिये इधर-उधर होना अनिवार्य हो जाता है और जिस समय प्राणों की रक्षा होनी मुश्किल हो जाती है उस समय मूर्तियों और मंदिरों की रक्षा की तो बात ही कैसी? लोग मूर्तियाँ जमीन में गाड़कर जहाँ-तहाँ भाग जाते। उनमें से जो बहुत दूर निकल जाते वे प्रायः वहीं ठहर जाते। जो निकटवर्ती होते वे शांति स्थापित होने पर फिर आ तो

जाते पर त्रास से वे भी इतने भयभीत हो जाते हैं कि उनकी मनोवृत्तियाँ स्थिर नहीं रहतीं। राज्य की तरफ से कब बखेड़ा उठेगा और कब भागना पड़ेगा, ये ही विचार उनके दिमागों में घूमते रहते हैं। परिणाम-स्वरूप भूगर्भशायी की हुई मूर्तियाँ निकालने का उत्साह नहीं होता। मूर्ति-विरोधियों की चढ़ाइयों के समय तो वे मूर्तियों को भूगर्भ में रखने में ही लाभ समझते थे। राज्य-विप्लवों की शांति और मनुष्यों की मनोवृत्तियों की स्थिरता होते होते पर्याप्त समय बीत जाता है। मूर्तियों को जमीन में सुरक्षित करनेवाले या उन स्थानों की जानकारी रखनेवाले प्रायः परलोक सिधार जाते, फलतः भावी-गृहस्थ नई मूर्तियाँ और मंदिर बनवाकर अपना भक्तिभाव सफल करते और भूमिशरण की हुई प्राचीन मूर्तियाँ सदा के लिये भूमि के उदर में ही समा जाती हैं। आज हमें अधिक प्राचीन मूर्तियाँ उपलब्ध नहीं होतीं इसका यही कारण है।

आज यदि प्राचीन स्थानों में खुदाई की जाय तो बहुत संभव है कि सैकड़ों ही नहीं, हजारों प्राचीन जैन मूर्तियाँ जमीन में से निकल सकती हैं। परंतु राज्य-सत्ता के अतिरिक्त ऐसा कर कौन सकता है? और जब तक ऐसा न हो और अधिक प्राचीन मूर्तियाँ उपलब्ध न हों तब तक हमें पिंडवाड़ा की उक्त मूर्तियों को ही मारवाड़ की सबसे प्राचीन जैन मूर्तियाँ मानना पड़ेगा।

(८) सेनापति विमल के कुटुंब की एक अप्रकट प्रशस्ति

[लेखक—मुनि श्री जयंतविजय, करांची]

विमलशाह, गुजरात के सोलंकी महाराजा **भीमदेव** (प्रथम) का बहुमान्य सेनापति था। वह **अणहिलपुर पाटण** का रहनेवाला, **पोरवाड़** जाति का और जैनधर्म का अनुयायी था। महाराजा **भीमदेव** ने उसको **आबू** की तलहटी में स्थित प्रसिद्ध **चंद्रावती** नगरी का दंडनायक (सूबा) नियुक्त किया था। उसने अपनी पिछली जिंदगी **चंद्रावती** में और **आबू** पर्वत पर **अचलगढ़** में व्यतीत की थी। उस समय श्रीमान् **धर्मघोष-सूरिजी** के सदुपदेश से उसने **अर्बुदगिरि** पर **देलपाड़ा** नामक गाँव में, अनेक कठिनाइयाँ उठाकर, करोड़ों रुपये खर्च कर,[१] दुनिया में अनुपम, कारीगरी में बेजोड़ संगमरमर का, श्री **ऋषभदेव** भगवान् का मनोहर मंदिर बनवाया था जिसकी वि० सं० १०८८ (ई० स० १०३१) में प्रतिष्ठा करवाई थी।

विमल महासेनापति बड़ा धनाढ्य और दानवीर था। करोड़ों रुपए खर्च कर **आबू** पर अद्वितीय मंदिर बनवाने पर भी इस मंदिर में अपना नाम चिरस्थायी करने के लिये एक छोटा सा भी

---

(१) जैनों में माना जाता है और कई एक ग्रंथों में भी लिखा है, कि—इस मंदिर के बनवाने में **विमल** मंत्रीश्वर ने अठारह करोड़ तिरपन लाख रुपयों का खर्च किया था। इस मंदिर के लिये ६० फुट लंबी व ६० फुट चौड़ी जमीन पर सोने के सिक्के (सोना, मोहरें) बिछाकर उसने ब्राह्मणों को दिए और जमीन खरीदी।

लेख उसने नहीं खुदवाया, जिससे मालूम होता है कि मंत्री **विमल** अपने नाम की अपेक्षा अपनी आत्मा को अमर करने की अपेक्षा अधिक रखता था।

सेनापति **विमल** के पीछे के उनके कुटुंबियों द्वारा और अन्यान्य व्यक्तियों द्वारा जुदे जुदे समय में खुदवाए हुए कुल २४९ लेख इस मंदिर में मौजूद हैं; किंतु उनमें से केवल दो ही लेख ऐसे हैं, जिनमें **विमल** सेनापति और उनके कुटुंबियों के विषय में कुछ परिचय[१] मिलता है। इन दो लेखों में से एक वि० सं० १२०१ (ई० स० ११४४) का इस मंदिर की परिक्कमा की दसवीं देहरी के द्वार के ऊपर की शिला में और दूसरा वि० सं० १३७८ (ई० स० १३२१) का परिक्कमा की सतरहवीं देवकुलिका के बाहर की दीवाल में खुदा हुआ है।

इन दो लेखों में से पिछले (सं० १३७८ के) लेख को सबसे पहले **प्रोफेसर एफ० किलहोर्न** ने "एपिग्राफिया इंडिका" के दसवें भाग में (पृ० १४८) विवेचन के साथ प्रकट किया था। इसके पश्चात् **श्री जिनविजयजी** ने स्वसंपादित "**प्राचीन जैन-लेख-संग्रह**" के दूसरे भाग में भी विवेचन के साथ इसे प्रकट किया है। परंतु पहला याने वि० सं० १२०१ का लेख, जो कि विमल मंत्रीश्वर के कुटुंबी **दशरथ** ने खुदवाया है, जहाँ तक

(१) सेनापति विमल और उसके कुटुंबियों का विशेष परिचय, नागेंद्र-गच्छीय श्रीमान् हरिभद्र सूरिजी के रचे हुए प्राकृत भाषा के "श्रीचंद्रप्रभ-चरित्र", "श्रीनेमिनाथचरित्र" और "श्रीसनत्कुमार-चक्रवर्ति-चरित्र" के अंत में दी हुई प्रशस्ति से मिलता है। विमल मंत्री के पीछे करीब चार सौ वर्षों के पश्चात् "विमल प्रबंध" और "विमल चरित्र" नामक अपभ्रंश व संस्कृत भाषा में ग्रंथ बने हैं। तत्पश्चात् 'विमल मंत्रीनो रास' और 'विमल महेतानो सलोको' आदि गुजराती भाषा में पद्य में बने हैं तथा गद्य में भी कुछ पुस्तकें लिखी गई हैं।

मेरा खयाल है अभी तक कहीं प्रकट नहीं हुआ है। इसलिये यह शिलालेख[१] इतिहास-प्रेमी पाठकों के अभिज्ञानार्थ हम यहाँ पर प्रकट करते हैं। आशा है कि इससे विमल मंत्रीश्वर के इतिहास पर थोड़ा-बहुत प्रकाश अवश्य पड़ेगा।

इस शिलालेख (प्रशस्ति) में छोटे-बड़े सुंदर विविध प्रकार के सत्रह पद्य (श्लोक) हैं, जिसमें विमल मंत्रीश्वर के पूर्वज तथा उनके (विमल मंत्री के) भाई नेढ मंत्री के, दशरथ मंत्री तक के एक शाखा के वंशजों का तथा दशरथ मंत्री ने इस देहरी का जीर्णोद्धार कराकर उसमें श्री नेमिनाथ भगवान् की मूर्त्ति विराजमान की उसका विस्तृत वर्णन दिया गया है—

यह प्रशस्ति इस प्रकार है—

(१)

भ्राजद् भास्वत्क (रक) बु रामतनुभृत्संसारभीमार्णवे,
मज्जज्जंतुसमाजतारणमहाप्रौढैकयानोपमः।
... ...
... ... श्रीनाभिसूनुर्जिनः॥

(२)

श्रीश्रीमालकुलोत्थनिर्मलतरप्राग्वाटवंशाम्बरे,
भ्राजच्छीतकरोपमो गुणनिधिः श्रीनिन्नकाख्यो गृही।

---

(१) इस शिलालेख के संबंध में "एशियाटिक रीचर्चीस" पुस्तक १६, पृष्ठ ३११ में कुछ उल्लेख है। इसका सार यह है कि "एक लेख की मिति सं० १२०१ है, किंतु उसमें से कुछ भी पढ़ा न जा सकने से यह लेख बहुत उपयोगी नहीं है" ऐसा लिखकर इस लेख का जिक्र छोड़ दिया गया है। परंतु वास्तव में यह लेख सेनापति विमल के कुटुंब का इतिहास जानने के लिये बहुत ही उपयोगी है।

आसीद् ध्वस्तसमस्तपापनिचयो वित्तो वरिष्ठाशयः,
धन्या (न्यो) 'धर्मनिबद्धसु (शु)द्धद्विषि (धिष)णः' स्वा-
म्नायलोकाग्रणीः ॥

(३)

सकलनयविधिज्ञो भावतो देव-साधु-
प्रतिदिनमतिभक्तो दानशीलो दयालुः ।
विदित जिनमतो[ऽ]लं धर्मकर्मानुरक्तो
लहर इति सुपुत्रस्तस्य जातः पवित्रः ॥

(४)

प्रावा(व्रा)जीज्जितदर्पितारिनिचयो यो जैनमार्गे परं (र)-
मार्हत्यं(नत्यं) सुविशुद्धमन्वयवशप्राप्तं समारात्य(ध्य) च।
श्रीमन्मूलनरेंद्रसंनिधिसुधानिस्फंदसंसेकित-
प्राज्ञापात्रमुदात्तदानचरितस्तत्सूनुरासीद(द्व)रः ॥

(५)

निजकुलकमलदिवाकरकल्पः सकलार्थिसार्थकल्पतरुः ।
श्रीमद्वीरमहत्तम इति यः ख्यातः क्षमावलये ॥

(६)

श्रीमन्नेढो धीधनो धीरचेता आसीन्मंत्री जैनधर्मैकनिष्ठः ।
आद्यः पुत्रस्तस्य मानी महेच्छः त्यागी भोगी बंधुपद्माकरेंदुः ॥

(७)

द्वितीयको द्वैतमतावलंबी दंडाधिपः श्रीविमलो बभूव ।
येनेदमुच्चैर्भवसिंधुसेतुकल्पं विनिर्मापितमत्र वेश्म ॥

(८)

धर्मारामभतिर्विवेकवसतिर्गांभीर्यपाथोनिधिः,
दीनानाथपरोपकारकरणव्यापारबद्धादृतिः ।

जातो लालिगसंज्ञको[ऽ]तिनिपुणः सद्धर्मलोकस्थितो

रूपन्यक्कृतपंचबाणमहिमा श्रीनेढमंत्र्यंगजः ॥

(९)

महि(हिं)दुक इतिधन्यस्तत्सुतश्चारुमूर्त्तिः

अखिलजनमनो[ऽ]लं शीलशालीनवृत्तिः(कीर्त्तिः ?)।

जिन-मुनि-पदपद्माराधनध्वस्तपापः

प्रचितगुरुगुणौघः प्रादुरासीदमात्यः ॥

(१०)

तत्पुत्रौ संजातौ पुष्पदंताविवामलौ ।

हेम-दशरथत्वेन विख्यातौ नयशालिनौ ॥

(११)

तत्राद्यो[ऽ]तिविवेकधाम सुशमी मौनींद्रधर्मा...ते (गमे ?),

जीवाजीवविचारसारनिपुणश्चारित्रिसेवापरः ।

पापानुष्ठितिभीरुरासृ(श्रि)तजनत्राणोद्यतः सर्वदा,

सारासारविवेचनातिनिपुणप्रज्ञावदाताशयः ॥

(१२)

गंभीरः सरलः क्षमी दमयुतो दाक्षिण्यपाथोनिधिः,

धीमान् धार्मिकसंमतः प्रतिदिनं सद्धर्मकर्मोद्यतः ।

विज्ञानैकनिधिर्विवेककलितः संतोषबद्धादृतिः,

अन्यः सन्नयभाजनं तदनुजो यदे (जज्ञे ?) दयालुः सुतः ॥

(१३)

निजपुत्रकलत्रसमन्वितेन संसारवासचकितेन ।

श्रीमदृषभसुमंदिरजगतीवरदेवकुलिकाया[म्] ॥

(१४)

दशरथसंज्ञेनेदं अंबासान्निध्यजातधर्मधिया ।

सकलकल्याणमालासंपत्तिविधायकं किं च ॥

(१५)

श्रीमत्यर्बुदपर्वते सुविपुले सत्तीर्थभूते जने
पृथ्वीपालवरप्रसादवशतो भव्यांगिनिस्तारकं ।
भ्रातुः स्वस्य च पुण्यसंचयकृते निःपादितं सुंदरं
श्रीमन्नेमिजिनेशबिंबममलं सल्लोचनानंदकं ॥

(१६)

विकटकुटिलदंष्ट्राभीषणास्यं कटा(डा)र-
धृतशबलसटालीभासुरं तुंगमुच्चैः ।
वहति सुतमुदारं यांकसंस्थं सदैव,
मृगपतिमधिरूढा सांबिका वोऽस्तु तुष्ट्यै ॥

(१७)

द्वादशशतात्मकेष्वेकाधिकेषु श्रीविक्रमादतीतेषु ।
ज्येष्ट(ष्ठ)प्रतिपदि शुक्के प्रतिष्ठितो नेमितीर्थंकरः ॥ १७ ॥
सं १२०१

इस प्रशस्ति का हिंदी में अनुवाद (पद्यों के अनुक्रम से)

(१)

अत्यंत देदीप्यमान एवं ओजस्वी चितकबरे वर्णवाले पचरंगी बादलों के सदृश अनित्य शरीरों से पूर्ण संसाररूपी भयंकर समुद्र में डूबते हुए प्राणियों के समूह को तारने के लिये प्रखर नौका के समान............१ ऐसे श्री ऋषभदेव भगवान् (का जयजयकार हो)।

---

(१) इस पहले श्लोक के पिछले लगभग दो पाद खंडित हैं; परंतु इस पूरे श्लोक में श्री आदीश्वर भगवान् की स्तुति ही है ऐसा स्पष्ट मालूम होता है।

(२)

श्री श्रीमाल नामक कुल में उत्पन्न होनेवाला[१] और अति निर्मल पोरवाड़वंश रूपी आकाश में—आकाश को प्रकाशित करने

---

(१) इस श्लोक के प्रथम चरण में **'श्री श्रीमालकुलोत्थ०'** है, इसकी जगह यदि **'श्री श्रीमालपुरोत्थ०'** होता तो इसका अर्थ ठीक प्रकार से संगत हो सकता था। परंतु मूल लेख में ऐसा न होने से उपर्युक्त ही अर्थ किया गया है। यदि 'कुलोत्थ' की जगह 'पुरोत्थ' होता तो उसका अर्थ इस प्रकार हो सकता था —"श्री श्रीमाल (भीनमाल) नामक नगर से उत्पन्न होने वाले अति निर्मल पोरवाड़ वंशरूपी आकाश को दीप्त करने में चंद्र समान"; अर्थात् (मारवाडांतर्गत) "भिन्नमाल नगर से पोरवाड़ जाति उत्पन्न हुई।" **कवि लावण्य समयजी ने 'विमल-प्रबंध'** में एवं **'विमल-चरित्र'** आदि ग्रंथों में भी लिखा है कि श्रीमाल-भिन्नमाल नगर से पोरवाड़ जाति की उत्पत्ति हुई; परंतु प्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता **रा० ब० म० म० गौरीशंकर हीराचंद ओझाजी** इस बात को नहीं मानते। वे मेवाड़ के **'प्राग्वाट'** नामक एक प्रांत से पोरवाड़ों की उत्पत्ति मानते हैं। यदि यह बात सत्य हो, तो फिर अवलोकन में इस श्लोक के प्रथम चरण का मैंने जो अर्थ किया है, वही कायम रखना चाहिए; किंतु यह अर्थ कायम रखने से एक शंका और उपस्थित होती है। वह यह कि एक ही व्यक्ति की **'श्री श्रीमाल एवं पोरवाड़'** ये दो जातियाँ किस प्रकार हो सकती हैं। इसका समाधान बहुत से ग्रंथकार तथा विद्वान् लोग इस प्रकार करते हैं—माता की ज्ञाति हो वह 'कुल' कहा जाता है और पिता की ज्ञाति **'वंश'** कहा जाता है। इस समाधान के अनुसार उपर्युक्त अर्थ ठीक संगत हो सकता है। अर्थात् सेठ नीना की माता श्री श्रीमाल ज्ञाति की और पिता पोरवाड़ ज्ञाति के थे। इस प्रकार मानना किसी तरह से अघटित भी नहीं है। क्योंकि उस समय जैन-धर्म माननेवाली भिन्न भिन्न जातियों में परस्पर कन्या लेने-देने की प्रथा थी। ऐसे रिवाज के लिये **'अर्बुद प्राचीन जैन लेख संदोह'** के लेखांक २६१-२६२ देखना चाहिए। पाटण, राधनपुर आदि शहरों में जैन-धर्म माननेवाली अमुक अमुक भिन्न भिन्न जातियों में अभी भी कन्याएँ लेने-देने की प्रथा है। इस पर भी यदि यह अर्थ विद्वानों को अमान्य हो तो **"श्री श्रीमालकुलोत्थ-निर्मलतरप्राग्वाटवंशांबरे"** यह पाद उपर्युक्त लेख में ठीक तरह से

में—तेजस्वी चंद्र की उपमावाला, अर्थात् पोरवाड़ ज्ञाति को दीप्त करनेवाला, गुणों का भंडार, जिसने समस्त पापों के समूह का नाश कर दिया है ऐसा, दक्ष, श्रेष्ठ आशय-विचारवाला, भाग्यशाली, जिसकी शुद्ध-निर्मल बुद्धि सदा धर्मकार्यों में तत्पर रहती है, एवं जो अपने सदाचरणों द्वारा लोक में अग्रसर बना हुआ है, ऐसा **निन्नक** (नीना) नामक गृहस्थ था।

(३)

उस (**नीना**) को समस्त प्रकार की नय-न्याय-विधि का ज्ञाता, सदा भावपूर्वक देव-गुरु की भक्ति करनेवाला, सदा दान देनेवाला, दयालु, जैनधर्म के सिद्धांतों का ज्ञाता, धर्मकार्यों में तत्पर रहनेवाला एवं अति पवित्र ऐसा **लहर** नामक पुत्र हुआ।

(४-५)

उस (लहर) को, जिसने जैन धर्म में स्वकुल-परंपरागत जैनत्व-श्रावकपन को प्राप्त करके उसका दीर्घ काल तक परिपालन करने के पश्चात् गर्विष्ठ आंतर शत्रुओं के समूह को जीतकर दीक्षा ली, तथा अणहिलपुर पाटन के महाराजा मूलराज की दृष्टिरूपी अमृत-स्रोत से[१] जिसका सिंचन हुआ, बुद्धिशाली, दानेश्वर, उदारचरित एवं श्रेष्ठ ऐसा पुत्र[२] था जो कि अपने कुलरूपी कमल को प्रफुल्लित

खुदा हुआ है, इसके वास्तविक अर्थ पर ऐतिहासिक विद्वान् प्रकाश डालेंगे, ऐसी आशा रखना अनुचित न होगा।

(१) यह मंत्रिवर, पाटन के महाराजा मूलराज का मंत्री था। इसने महाराजा मूलराज को अपनी सेवा से अत्यंत संतुष्ट किया था; अतः महाराजा मूलराज इस पर प्रेम पूर्णदृष्टि रखते थे।

(२) यहाँ मंत्री वीर को, मंत्री लहर का पुत्र कहा है; परंतु वास्तव में ऐसा नहीं है। क्योंकि मंत्री लहर ने पाटन के महाराजा वनराज चावड़ा की सेवा की है। अर्थात् वनराज के पिछले जीवन में लहर उसका मंत्री था और वीर, महाराजा मूलराज का मंत्री था। ऐसा अधिकांश ग्रंथों और

करने में सूर्य समान तथा समस्त अर्थी-याचक लोगों के लिये कल्पवृक्ष-तुल्य था और इस संसार में श्रीमान् "**वीर मंत्री**" ऐसे नाम से प्रसिद्ध हुआ था।

(६-७)

उस वीर मंत्री के; भाग्यशाली, बुद्धिरूपी धनवाला, धैर्यवान्, जैनधर्म की आराधना में तत्पर रहनेवाला, स्वाभिमानी, बड़ी बड़ी इच्छावाला, दानेश्वरी, भोगी तथा स्वकुटुंबरूपी-कमल को प्रफुल्लित करने में चंद्र-समान ऐसा मंत्री **नेढ** नामक पहला-बड़ा पुत्र था तथा जैनधर्म का आलंबन लेनेवाला, जैनधर्म का पालन करनेवाला एवं (गुजरात के) महाराजा भीमदेव (पहले) का मुख्य सेना-पति मंत्री **विमल** नामक दूसरा पुत्र था जिसने **आबू** पर्वत पर संसार-समुद्र से पार होने के लिये सेतु समान विशाल मंदिर (**विमल-वसही**) बनवाया।

(८)

उस **नेढ** मंत्री के; धर्म में रमण करनेवाला बुद्धिवाला, विवेक का स्थानभूत, गंभीरता में समुद्र समान, दीन-दुखी-अनाथ प्राणियों पर उपकार करने के कार्यों में अति प्रेम रखनेवाला,

---

लेखों से स्पष्ट मालूम होता है। इधर महाराजा वनराज चावड़ा एवं महा-राजा मूलराज सोलंकी के बीच करीब दो सौ वर्षों का अंतर है, यह बात तो प्रसिद्ध ही है। इस पर से मंत्री वीर, मंत्री लहर का खास पुत्र नहीं; किंतु उसके पश्चात् उसी के वंश में अमुक पीढ़ी में उत्पन्न अवश्य माना जा सकता है। एक व्यक्ति की दो चार पीढ़ियों के पश्चात् भी उसके वंश में जो उत्पन्न हुआ हो, उसे कदाचित् मध्य की पीढ़ियों की उपेक्षा करके प्रथम व्यक्ति का पुत्र कहना हो तो कहा जा सकता है। इसी दृष्टिसे यहाँ इस श्लोक में भी मंत्री **वीर** को मंत्री **लहर** का पुत्र कहा गया है। यह बात उपर्युक्त कथनानुसार असत्य तो नहीं है, परंतु वास्तव में मंत्री लहर के दो सौ वर्षों के पश्चात् उसी के वंश में मंत्री वीर उत्पन्न हुआ है।

अत्यंत दक्ष, श्रेष्ठ धार्मिक लोगों के सहवास में रहनेवाला एवं अपने रूप द्वारा कामदेव के रूप को भी जीतनेवाला ऐसा मंत्री **लालिग** नामक पुत्र था।

(९)

उस **लालिग** मंत्री के; भाग्यशाली, रूपवान्, समस्त मनुष्यों के हृदय को आनंद देनेवाला, सदाचार से सुशोभित कीर्त्तिवाला अथवा न्याय-नीति से शोभायमान वृत्तिवाला, जिनेश्वर भगवान् तथा साधु-मुनिराजों के चरण-कमलों की सेवा द्वारा जिसने अपने समस्त पापों को धो डाला है एवं श्रेष्ठ श्रेष्ठ गुण जिसमें कूट-कूटकर भरे हैं ऐसा मंत्री **महींदुक** नामक पुत्र था।

(१०)

उस मंत्री **महींदुक** के; सूर्य एवं चंद्र के समान अत्यंत निर्मल—पापरूपी मैल से रहित, न्याय-नीति से शोभित और अति प्रख्यात **हेमरथ** तथा **दशरथ** नामक दो पुत्र थे।

(११)

इनमें बड़ा पुत्र **हेमरथ** अत्यंत विवेक के मंदिर के समान, शांत प्रकृतियुक्त, जिनेश्वर भगवान् के आगम-सिद्धांतों में कहे हुए जीव-अजीव के सुंदर विचारों को जानने में निपुण, साधु-मुनिराजों की सेवा में तत्पर रहनेवाला, पाप व्यापार से डरनेवाला, अपने आश्रय में आए हुए मनुष्यों का रक्षण करने में सदा उद्यमवान्, और सारासार का विवेचन-पृथक्करण करने में अति निपुण बुद्धि होने से बहुत निर्मल विचारयुक्त था।

(१२)

दूसरा पुत्र मंत्री **दशरथ** भी गांभीर्यशाली, सरल प्रकृतियुक्त, क्षमाशील, इंद्रियों का दमन करनेवाला, दाक्षिण्य का समुद्र, बुद्धिशाली, सदा श्रेष्ठ धर्म-कार्यों में उद्यमशील, धार्मिक मनुष्यों से

सम्मानित, कला-कौशल्य का उत्तम खजाना, विवेकयुक्त, संतोष में प्रेम रखनेवाला, दयालु एवं श्रेष्ठ न्याय-नीति का भाजन था।

(१३-१४-१५)

संसार-रूपी कारागृह से घबराया हुआ, अंबादेवी की सहायता से जिसे धर्म करने की बुद्धि उत्पन्न हुई है*, ऐसे और अपने पुत्र-स्त्री आदि से युक्त **दशरथ** नामक मंत्री ने; अत्यंत शोभायुक्त, सुविस्तृत-विशाल एवं लोक में तीर्थस्वरूप आबू पर्वत पर आए हुए श्रीमान् ऋषभदेव भगवान् का सुंदर जिनालय—विमल वसही--की प्रदक्षिणा की श्रेष्ठ इस दसवीं देहरी में; महामंत्री पृथ्वीपाल की सुंदर प्रसन्नता-कृपा-द्वारा, अपने और अपने भाई **हेमरथ** के पुण्य-संग्रह के लिये; मनोहर, अति निर्मल, श्रेष्ठ, चक्षुओं को आनंद-दायक एवं समग्र कल्याणमालाओं की संपदा-ऋद्धि को देनेवाली ऐसी श्रीमान् नेमिनाथ भगवान् की मूर्त्ति बनवाई।

(१६)

कठिन एवं टेढ़ी डाढ़ों से भयंकर मुखवाला, पूँछ के अग्र भाग पर धारण किए हुए चितकबरे बाल की जटाओं से अत्यंत शोभित और अति उन्नत ऐसे सिंह पर बैठी हुई, तथा अपनी गोद में बैठे हुए उदार-प्यारे पुत्र को सदा अपने साथ रखती है, ऐसी श्री अंबिकादेवी तुमको संतोष अर्पण करनेवाली हो।

(१७)

विक्रम संवत् १२०१ के ज्येष्ठ मास की प्रतिपदा शुक्रवार को श्री नेमिनाथ भगवान् की मूर्त्ति की प्रतिष्ठा करवाई।

(**शुक्लपक्ष** या **कृष्णपक्ष** यह नहीं लिखा)

---

* इस पर से ज्ञात होता है कि, विमल मंत्रीश्वर के कुटुंबियों में श्री अंबिकादेवी की आराधना अधिक प्रमाण में की जाती थी। इस विमल वसही की परिक्रमा की इक्कीसवीं देहरी में अंबाजी की जो मुख्य मूर्ति है, वह भी

सेनापति विमल का वंश-वृक्ष

अणहिल्लपुर पाटन-निवासी, पोरवालज्ञातीय श्रेष्ठो—
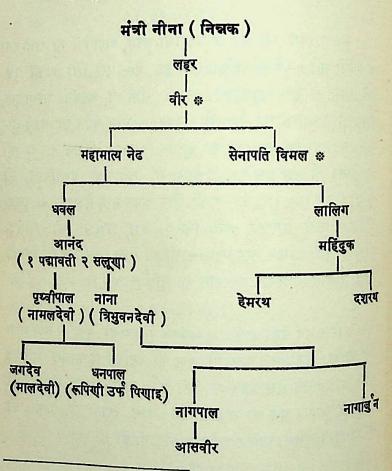
सं० १३६४ में विमल मंत्रीश्वर के कुटुंबियों ने भराई है। देखो "अर्बुद प्राचीन जैन लेख संदोह" के लेखांक ६२।

* अ० प्रा० जै० लेख संदोह के लेख ५३ में 'महं० वीर संताने' एवं ले० ६२ में 'महं० विमलान्वये' लिखकर कुछ नाम दिए हैं, अतः वे दोनों लेख भी इस कुटुंब के साथ संबंध रखते हों, ऐसा मालूम होता है। परंतु उन दोनों लेखों में मूल पुरुष से लगाकर प्रत्येक पीढ़ी के नाम नहीं दिए, इसलिये उसमें के मनुष्यों के नाम इस वंश-वृत्त में नहीं दिए गए।

(६) उर्दू की उत्पत्ति

[लेखक—श्री चंद्रबली पांडेय, एम० ए०, काशी]

नीति, प्रमाद अथवा भ्रमवश 'उर्दू' के व्यवहार को जो व्यापक रूप दिया जा रहा है उससे सत्य के क्षेत्र में कैसी धाँधली मची है, ज़रा इसे भी देख लें। शाह अब्दुल क़ादिर ने क़ुरान शरीफ़ का एक अनुवाद किया और उसकी भाषा के संबंध में लिखा—

"अब कई बातें मालूम रखिए। अव्वल यह कि इस जगह तरजुमा लफ़्ज़बलफ़्ज़ ज़रूर नहीं, क्योंकि तरकीब हिंदी तरकीब अरबी से बहुत बईद है। अगर बईना वह तरकीब रहे तो माने मफ़हूम न हों। दूसरे यह कि इसमें ज़बान रेख़ता नहीं बोली बल्कि हिंदी मुतारफ़ ता अवाम को बेतकल्लुफ़ दरियाफ़्त हो।"

शाह साहब के इस कथन पर मौलाना अब्दुल हक़ ने[१] ध्यान दिया और कहा—

"शाह साहब ने यहाँ रेख़ते और हिंदी मुतारफ़ में जो फ़र्क़ किया है वह क़ाबिल ग़ौर है। हिंदी मुतारफ़ से वही ज़बान मुराद है जिसे आजकल हिंदुस्तानी से ताबीर किया जाता है। इस तरजुमे के देखने से मालूम होगा कि हिंदुस्तानी ज़बान किसे कहते हैं।"

प्रत्यक्ष है कि मौलाना हक़ ने 'रेख़ता' को छोड़ दिया और केवल 'हिंदी मुतारफ़' की व्याख्या की। 'हिंदी मुतारफ़' का मतलब यदि हिंदुस्तानी है तो 'रेख़ता' का अर्थ उससे भिन्न होगा। यदि रेख़ता का तात्पर्य उर्दू है तो क़ुरान शरीफ़ का यह अनुवाद

---

(१) उर्दू, जनवरी सन् १९३७ ई०, पृ० १७।

'उर्दू ज़बान' का नहीं कहा जा सकता। परंतु मौलाना ने इसको 'उर्दू ज़बान' का तरजुमा कहा है और उसके लिये 'ठेठ उर्दू' का भी प्रयोग किया है। लंदन के डाक्टर बेली ने[१] भी शाह साहब के इस कथन का अवतरण दिया है और 'रेख़ता' की व्याख्या न कर 'हिंदी' को 'उर्दू' बना दिया है—

"I have not used Rekhta in my translation, but well-known Urdu that ordinary people might easily understand it."

डाक्टर साहब 'रेख़ता' का अर्थ क्या समझते हैं, यह जान लेना कठिन नहीं। उन्होंने इस शब्द की अनेक निरुक्तियों का उल्लेख किया है और मीर के प्रसिद्ध शेर "मज़बूत कैसे कैसे कहे रेख़ते वले, समझा न कोई 'मेरी* ज़बाँ इस दियार में"। का अर्थ[२] किया है—

"What fine Urdu verse I have written, but no one in these parts understands me."

कहने का तात्पर्य यह कि मौलाना हक़ तथा डाक्टर बेली दोनों ही महाशय इस रेख़ता और हिंदी मुतारफ़ की गुत्थी को सुलझाने में असमर्थ रहे हैं और 'उर्दू' शब्द की माया में फँस गए। रेख़ता और उर्दू को सामान्यत: एक ही ख़्याल किया जाता है। पर दोनों के प्रयोग तथा स्वरूप में कुछ भेद है। हम

---

(१) J. R. A. S. 1930. p. 398.

* मीर साहब का दावा था कि उनकी ज़बान वही समझ सकता है जो 'उर्दू का धनी' या जामा-मसजिद की सीढ़ियों का रोड़ा हो। इसका मुख्य कारण कदाचित् यह था कि उनकी ज़बान में वहाँ के जीते-जागते महावरे रहते थे जो लखनऊ को नसीब न थे।

(२) J. R. A. S. 1930. p. 398.

उर्दू को चाहें तो रेख़्ता कह सकते हैं। पर रेख़्ता को उर्दू कहना प्रमाद, भ्रम या अज्ञान होगा, ज्ञान कदापि नहीं। 'हिंदी' का प्रयोग फ़ारसी-अरबी के मुक़ाबिले में रेख़्ता और उर्दू के लिये भी होता रहा है, पर अब इस अर्थ में यह अधिक चालू नहीं है। फिर भी जहाँ कहीं 'रेख़्ता' या 'उर्दू' से विभेद दिखाने के लिये इसका प्रयोग किया गया है वहाँ इसका अर्थ 'रेख़्ता' या 'उर्दू' नहीं किया जा सकता, 'हिंदुस्तानी' करने में आपत्ति नहीं। हिंदुस्तानी वस्तुतः हिंदी का पर्याय है और आज बोलचाल या व्यवहार की हिंदी के लिये प्रायः प्रयुक्त भी होता है। यह हिंदुस्तानी ख़ालिस (खड़ी, ठेठ) और मुसलमानी से भिन्न एक दूसरी चीज़ है जिसमें दोनों का समन्वय है जो किताब की नहीं, लेन-देन या व्यवहार की भाषा है। इसकी जगह उर्दू को बिठा देना नादानी और बदमज़ाक़ी है, हक़ या इंसाफ़ नहीं।

हाँ, तो कहना यह था कि प्राचीन ग्रंथों पर विचार करते समय इस बात पर बराबर ध्यान रखना चाहिए कि भाषा के लिये उसमें कौन-सा शब्द प्रयुक्त है, रेख़्ता, उर्दू, हिंदी अथवा अन्य कोई पर्यायवाची या स्वतंत्र शब्द। ऐसा न करने से समीक्षा और सत्य के राज्य में बड़ी गड़बड़ी होगी और सन्नद्ध खोजक भूल-भुलैया में फँसकर व्यर्थ में सर मारेंगे। मिसाल के लिये एक दूसरा उदाहरण लीजिए। शाह साहब की तरह एक दूसरे सज्जन मौलवी मुहम्मद बाक़र[१] आगाह हैं जिन्होंने स्पष्ट लिखा है—

"और इन सब रिसालों में शायरी नहीं किया हूँ बल्कि साफ़ और सादा कहा हूँ और उर्दू के भाके में नहीं कहा क्या वास्ते कि रहनेवाले यहाँ के (दक्षिणी) इस भाके से वाक़िफ़ नहीं हैं। ऐ भाई यह रिसाले दक्खिनी ज़बान में हैं।"

(१) दकन में उर्दू सन् १९२६ ई०, पृ० ७१।

साफ़ है कि आगाह ने भी उसी तरह 'उर्दू की भाका' और 'दक्खिनी ज़बान' में भेद किया है जिस तरह शाह साहब ने 'रेख़ता' और 'हिंदी मुतारफ़' में। किंतु उनके भी समीक्षक ने उनकी पुकार की उपेक्षा कर उनकी ज़बान को 'उर्दू' बना ही दिया और किस तपाक के साथ[1] लिख दिया—

"यह सबसे पहले मुसन्निफ़ हैं जिन्होंने 'उर्दू ज़बान' में सैर, अक़ायद, फ़िक़ा की मुतद्दद किताबें तसनीफ़ कीं जैसा कि .खुद आगाह ने लिखा है।"

आगाह ने उर्दू या उर्दू भाका न लिखकर उर्दू की भाका लिखा और दक्खिनी के साथ 'की' का प्रयोग न कर केवल 'ज़बान' का प्रयोग किया। तो क्या 'उर्दू की भाका' और उर्दू ज़बान में कुछ भेद है? उर्दू ज़बान और उर्दू की ज़बान एक ही चीज़ नहीं है? निवेदन है हरगिज़ नहीं। दोनों में बड़ा अंतर है। गवाही के लिये डाक्टर बेली[2] के इस कथन पर ध्यान दीजिए—

"We must make a sharp distinction between Urdu, used by itself as a proper name, and Zabāni Urdu, for we cannot be sure that Zabāni Urdu is a name; it may be a mere description, 'the language of the army.'

और मौलाना सैयद सुलैमान नदवी[3] का यह निष्कर्ष नोट कर लीजिए—

"चुनांचः लफ़्ज़ 'उर्दू' ज़बान के मानी में, देहली के अलावा किसी सूबा की ज़बान पर इतलाक़ नहीं पाया है। मीर तक़ी

---

(१) दकन में उर्दू सन् १९२६ ई०, पृ० ६९।
(२) J. R. A. S. 1930 p. 393
(३) द्विवेदी अभिनंदन ग्रंथ, पृ० ४०९।

मीर की तहरीरी सनद में जब उसका नाम पहली दफ़ा आया है तो देहली की ज़बान के लिये आया है, मगर फिर भी वह इस्तेलाह के तौर पर नहीं, बल्कि लुग़त के तौर पर आया है; यानी मीर ने 'उर्दू ज़बान' नहीं कहा, बल्कि 'उर्दू की ज़बान' कहा है—

'रेख़्ता कि शेरेस्त बतौर शेरे फ़ारसी बज़बाने उर्दूएमुअल्ला बादशाहे हिंदोस्तान'।

यानी 'बादशाह हिंदोस्तान के कैंप या पाय:तख़्त की ज़बान'।

ऊपर के अवतरणों से इतना तो स्पष्ट हो गया कि 'उर्दू ज़बान' 'उर्दू की ज़बान' से भिन्न है। उसका वाचक नहीं, उससे न्यारी है। अब देखना यह चाहिए कि 'उर्दू की ज़बान' का इतिहास क्या है। मीर अमन[1] देहलवी का विश्वविख्यात कथन लीजिए—

"हक़ीक़त उर्दू की ज़बान की बुज़ुर्गों के मुँह से यों सुनी है कि दिल्ली शहर हिंदुओं के नज़दीक चौजुगी है। उन्हीं के राजा-प्रजा क़दीम से वहाँ रहते थे और अपनी भाखा बोलते थे। हज़ार बरस से मुसलमानों का अमल हुआ। सुल्तान महमूद ग़ज़नवी आया। फिर ग़ोरी और लोदी बादशाह हुए। इस आमदरफ़्त के बाइस कुछ ज़बानों ने हिंदू मुसलमानों की आमेज़िश पाई। आख़िर अमीर तैमूर ने, जिनके घराने में अब तक नामनिहाद सल्तनत का चला जाता है, हिंदोस्तान को लिया। उनके आने और रहने से लश्कर का बाज़ार शहर में दाख़िल हुआ। इस वास्ते शहर का बाज़ार उर्दू कहलाया। ......जब अकबर बादशाह तख़्त पर बैठे तब चारों तरफ़ के मुल्कों से सब क़ौम क़दरदानी और फ़ैज़रसानी इस ख़ांदान लासानी की सुनकर हुज़ूर में आकर जमा हुए। लेकिन हर एक की गोयाई और बोली जुदा जुदा थी। इकट्ठे होने से आपस में लेन-देन, सौदासुल्फ़, सवाल-

(१) बाग़ोबहार भूमिका, पृ० ४ (न० कि० प्रेस)।

जवाब करते-करते एक ज़बान उर्दू की मुक़र्रर हुई। जब हज़रत शाहजहाँ साहबे क़ेरान क़िला मुबारक और जामा मसजिद और शहरपनाह तामीर फ़रमाया......तब बादशाह ने ख़ुश होकर जश्न फ़रमाया और शहर को अपना दारुल्ख़िलाफ़त बनाया। तब से शाहजहानाबाद मशहूर हुआ।...और वहाँ के शहर को उर्दूए-मुअल्ला ख़िताब दिया। अमीर तैमूर के अहद से मुहम्मदशाह की बादशाहत तक, बल्कि अहमदशाह और आलमगीर सानी के वक़्त तक, पीढ़ी ब पीढ़ी सल्तनत एकसाँ चली आई। निदान ज़बान उर्दू की मँजते मँजते ऐसी मँजी कि किसी शहर की बोली उससे टक्कर नहीं खाती।"

मीर अमन की इस 'हक़ीक़त' पर बहस करने की ज़रूरत नहीं। यह उनकी खोज नहीं, बुज़ुर्गों की कहानी है। इसका मतलब इतना जान लीजिए कि उस समय 'उर्दू की ज़बान' की रामकहानी क्या थी और किस रूप में देहली के लोग उसे समझते थे। हम जिस बात पर ज़ोर देना चाहते हैं वह कहानी नहीं 'उर्दू की ज़बान' का प्रयोग है। 'उर्दू की ज़बान' 'उर्दू ज़बान' से जुदा है या नहीं? यदि अलग है तो मीर अमन का यह कथन 'उर्दू' की हक़ीक़त पर नहीं लागू हो सकता। उसकी असलियत का पता लगाना चाहिए। सुनिए सैयद इंशा[१] अल्लाह क्या फ़रमाते हैं।

"हरचंद कि लाहौर व मुल्तान व अकबराबाद व इलाहाबाद हम मस्कन बादशाहान साहब क़ुदरत व शौकत बूदः व इमारत बलंद सर बफ़लक रसानीदः दरीं शहर हा मौजूद अस्त लेकिन बराबर नमी तवाँ गुफ़्त। जेराकि दरीं जा सलातीन आली मक़ाम ज़्यादः अज़ जाहाय दीगर तशरीफ़ दाश्तः अंद। ख़ुशबयानान आँजा मुत्तफ़िक़ शुदः अज़ ज़बानहाय मुतद्दिद अल्फ़ाज़ दिलचस्प

(१) दरिया-ए-लताफ़त, आरंभ पृ० १, २।

जुदा नमूद: व दर बाज़े इबारात व अल्फ़ाज़ तसर्रुफ़ बकारबुर्द: ज़बाने ताज़: सिवाय ज़बानहाय दीगर बहम रसानीदंद व बउर्दू मौसूम साख़तंद ।"

देखा आपने, सैयद इंशा साफ़ साफ़ कहते हैं कि लाहौर, मुल्तान, आगरा, इलाहाबाद की वह प्रतिष्ठा नहीं है जो शाहजहानाबाद या दिल्ली की है। इसी शाहजहानाबाद में उर्दू का जन्म हुआ है, कुछ मुल्तान, लाहौर या आगरा में नहीं। उर्दू की जन्म-कथा यह है—

"शाहजहानाबाद में ख़ुशबयान लोगों ने एकमत होकर अन्य अनेक भाषाओं से दिलचस्प शब्दों को जुदा किया और कुछ शब्दों तथा वाक्यों में हेर-फेर करके दूसरी भाषाओं से भिन्न एक अलग नई भाषा ईजाद की और उसका नाम उर्दू रख दिया।"

इंशा के इस कथन पर विचार करना चाहिए और यह स्पष्ट कर देना चाहिए कि उर्दू की उत्पत्ति के लिये लाहौर, मुल्तान या सिंध जाने की ज़रूरत नहीं; दिल्ली की ख़ाक छानने की फ़ुरसत चाहिए। इंशा के 'ख़ुशबयानान' को लीजिए और ग़ौर से देखिए कि इसमें कौन से लोग शामिल हैं। हिंदू लोगों को भी कभी कभी अपने कलाम पर नाज़ होता है और कभी कभी कोई साहब इस ताज़: 'ज़बान' को अपनी 'मादरी ज़बान' भी कह जाते हैं। उनका गुमान होगा कि उनके भी बाप-दादे 'ख़ुशबयान' गिने गए होंगे। पर सैयद इंशा का[१] साफ़ फ़तवा है—

"बुद्धिमानों से यह बात छिपी नहीं है कि हिंदुओं ने बोल-चाल, चालढाल, खाना और पहनना इन सब बातों का सलीक़ा मुसलमानों से सीखा है।"

---

(१) दरिया-ए-लताफ़त, दुरदान-ए-दोम पृ० ६। (हिंदी, उर्दू और हिंदुस्तानी पृ० ४५)

पाठक हैरान न हों। यह इंशा का निजी ख़याल नहीं है। अभी उस दिन मुसलिम संस्कृति के एक उदार तथा प्रकांड पंडित[1] ने कहा है—

"खाना किस मुल्क में पकाया और नहीं खाया जाता, मगर हिंदोस्तान की क़नाअतपसंद तबीयत मिट्टी की हाँडियों और केले के पत्तों से आगे नहीं* बढ़ी।......मुसलमानों ने जब यहाँ क़दम रखा तो अपने पूरे तमद्दुन व मुआशिरत, साज़ वो सामान और अपनी इस्तलाहात वो ईजादात को लेकर यहाँ वारिद हुए और इन सब के लिये नाम वो इस्तलाहात वो अल्फ़ाज़ भी अपने साथ लाए। और चूँकि यह हिंदोस्तान में बिल्कुल नई चीज़ें थीं इसलिये हिंदोस्तान की बोलियों में इनके मरादफ़ात की तलाश बेकार थी, और वही अल्फ़ाज़ हिंदुस्तान में रायज हो गए।"

हम उन चीजों के ब्योरे में समय बिताना व्यर्थ समझते हैं। केवल इतना भर निवेदन कर देना चाहते हैं कि हम आज भी वही

(१) अलीगढ़ मैगज़ीन सन् १६३५ ई०।

* शब्दों में राष्ट्र का सच्चा इतिहास छिपा होता है। उनके जीते जी राष्ट्र मर नहीं सकता। यही कारण है कि विजित जातियों के शब्दों तथा भाषाओं के मारने की पूरी चेष्टा की जाती है और उन पर अपनी निजी भाषा की छाप लगाई जाती है। इससे नीतिकारों को सफलता तो मिल जाती है पर सत्य-निष्ठों का सर्वस्व छिन जाता है। घोर अंधकार में उनकी प्रतिभा ठोकरें खाती और भ्रमजाल में फँसकर कलपती रह जाती है। ठीक यही दशा इस दावे में है। माना कि देग, देगची, प्याल: और बावरची मुसलमानों के साथ आए। पर बटलोई, बटुला; कटोरा, लोटा और हंडा का टवर्ग कहाँ से आया? अरबी, फ़ारसी या तुर्की से? करें क्या सूपक या सूपकार (सुआर) भी तो बहुत पुराना है। 'मिट्टी से आगे', कहाँ, तक आगे बढ़ी थी इसके लिये यह श्लोक पर्याप्त है। इसमें शुद्धि का भी विधान है।

अंभसा हेमरौप्यायःकांस्यं शुद्ध्यति भस्मना।
अम्लैस्ताम्रं च रैत्यं च पुनःपाकेन मृण्मयम्॥

गिने जाते हैं जो सैयद इंशा के ज़माने में गिने जाते थे। पस किसी बात में भी हमारा विश्वास नहीं किया जा सकता। 'उदू' तो एक नायाब चीज़ है और 'यारों' को भी 'आते आते' आती है। तभी तो दाग़ चेतावनी देते हैं—

"नहीं खेल है दाग़ यारों से कह दो ;
कि आती है उदू ज़बाँ आते आते।"

हाँ, तो सैयद इंशा[1] का फ़तवा है—

"किसी भी बात में इनका क़ौल-फ़ेल ऐतबार के क़ाबिल नहीं है।"

किनका ? उन्हीं हिंदुओं का जिनकी यह ज़बान साबित की जा रही है; और सात समुद्र पार से इसके लिये मसाला जुटाया जा रहा है। ख़ैर देखते रहिए। समय का फेर है। सैयद इंशा[2] ने मेहरबानी करके इतना बता दिया है कि—

"मुस्तनद और सही उदू उसी की मानी जायगी जो 'नजीब (कुलीन) होगा।' जिसके माँ-बाप दोनों दिल्ली के बाशिंदे हों, उसी का शुमार फ़सीहों में होगा।"

यदि इतनी ही क़ैद होती तो भी ग़नीमत थी। बहुत से 'नजीब' निकल आते। पर इंशा[2] तो साफ़ साफ़ कह देते हैं—

"देहली में भी हर किसी के हिस्से में फ़साहत नहीं है, चंद चुने हुए आदमियों को ही नसीब हुई है।"

मतलब यह कि जो 'ताज़ः ज़बान' रची गई उसके धनी हम-आप हो नहीं सकते। याद रहे, ख़ुद इंशा भी न हो सके। कारण ? क्या आप नहीं जानते कि कभी कभी वे 'हिंदवी छुट' और 'भाका' के फेर में पड़ जाते थे और उसके 'नाक़िस और सक़ील'

---

(१) दरिया-ए-लताफ़त, दुरदान-ए-दोम पृ० ६।
हिंदी, उदू और हिंदुस्तानी पृ० ४५।
(२) हिंदी, उदू और हिंदुस्तानी पृ० १२।

शब्दों के बोझ से उर्दू को लद्दू बना देते थे जिससे उर्दू के राज्य में तहलका मच जाता था। ख़ैर, ख़ुदा ख़ुश रखे उन नाज़बरदारों को जो उर्दू को मुहफ़िल से निकालकर जनता की चीज़ बनाना चाहते हैं और बात की बात में आमफ़हम और आमपसंद कर देना चाहते हैं। हालाँकि आज भी जनता आम का अर्थ आम ही समझती है; फ़हम तो कभी भी उसके लिये आमफ़हम नहीं हो सकता।

ख़ुशबयान लोगों ने किस ज़बान पर से ताज़: ज़बान या उर्दू की ईजाद की। इसका जान लेना कठिन नहीं। शाह[1] हातिम, जो सैयद इंशा से पुराने सौदा के उस्ताद थे, दीवानज़ादे के दीबाचे में लिखते हैं—

"व रोज़मर्र: देहली कि मिरज़ायाने हिंद व फ़सीह गोयाने रंद दर मुहावर: दारंद मंज़ूर दानिस्त:।"

इसके आगे जो कुछ और फ़रमाते हैं उसे वज्र की लेखनी से लिखकर ज़ेहन पर नोट कर लें। उनका दावा है—

"सिवाय आँ, ज़बान हर दयार, ता बहिंदवी, कि आँ रा भाका गोयंद मौक़ूफ़ नमूद: फ़क़त रोज़मर्र: कि आमफ़हम व ख़ासपसंद बूद:, एख़्तियार करद:।"

शाह हातिम ने हिंद के मिरज़ाओं और फ़सीह वक्ताओं को लिया था। सैयद इंशा ने दोनों की जगह 'ख़ुशबयानान' को दे दी। होना भी यही था। शाह हातिम के समय सन् १७५५ ई० में दिल्ली दरबार की कुछ प्रतिष्ठा थी, इसलिये मिरज़ा लोगों को जगह मिल गई। इंशा के सामने दिल्ली का दरबार नहीं लखनऊ की मजलिस थी। फिर उन्हें मिरज़ा लोग कहाँ दिखाई पड़ते? ध्यान देने की बात यह है कि जिसे आज आमफ़हम और आमपसंद या

(१) हिंदुस्तानी, जुलाई सन् १९३२ पृ० ३२७।

बोलचाल की भाषा कहते हैं उसका मूलरूप भी आमपसंद न था। शाह हातिम ने उसे ख़ासपसंद कहा है और इस बात की स्पष्ट घोषणा कर दी है कि वह 'देहलवी' नहीं, देहली के कुछ इने गिने फ़सीहों और दरबारियों की ज़बान है। उसमें से आसपास की ज़बान और भाका को निकाल फेंका है। बस सिर्फ़ शिष्टों की वाणी को रख लिया है जिसे समझ तो और लोग भी लेते हैं पर पसंद कुछ चुने हुए लोग ही करते हैं। गर्भ की उर्दू यानी उर्दू-ए-मुअल्ला की आमपसंद या हमारी देशभाषा पर यह पहली चढ़ाई है जिसे उर्दू वाले 'तराश-ख़राश' और न जाने कितने मीठे और भड़कीले नामों से याद करते हैं। क्या आप यह जानना चाहते हैं कि उसी समय भाषावाले किस ओर जा रहे थे? उनकी भी सुन लीजिए। भिखारीदास[1] हिंदी भाषा के कवि तथा आचार्य थे। उनका आदेश है—

ब्रजभाषा भाषा रुचिर कहै सुमति सब कोय।
मिलै संस्कृत पारस्यौ पै अति प्रगट जु होय॥
ब्रज मागधी मिलै अमर नाग यवन भाखानि।
सहज पारसी हू मिलै षट विधि कहत बखानि॥

यह है हमारा आदर्श और यह है हमारे आचार्य का आदेश। यह आदेश हमें सन् १७४६ ई० में मिला था। हमारी इस उदारता, इस सदाशयता का जवाब मिलता है यह नहीं कि 'मिलै संस्कृत हिंदियौ पै अति प्रगट जु होय' बल्कि ठीक इसके उलटे। ज़रा सुन तो लीजिए—

"सिवाय आँ, ज़बान हर दयार, ता बहिन्दवी, कि आँ रा भाका गोयंद मौकूफ़ नमूदः।"

---

(१) काव्यनिर्णय, भाषा-लक्षण।

अच्छा, कर ले चलो, देखें हिंद में रहकर हिंदवी को कहाँ तक मौकूफ़ और मतरुक करते हो। कभी तो गुमराही से ठोकर खाकर राह रास्त पर आओगे और अपने चेहरे का बदनुमा दाग़ छुड़ाओगे। आमीन।

शाह हातिम के दीवानज़ादे की ज़बान को जान-बूझकर हमने गर्भ की उर्दू कहा है। कारण, उर्दू अभी पैदा नहीं हुई थी। ज़बान में काफ़ी हिंदवीपन था। उसके रहते हुए उर्दू का नाज़िल होना दुशवार था। हातिम की ज़बान कुछ चुने हुए लोगों की ज़बान थी। उनके मुँह से कभी कभी हिंदी शब्द निकल पड़ते थे और ज़बान को गँवारी बना देते। निदान ज़बान पर फ़ारसी का गहरा रंग चढ़ाया जाना शुरू हुआ। यह मर्ज़ यहाँ तक बढ़ा कि सौदा को, जिन्हें कुछ भाका से प्रेम था, खला और उन्होंने मज़हर वग़ैरह को टोका। उनसे पहले ही शाह मुबारक आबरू ने एक नसीहत की थी लेकिन यारों ने उस पर अमल करना गुनाह समझा। नसीहत यह थी—

वक़्त जिनका रेख़्ते की शायरी में सर्फ़ है
उन सते कहता हूँ बूझो हर्फ़ मेरा ज़र्फ़ है।
जो कि लाए रेख़्ते में फ़ारसी के फ़ेल व हर्फ़
लग़ो हैंगे फ़ेल, उसके रेख़्ते में हर्फ़ है।

सौदा मामूली आदमी नहीं थे। बदगुमानों की अच्छी तरह मरम्मत कर सकते थे। उन्होंने मियाँ मज़हर पर यह फबती कसी—

मज़हर का शेर फ़ारसी और रेख़्ते के बीच,
सौदा यक़ीन जान कि रोड़ा है बाट का।
आगाह फ़ारसी तो कहें उसको रेख़्ता,
वाक़िफ़ जो रेख़्ते के ज़रा होवे ठाट का।

सुनकर वह यह कहे कि नहीं रेख़ता है यह,
और रेख़ता भी है तो फ़ीरोज़शाह की लाट का।

सौदा को इतने ही से संतोष नहीं होता। उनको संक्षेप में कहना पड़ता है—

अल्क़िस्सा इसका हाल यही है जो सच कहूँ,
कुत्ता है धोबी का कि न घर का न घाट का।

यक़ीन रहे यदि सौदा आज होते तो आज की ज़बान को इससे कुछ अच्छा न कहते। शायद उसे चमगादड़ बना देते।

नतीजा इसका यह हुआ कि लोग कुछ सावधान हुए। सोच-समझकर फ़ारसी का मग़ज़ गुह्य रूप में भरने लगे। मीर तक़ी मीर पहले तो तनते रहे और हिंदीपन की दाद भी देते रहे; पर अंत में उन्हें भी लखनऊ की मजलिस में शरीक होना पड़ा। एक दिन था मीर साहब साफ़ साफ़ फटकारकर हिंदी ज़बाँ की दाद दे सकते थे और कह सकते थे—

क्या जानूँ लोग कहते हैं किसको सरूरे-क़ल्ब,
आया नहीं है लफ़्ज़ यह हिंदी ज़बाँ के बीच।

किंतु यह रंग अधिक दिन तक न जमा। उन्हें भी अपने ख़्याल को फ़ारसियत का जामा पहनाना पड़ा और तब फिर मीर ही मीर हो पाए। फ़रमाते और कुढ़कर फ़रमाते हैं—

तबीयत से जो फ़ारसी के मैंने हिंदी शेर कहे,
सारे तुरुक बच्चे ज़ालिम अब पढ़ते हैं ईरान के बीच।

एक दूसरे सज्जन मुरादशाह (मृ० १८३५ ई०) कितनी सच्ची और खरी बात कहते हैं—

नहीं हिंदी स.ख़ुन में नुक़्स मुमकिन, लताफ़त है बहुत सी इसमें लेकिन।
न शायर हिंद के यों फ़िलहक़ीक़त, गए ले .फ़ुर्स के मज़मूँ प सबक़त।

झिँझोड़ा फ़ारसी के उस्तख़्वाँ को, किया पुरमग़्ज़ तब हिंदी ज़बाँ को।
फ़साहत फ़ारसी से जब निकालो, लताफ़त शेर में हिंदी के डालो।

सारांश यह कि फ़ारसी का दख़ल और भाषा का बहिष्कार हो जाने पर 'हिंदी ज़बाँ' मक़बूल हुई।

गर्भ की उर्दू का जात-कर्म हो गया। अब उसके नामकरण पर थोड़ा सा विचार होना चाहिए। मौलाना सैयद[1] सुलैमान नदवी का निष्कर्ष है—

"कुछ लोग हैं जो यह कहते हैं (बदक़िस्मती से कुछ नावा-क़िफ़ लोगों ने इसकी तसदीक़ भी कर दी है) कि इस ज़बान का नाम उर्दू इसलिये पड़ा कि यह मुसलमानों के फ़ातह लश्करों में पैदा हुई। क्या यह लोग मुझे कोई तारीख़ की किताब, कोई रोज़नामचा या तज़किरा छठी सदी हिजरी से लेकर तेरहवीं सदी हिजरी तक का दिखा देंगे जिसमें यह ज़बान उर्दू के नाम से लिखी गई हो?...हक़ीक़त यह है कि उर्दू का नाम तेरहवीं सदी हिजरी में एकाएक आ गया।"

किस प्रकार एकाएक आ गया, इसके पहले कहीं मौखिक ही सही, प्रयोग में था अथवा नहीं, आदि प्रश्न भी विचारणीय हैं। डाक्टर बेली[2] ने इस पर कुछ विवाद भी किया है और यह अनुमान किया है कि संभव है कि उर्दू शब्द मौखिक रूप में प्रयुक्त होता रहा हो। परंतु यह उनका शुद्ध भ्रम है। इस भ्रम का प्रधान कारण है उर्दू को लश्करी भाषा समझ लेना। यदि सच पूछिए तो 'उर्दू' का नामकरण न तो उर्दू (लश्कर) के कारण

---

(१) हिंदुस्तानी, जनवरी सन् १९३६ ई०, पृ० १७ सच्चिदानंद सिनहा के व्याख्यान में 'फ़िक्र बालिग़' से अवतरित।

(२) J. R. A. S. 1930 p. 395-6

हुआ है और न अरबी-फ़ारसी और भाषा के मेल* के कारण। उसका वास्तविक संबंध उर्दू-ए-मुअल्ला के उर्दू से है न कि सीधे तुर्की उर्दू शब्द से। यही कारण है कि उर्दू का प्रयोग उर्दू-ए-मुअल्ला के बाद मिलता है और परंपरा में उसका शाहजहानाबाद या शाहजहाँ से संबंध जोड़ा जाता है। उर्दू-ए-मुअल्ला यद्यपि शाही शिबिर या राजधानी का वाचक है तथापि उसका प्रयोग शाहजहाँ की शाहजहानाबादी राजधानी या लाल क़िला के लिये रूढ़ हो गया है। दिल्ली में लाल क़िला यानी दरबार और जामा मसजिद यानी मज़हबी मकतब या अदबिस्तान, ज़बान की टकसाल थे और किसी कदर आज भी हैं। मीर साहब जामा मसजिद की सीढ़ियों को बहुत महत्त्व देते थे। दरबारगीरी उनकी मौज के माफ़िक़ कब हो सकती थी। मतलब यह कि उर्दू के नाम पर विचार करने के लिये लाहौर, ग़ज़नी या मुल्तान जाने की ज़रूरत नहीं, घर बैठे उसका पता लगाया जा सकता है; और साफ़ साफ़ कहा जा सकता है कि जो दिल्ली में उर्दू-ए-मुअल्ला या उर्दू की ज़बान थी वही लखनऊ में पहुँचकर 'उर्दू' बन गई और उर्दू-ए-मुअल्ला से हल्की होकर लखनऊ

---

* इस मेल की बार बार दुहाई दी गई है और उर्दू की यह ख़ास ख़ूबी साबित की गई है। इस बात पर तनिक भी ध्यान नहीं दिया गया है कि मिली-जुली भाषा का नाम 'उर्दू' नहीं बल्कि रेख़ता है। इस रेख़ता का तुर्की शब्द उर्दू यानी लश्कर से कोई संबंध नहीं। संगीत और काव्य प्रेमियों ने 'रेख़ता' को ईजाद किया है, कुछ लश्करी या छावनी के लोगों ने नहीं। हिंदी भाषा में फ़ारसी-अरबी शब्दों का प्रयोग बराबर पाया जाता है। भाषा में फ़ारसी-अरबी या मुसलमानी शब्दों के मिल जाने से उर्दू नहीं बनी। आज तक कोई भी भाषा इस प्रकार नहीं बनी है। उर्दू किस प्रकार बनी इसका कुछ पता इसी लेख से चल जायगा। शेष के लिये फिर कभी देखा जायगा।

की मजलिस में भटकने लगी। मुसहफ़ी और इंशा में जो मुहफ़िली दंगल हुआ था उसमें इंशा ने मुसहफ़ी की ज़बान पकड़-कर पूछा था—

मुश्फ़िक़ कड़ी कमान के कड़री न बोलिए,
चिल्ला के मुफ़्त तीर मलामत न खाइए।
उर्दू की बोली है यह ? भला खाइए क़सम,
इस बात पर अब आपही मसहफ़ उठाइए।

कहने का तात्पर्य यह है कि सहूलियत के लिये उर्दू-ए-मुअल्ला की जगह उर्दू का प्रचलन हुआ और लोग सुभीते के लिये ज़बान-ए-उर्दू-ए-मुअल्ला को ज़बान-ए-उर्दू कहने लगे। 'ज़बान उर्दू' तब तक जारी रहा जब तक उर्दू उर्दू की ज़बान समझी जाती थी। शीघ्र ही वह समय भी आ गया कि उर्दू की ज़बान का उर्दू की बोली से बिल्कुल नाता टूट गया और वह स्वतंत्र बनावटी बोली या मजलिसी ज़बान बन गई—तब जाके उसका नाम केवल उर्दू क़रार पाया। यह वही उर्दू ज़बान है जो उर्दू की ज़बान पर भी हावी हो गई है और आप से बरहमन लिखाना चाहती है, ब्राह्मण बाम्हन या बाभन नहीं; क्योंकि पहला संस्कृत और दूसरा गँवारू है। याद रहे मीर अमन देहलवी ने 'उर्दू की ज़बान' में 'बाम्हन' शब्द का प्रयोग किया है, बरहमन का नहीं जो वास्तव में ब्राह्मण का भ्रष्ट रूप है, शिष्ट नहीं।

हाँ, तो हमें उसी उर्दू का पता लगाना है जिसकी चर्चा अभी अभी ऊपर हुई है। डाक्टर बेली[१] की धारणा है कि उर्दू का, भाषा के निश्चित अर्थ में सबसे पुराना प्रयोग मुसहफ़ी (मृ० १८२४ ई०) का है। मुसहफ़ी का शेर है—

(१) J. R. A. S. 1930—पृ० ३६३।

.खुदा रक्खे ज़बाँ हमने सुनी है मीर वो मिरज़ा की;
कहें किस मुँह से हम ऐ 'मुसहफ़ी' उर्दू हमारी है।

मुसहफ़ी के शेर से उसकी तिथि का ठीक ठीक पता नहीं लगता; लेकिन समझ यह पड़ता है कि मीर और सौदा के निधन के बाद ही कभी यह शेर कहा गया होगा। मीर साहब तो सौदा के बाद भी जीते रहे और अपने कलाम से लोगों को मग्न करते रहे। उनके निधन की तिथि निश्चित नहीं है। डाक्टर बेली[1] ने सन् १७६६ ई० को ठीक माना है। यदि यह ठीक है तो मुसहफ़ी का यह शेर १७६६ के बाद की रचना है। इस प्रकार इसका काल सन् १७६० न होकर १८०० या इससे भी बाद में ठहरता है। मौलाना सैयद[2] सुलैमान साहब ने भो उर्दू के प्रयोग के विषय में लिखा है—

"तज़किर: मख़ज़न उलूग़ण्यब में जो सन् १२१८ हि० (१८०३ ई०) की तालीफ़ है, मिरजा मज़हर जानजाना के हाल में लिखा है—

'दर ज़बाने हिंदी कि मुराद उर्दू अस्त।'...फ़ोर्ट विलियम कालेज की तसनीफ़ात में यह लफ़्ज़ ज़बान के मानों में आम तौर से बोला गया है। इन हवालों से ज़ाहिर होता है कि उर्दू ज़बान के नाम के तौर पर आज से सिर्फ़ डेढ़ सौ बरस पहले की ईजाद है।"

फ़ोर्ट विलियम कालेज पर उर्दू वालों ने धावा बोल दिया है और कुछ लोग उसके मुंशियों की रूह तक की .खूब ख़बर ले रहे हैं। चुनांच मौलाना हक़[3] फ़रमाते हैं—

"फ़ोर्ट विलियम कालेज के मुंशियों ने (.खुदा उनकी अरवाह को शरमाए) बैठे बिठाए बिला वजह और बग़ैर ज़रूरत यह शोश:

---

(१) J. R. A. S. 1930–पृ० ३६५?
(२) अलीगढ़ मैगज़ीन, सन् १६३५ ई०?
(३) उर्दू, अप्रैल सन् १६३७, पृ० ३८३।

छोड़ा। लल्लूजी लाल ने जो उर्दू के ज़बाँदाँ और उर्दू किताबों के मुसन्निफ़ भी थे, इसकी बिना डाली। वह इस तरह कि उर्दू की बाज़ किताबें लेकर उन्होंने उनमें से अरबी, फ़ारसी लफ़्ज़ चुन चुनकर अलग निकाल दिए और उनकी जगह संस्कृत और हिंदी के नामानूस लफ़्ज़ जमा दिए, लीजिए हिंदी बन गई।"

इच्छा तो नहीं थी कि इस प्रकार की हवाई और बे सिर-पैर की बातों पर विचार करें, पर जब देखते हैं कि मौलाना हक़ का इलहाम उनके चेलों के लिये आप्त वाक्य क्या विधि-विधान बन जाता है तब इसकी अवहेलना भी नहीं हो सकती। कहने की ज़रूरत नहीं कि मौलाना हक़ उर्दू के विधाता, कर्णधार और आचार्य हैं। उनके सामने 'अरबाब नसर उर्दू' के ग़रीब लेखक सैयद मुहम्मद[1] क़ादिरी की चल नहीं सकती। फिर भी उनकी राय देख लें—

"लेकिन वह (लल्लूजी लाल) कालेज के दूसरे मुंशियों को हिंदी किताबों के तर्जुमा करने में बड़ी मदद देते रहे और कालेज की सरपरस्ती में बाज़ उम्दः हिंदी किताबों का उर्दू में तर्जुमा कराया। उनकी हिंदी तहरीर भी निहायत साफ़ व शुस्त: थी। अगर उसको फ़ारसी रस्मुलख़त में लिखा जाए तो उसको उर्दू-तहरीर ही कहा जाएगा। इसमें संस्कृत के सक़ील और ग़ैरमानूस अल्फ़ाज़ की बेजा भरमार नहीं है।"

बड़ी कृपा क्या, ऐन इनायत होगी यदि मौलाना हक़ उन उर्दू किताबों का पता बता दें जिनसे लल्लूजी लाल ने अरबी-फ़ारसी लफ़्ज़ निकालकर, उनकी जगह संस्कृत और हिंदी के नामानूस लफ़्ज़ जमाकर प्रेमसागर की रचना कर ली। मौलाना हक़ को पता होना चाहिए कि जब साहिब[2] ने लल्लूजी से कहा कि—

(१) अरबाब नसर उर्दू पृ० २५० (हैदराबाद)
(२) लालचंद्रिका—'कवि-परिचय'।

"ब्रजभाषा में कोई अच्छी कहानी हो, उसे रेख़ते की बोली में कहो।"

तब उन्होंने कहा कि—

"बहुत अच्छा, पर इसके लिये कोई पारसी लिखनेवाला दीजे तो भली भाँति लिखी जाय।"

अब तो स्पष्ट हो गया कि मौलाना हक़ जिसे उर्दू का ज़बाँदाँ समझे बैठे हैं वह बिना किसी फ़ारसीवाले की सहायता के उर्दू की कौन कहे, रेख़ते की बोली में भी नहीं लिख सकता था यद्यपि वह मकसूदाबाद में नवाब मुबारक दौला के यहाँ सात वर्ष रह चुका था। इसका एकमात्र कारण यही है कि मौलाना हक़ तथा उनके हमजोलियों को उर्दू की हक़ीक़त का ठीक ठीक पता नहीं है और 'बिला वजह बग़ैर ज़रूरत' इस तरह 'आँधर कूकुर बतासै भूँकै' को चरितार्थ कर रहे हैं। फ़ोर्ट विलियम कालेज के मुंशियों से हिदायत की जाती है कि किताबी, मजलिसी या दरबारी उर्दू की ज़रूरत नहीं है 'ठेठ हिंदुस्तानी', 'खड़ी बोली', 'सलीस रवाजी रेख़ता', 'अपनी ज़बान के मुवाफ़िक़' यहाँ तक कि 'हिंदी*-रेख़ता' में लिखना शुरू करो। इसी से साहबों का काम चलेगा।

---

* 'हिंदी रेख़ता' का प्रयोग विशेष महत्त्व रखता है और बहुत कुछ महात्मा गांधी के 'हिंदी-हिंदुस्तानी' प्रयोग को स्पष्ट करता है। जिस प्रकार आज हिंदुस्तानी, हिंदी और उर्दू के बीच की चीज़ समझी जाती है उसी प्रकार उस समय रेख़ता बीच की भाषा समझी जाती थी। व्यवहार में जैसे हिंदुस्तानी उर्दू का काम करती है और उसी का साथ देती है वैसे ही रेख़ता उर्दू का साथ देती थी। मतलब यह कि हिंदुस्तानी और रेख़ता उर्दू के ही कुछ हल्के या भ्रामक नाम हो गए हैं। इसी लिये राष्ट्रभाषा के उक्त उपासक उनके पहले 'हिंदी' की क़ैद लगाते हैं जिसका सीधा-सादा अर्थ है कि वे हिंदियत को क़ायम रखना चाहते हैं। उर्दू की तरह छोड़ना नहीं।

गद्य लिखने का अभ्यास किसी को न था, पर लिखा सबने। लल्लूजी लाल और मीर अमन को जो ख्याति मिली वह और किसी को नसीब न हुई। कारण प्रत्यक्ष है। लल्लूजी लाल ने 'दिल्ली आगरे की[1] खड़ी बोली' में लिखा और मीर अमन ने उर्दू-ए-मुअल्ला की ठेठ[2] उर्दू की ज़बान में। मीर अमन ने भी बोल-चाल में लिखा तो सही मगर उनकी सीमा संकुचित थी। सिर्फ़ उर्दू-ए-मुअल्ला को ही उन्होंने अपना देश बनाया था। लल्लूजी लाल का देश उनके देश से कहीं बड़ा और विस्तृत था। उसमें दिल्ली और आगरे का समूचा नगर था। लल्लूजी लाल एक में अनेक का विधान कर गए और लोग इसी लिये उन्हें दोषी ठहराने लगे। ख़ैर, इस प्रसंग को यहीं छोड़िए और देखिए कि स्वयं गिलक्रिस्ट, जो उक्त कालेज के (सन् १८०० से १८०४ ई० तक) हिंदी-अध्यापक और फ़ारसी के भी शिक्षक थे, उर्दू के विषय में क्या कहते हैं। क्या उसे देशभाषा या मुल्की या अदबी ज़बान मानते हैं? या यों ही यार लोग दून की ले रहे हैं और प्रोपोगंडा के बल पर हिंदी को हज़म कर देना चाहते हैं। शाह हातिम (मृ० १७९२ ई०) की घोषणा को सामने रखकर गिलक्रिस्ट[3] साहब के इस घोर विषाद पर ध्यान दीजिए और देखिए कि 'उर्दू' की हैसियत क्या है—

"I very much regret that along with the Brij Bhasha, the Khuree Boli was omitted since this particular idiom or style of the Hindoostanee would have proved highly useful to the students of that language."

---

(१) प्रेमसागर की भूमिका।
(२) बाग़ोबहार का दीबाचा।
(३) Bulletin, S.O.S. London 1936 p. 366.
The Oriental Fabulist, 1803 p. 5.

साथ ही इसे[1] भी नोट करें कि—

The Prem Sagur, a very entertaining book, rendered with elegance and fidelity from the Brij Bhasha into the Khuree Boli by Laloojee Lal expressly to effect the grand object of teaching our scholars the Hindoostanee, in its mos extended sense; and with proper advantages among the grand Hindoo mass of the people at large in British India."

गिलक्रिस्ट के इस कथन से स्पष्ट है कि उस समय प्रेमसागर की रचना इसलिये की गई थी कि सरकारी साहबों को व्यापक रूप में हिंदुस्तानी की शिक्षा मिले न कि उर्दू का विरोध करने के लिये। याद रहे, गिलक्रिस्ट ने उर्दू को दरबार की ज़बान कहा है कुछ जनता की भाषा नहीं। सन् १७९६ में (जब उक्त कालेज की स्थापना न थी) गिलक्रिस्ट[2] ने लिखा था—

"In the mixed dialect also called Oordoo, or, the polished language of the court, and which even at this day pervades the vast provinces of a once powerful Empire."

तब उनके सामने भाषा का एक सामान्य* ढाँचा था जिसका व्याकरण बनाया गया था। उस समय उनके सामने रेख़ता था

(१) The Hindee Roman Orthoepigraphic Ultimatum p. 20—1.

(२) J. R. A. S. 1930. p. 393.

* हिंदी और उर्दू की 'प्रकृति' में एकता होने के कारण उनके व्याकरण में समानता पाई जाती है और भाषा-शास्त्र की दृष्टि से उन्हें एक ही कह दिया जाता है। नहीं तो अन्य दृष्टियों से विचार करने पर स्पष्ट हो जाता है कि

जिसे उर्दू भी कहते थे। परंतु जब उनको उस भाषा की आवश्यकता पड़ी जो सचमुच देशभाषा हो तब उनकी आँख खुली और देखा कि उर्दू मुल्की ज़बान हरगिज़ नहीं है। वह दरबार और बड़े बड़े मुसलमानी शहरों में बरती जानेवाली बनावटी ज़बान है। निदान उनको कालेज के मुंशियों से बार बार कहना पड़ा कि बोलचाल या अपनी ज़बान में लिखो। उन शब्दों का प्रयोग करो जो जनता के परिचित शब्द हैं। फिर भी मुंशियों पर उर्दू की सनक सवार रही और 'अशअश' कराने के लिये लिखने लगे। एक[१] साहब का हौसला है:—

पिला दे मुझको जामे अरग़वानी, कि जिससे तै हो हातिम की कहानी।
कहें सुनकर उसे अरबाब उर्दू, कि है यह गौहरे नायाब उर्दू॥

लिखने को तो इसलिये कहा गया था कि उसे पढ़कर सरकारी साहब लोग देश की वाणी को अनसुनी न कर दें। जनता के सुख-दुःख को सीधे समझ लें और सरकार (जो उस वक्त कंपनी के रूप में थी) के हित को उसके सामने आसानी से रख सकें। पर उर्दू के विधाताओं ने किया इसके ठीक उलटे। नायाब उर्दू लिखने लगे। तिस पर भी तुर्रा यह कि आजकल के भोले-भाले राष्ट्र-भक्त इसी को राष्ट्र-भाषा क्यों नहीं मान लेते। यह तो बाबा आदम के ज़माने से न सही, गिलक्रिस्ट के ज़माने से तो राष्ट्र-भाषा है? फिर इसके ख़िलाफ़ आवाज़ क्यों उठाई जाती है? यह

वास्तव में हिंदी और उर्दू में गहरा मतभेद है। क्या प्रवृत्ति, क्या पिंगल, क्या पदयोजना, क्या कोष आदि, सभी बातों में उनमें एकता नहीं है। कहाँ तक कहें, उनका बाहरी जामा या लिपि भी तो एक नहीं है। लिपि की भिन्नता के कारण एक होने पर भी ये एक नहीं हो सकतीं। फिर भी लिपि की पूरी उपेक्षा हो रही है। जाने इसका क्या भेद है।

(१) आराइश मुहफ़िल, आरंभ।

ज़ुल्म कैसा? ठीक है। पर ज़रा मेहरबानी करके मौलाना हक़ के इस दावे को ग़लत तो कर दीजिए[1] —

"उर्दू ने उसका (फ़ारसी का) दूध पिया था, उसी के सहारे परवान चढ़ी और वह रंग-रूप निकला कि सबमें मक़बूल हो गई। रफ़्तः रफ़्तः फ़ारसी की जगह उसी का चलन हो गया। यह एक क़ुदरती असूल था। जिस तरह बाप का जानशीन बेटा होता है उसी तरह फ़ारसी की क़ायम मुक़ाम उर्दू हो गई।"

बात बिल्कुल सटीक है। फ़ारसी कभी भी हमारी राष्ट्रभाषा न थी। वह शाही, सरकारी या राज-भाषा थी। उसकी जगह अँगरेज़ी ने छीन ली। उसी से उसकी बेटी को भिड़ना चाहिए। हिंदी* हिंद की राष्ट्र-भाषा रही है और आज है भी, चाहे राष्ट्र उसे स्वीकार करे चाहे दुत्कारे; पर है वही हमारी राष्ट्र-भाषा। उर्दू सरकार की ओर से किस प्रकार हमारे ऊपर लादी गई इसकी एक झलक आपको मिल गई। इसका पूरा पूरा पता लगाने के पहले मौलाना हक़ की एक खोज की दाद दीजिए और उसे सदा के लिये कंठ कर लीजिए। बड़े मौक़े पर काम आएगी। इनका[2] कहना है—

(१) 'उर्दू' (त्रैमासिक पत्रिका) जनवरी सन् १९३३, पृ० १४।

* हिंदी का तात्पर्य वह नहीं है जो अक्सर अनभिज्ञ लोग समझे बैठे हैं। लल्लूजी लाल की भी हिंदी में 'यामिनीभाषा' का बहिष्कार नहीं है। 'उर्दू' के मुक़ाबिले में 'हिंदी' को खड़ा करना नादानी है। उर्दू की जोड़-तोड़ का शब्द 'खड़ी बोली' है। उर्दू और खड़ी बोली के झगड़े ने प्रमाद या भ्रमवश हिंदी-उर्दू के दंगल का रूप धारण कर लिया है। यह हमारी लापरवाही और मूढ़ता का द्योतक है। उर्दू ने भाषा का बहिष्कार किया और खड़ी बोली ने फ़ारसी अरबी का। नतीजा आपके सामने है। हिंदी ने त्याग किसी का भी नहीं किया, पर वह उर्दू की क़ैद के कारण उससे दूर नज़र आने लगी और दुर्भाग्यवश यह दूरी बढ़ती ही गई।

(२) 'उर्दू' (त्रैमासिक पत्रिका) जनवरी सन् १९३३ ई०, पृ० ५३।

देहली कालेज में "अरबी-फारसी के तमाम मुसलमीन हिंदी पढ़ते थे। इसमें मसलहत यह थी कि इन ज़बानों के तुल्बः अमूमन् आला क़ाबलियत के होते थे और जब वह देहात में जाते थे तो गाँववालों से मामिला करने में यह ज़बान कारामद साबित होती थी।" तथा[1]

"अरबी-फारसी के तुल्बः 'बैतालपचीसी', 'सिंघासनबतीसी' और 'प्रेमसागर' पढ़ते थे। यह इस ख़्याल से कि अगर कोई तालिबइल्म फ़ौजी मुंशीगीरी की ख़िदमत क़बूल करे तो उसे अंजाम दे सके।"

ग़रज़ यह कि मरहूम देहली कालेज (मृ० १८७७ ई०) में वही प्रेमसागर अरबी-फ़ारसी के छात्र पढ़ते थे जो आज लोगों को काटे खाता है और प्रेम की जगह द्वेष का बीज समझा जाता है। इतना ही नहीं, फ़ौज और देहात के लिये हिंदी का पढ़ना और उसी हिंदी का पढ़ना, जो प्रेमसागर की हिंदी या आधुनिक हिंदी कही जाती है, लाज़िमी था। क्यों? इसी लिये न कि वस्तुतः वही देशभाषा थी। वही राष्ट्र-भाषा थी। वही हिंदुस्तानी थी न कि उर्दू या मजलिसी भाषा जो देहली के आसपास भी बाहर देहात में काम नहीं आ सकती थी—दूर की कौन कहे! इस प्रसंग में मीर साहब की एक बात[2] याद आ गई। उसे भी सुन लीजिए। मार्के की चीज़ है। मीर साहब "जब लखनऊ चले तो सारी गाड़ी का किराया भी पास न था। नाचार एक शख़्स के साथ शरीक हो गए और दिल्ली को ख़ुदा हाफ़िज़ कहा। थोड़ी दूर आगे चलकर उस शख़्स ने कुछ बात की। यह उसकी तरफ़ से मुँह फेरकर हो बैठे। कुछ देर के बाद फिर उसने बात की। मीर साहब चीं बजबीं होकर बोले कि—

(१) 'उर्दू' (त्रैमासिक पत्रिका) जनवरी सन् १६३३ ई०, पृ० ५८।
(२) आबेहयात पृ० २०५।

'साहब क़िबलः! आपने किराया दिया है। बेशक गाड़ी में वैठिए। मगर बातों से क्या तअल्लुक़?' उसने कहा हज़रत क्या मुज़ायक़ः है। राह का शग़ल है, बातों में ज़रा जी बहलता है।' मीर साहब बिगड़कर बोले कि—'ख़ैर आपका शग़ल है मेरी ज़बान ख़राब होती है'।"

मीर साहब 'बेदिमाग़' कहे जाते हैं। यह उनकी बेदिमाग़ी हो सकती है। पर बात यहीं ख़तम नहीं होती। शेख़ इमाम-बख़्श नासिख़, जो आधुनिक उर्दू के विधाता और ज़बान के पक्के पहलवान हैं, (इसी पहलवानी के लिये 'नासिख़' की उपाधि से विभूषित हैं) अज़ीमाबाद से (जो देश में पटना के नाम से प्रसिद्ध है, पर उर्दू में कभी कभी भूले-भटके पटनः के रूप में सुनाई पड़ जाता है) भाग पड़े। वह इसलिये नहीं कि वहाँ आव-भगत की कमी पड़ी, बल्कि इसलिये कि वहाँ रहने से उनकी[१] ज़बान बिगड़ती थी। चाँदनी पड़ने से माशूक़ का बदन मैला हो या न हो मगर बाहरी ज़बान कान में पड़ने से इन लोगों का वदन (मुँह) ज़रूर मैला हो जाता था। तभी तो इस तरह जनता क्या, भद्र पुरुषों से किनारा कसते थे और कमरे में बैठे-बिठाए अरबी-फ़ारसी के बल पर ज़बान का दंगल मारते थे और शागिर्दों की वाहवाही तथा शरीफ़ों की ख़ूब ख़ूब में मग्न होकर हिंदी ज़बान का ख़ून कर जाते थे और इमाम नासिख़, इमाम नासिख़ के रोब में ज़बान के ग़ाज़ी बन जाते थे। हमें इस बात को याद रखना होगा कि यही नासिख़ (मृ० १८३८ ई०) उर्दू के पुरोहित और आचार्य हैं। इन्हीं के कारण उर्दू का नाम चला और देखते ही देखते अन्य सब नामों को दबा लिया। आज 'उर्दू' के अतिरिक्त और कोई नाम सुनाई ही नहीं पड़ता। उर्दू के उपासक इस बात पर ध्यान ही नहीं देते कि 'उर्दू दर

(१) आबेहयात पृ० ३५२।

हक़ीक़त लखनऊ की ईजाद है। उसे हिंदी, हिंदुस्तानी कहना तो दूर रहा वह सचमुच 'देहलवी' भी नहीं है। आज देहली भी ज़बान के लिहाज़ से लखनऊ की क़ैद में है। उसका सोता सूख सा गया है और वह लखनऊ की नहर से (जो फ़ारसी से निकाली गई है) जीवन प्राप्त कर रही है। यह वह समय है जब काल-चक्र की प्रेरणा से सभी अपनी जड़ को सींच रहे हैं। लेकिन हिंद ही एक ऐसा अभागा जड़ देश है जो अरबी-फ़ारसी के लिये अपने ही हाथ से अपनी जड़ खोद रहा है।

हाँ, तो इमाम नासिख़ लखनवी थे। देहली का उन्होंने शायद मुँह भी नहीं देखा था। दिल्लीवालों के लिये वे भी पूरबी थे। उन्हें ज़बान का इतना नाज़ क्यों हुआ कि पटना से भाग पड़े। उनके पिता भी तो देहलवी न थे बल्कि महज़ पंजाबी थे। उनको इस प्रकार का ज़बान पर दावा क्यों हुआ? बात यह है कि अपनी ज़बान को फ़ारसी के रंग में उन्होंने इतना रँग लिया था कि यार लोग उस पर फ़िदा हो गए थे। उन्हें उर्दू-ए-मुअल्ला की सुधि न रही। नासिख़ के कलाम का मुलम्मा उन पर भी हावी हो गया और वे लोग उन्हीं को कामिल उस्ताद मानकर उनकी ज़बान की पैरवी करने लगे। नतीजा यह हुआ कि लखनऊ, लखनऊ न रहकर 'इस्फ़हान' हो गया और उर्दू ख़ासी फ़ारसी बन गई। फिर अज़ीमाबाद से भागते नहीं तो करते क्या? पटना तो 'इस्फ़हान' होने से रहा। उनकी तारीफ़ में 'सुरूर' का इजहार है—

"बुलबुले शीराज़ को है रश्क नासिख़ का 'सुरूर'।
इस्फ़हान उसने किए हैं कूचः हाये लखनऊ ॥"

कहा जा सकता है कि 'सुरूर' ने शायरी की पिनक में लखनऊ को इस्फ़हान बना दिया। कुछ नासिख़ ने सचमुच ऐसा

नहीं कर दिया, ठीक है। पर ज़रा मौलाना[1] सलीम जैसे उर्दू के मर्मज्ञ की इस राय पर ग़ौर तो कीजिए और देखिए कि आख़िर बात क्या है। उनका कहना है—

"उसने (नासिख़ ने) अपने लिये ज़बान की ख़ास हदूद मुक़र्रर कर ली हैं। उनसे कभी बाहर नहीं निकलता। आम बोलचाल बहुत कम इस्तेमाल करता है। वह एक ऐसी ज़बान बोलता है जो बिलकुल फ़ारसी ज़बान का अक्स है।"

फ़ारसी के पुजारी प्रायः कह बैठते हैं कि फ़ारसी के मेल से कलाम मीठा हो जाता है। ज़बान से रस टपकने लगता है। लेकिन तब न, जब समझ-बूझकर दिल के इशारे से काम लिया जाय और भाव का ख़्याल बना रहे। पर नासिख़ के यहाँ तो पहलवानी का ज़ोर है। दिमाग़ी कसरत से काम लिया जाता है और अरब-फ़ारस के लुग़ती लफ़्ज़ शेर के साँचे में ढाले जाते हैं। नतीजा यह होता है कि नासिख़ की ज़बान 'ख़ुश्क और गुट्ठल' हो जाती है। उस समय का रोगी समाज उसी दवा* को पीता और अपने को धन्य समझता है। यह सिर्फ़ इसलिये कि वह बिलकुल फ़ारसी का अक्स है। हिंदीपन का उसमें नाम भी नहीं है। वही उर्दू है। उसी को नासिख़ ने उर्दू क़रार दिया है और उसके प्रचार के लिये हिंदी, रेख़ता आदि पुराने नामों को एकदम मतरूक कर दिया। आप इसके लिये नासिख़ के अवश्य कृतज्ञ होंगे कि

(१, 'उर्दू' (त्रैमासिक पत्रिका) जनवरी सन् १६३४, पृ० ५६।

* नासिख़ के दौर की तमहीद में मौलाना आज़ाद ज़बान के बारे में लिखते हैं—

"जब (ज़बान) पोख़्तः साल होती है तो ख़ुशबू अर्क़ उसमें मिलाती है। तकल्लुफ़ के इत्र ढूँढ़कर लाती है। फिर सादगी और शीरीं अदाई तो ख़ाक में मिल जाती है। हाँ, दवाओं के प्याले होते हैं जिसका जी चाहे पिया करे।"—आबेहयात पृ० ३४०।

उन्होंने जनता को धोखे में नहीं रखा। बल्कि साफ़ साफ़ कह दिया कि अब यह तुम्हारी हिंदी नहीं, हमारी 'उर्दू' है। इस उर्दू में दाख़िल होने के लिये हिंदीपन को छोड़ना ही पड़ेगा। बिना अरबी-फ़ारसी की शरण गए, अब आपका काम चलने से रहा। यह उर्दू-ए-मुअल्ला नहीं है कि बोलचाल के हिंदी शब्द भी लिख मारो। यह उर्दू है, और नासिख़ की उर्दू है। इसमें रेख़ता या घपला का काम नहीं। शुद्ध फ़ारसी का बोलबाला है। भाषा का नाम नहीं। संक्षेप में हमीं उसके मिटानेवाले (नासिख़) हैं। कहने की ज़रूरत नहीं कि देहली भी आज इसी नासिख़ी उर्दू के मातहत है। गो कभी कभी कुछ तन जाती है और अपनी ज़बान के जोम में कुछ हिंदीपन दिखा जाती है। पर अब उस बूढ़ी को पूछता कौन है। अब तो लखनऊ की इस नाज़नी का राज्य है। चारों ओर इसी की नौबत बज रही है। ग़ज़ब तो यह है कि मौलाना हक़ इसकी दाद नहीं देते बल्कि उलटे कह बैठते हैं—

"उर्दू ज़बान जदीद हिंदी की तरह किसी ने बनाई नहीं, वह तो ख़ुद बख़ुद बन गई और उन क़ुदरती हालात ने बनाई जिन पर किसी को क़ुदरत न थी। इसमें हिंदू और मुसलमान दोनों शरीक थे और अगर हिंदुओं की इसमें शिरकत न होती तो यह वजूद ही में नहीं आ सकती थी।"

'उर्दू ज़बान' से यदि मौलाना हक़ का मतलब उर्दू की ज़बान, रेख़ता या मिली-जुली मिश्र भाषा यानी हिंदी से है तो इसके विषय में हमें यहाँ कुछ भी नहीं कहना है लेकिन अगर उनका मक़सद उर्दू, उसी उर्दू से है जिसकी रामकहानी ऊपर सुन चुके हैं तो खरे और स्पष्ट शब्दों में हम साफ़ साफ़ डंके की चोट पर

(१) 'उर्दू' (त्रैमासिक पत्रिका) अपरैल सन् १९३७, पृ० ३८४।

अर्ज़ करेंगे कि उनका यह दावा सोलहो आना सरासर ग़लत है। अगर उनको कुछ भी हक़ का ख़्याल और अदब है तो कृपया उस हिंदू का नाम बता दें जिसने हातिम से लेकर नासिख़ तक इसमें शिरकत की है और उसकी सनद उर्दू के पास धरी है। यदि वे ऐसा नहीं करते तो साफ़ ज़ाहिर है कि इस तरह की धाँधली का गुर क्या है और क्यों इस प्रकार का जाल बिछाया जा रहा है। माना कि 'सात समुंदर पार' के लोग नादानी से इस तरह की बातें लिख गए हैं कि उनसे मौलाना हक़ को कुछ इस प्रकार कहने में मदद मिल जाती है। पर इतने ही से वे प्रमाण तो नहीं हो गए। अगर उनको 'उर्दू' का ठीक ठीक पता नहीं है, उर्दू लफ़्ज़ को पकड़कर उर्दू के आचार्य बन बैठे हैं तो इस रोशनी के ज़माने में उनकी चलती कब तक रहेगी। किसी न किसी दिन उन्हें भी प्रकाश में आकर सत्य का पक्ष लेना ही पड़ेगा। हक़ उनको योंही नहीं रहने देगा। उनके भी जिगर में हक़ की पुकार होगी। उसी की शुभ्र प्रेरणा से मौलाना हक़[१] ने इतना सहर्ष स्वीकार भी किया है—

"अलबत्त: उर्दू पर एक ऐसा तारीक ज़मान: आया कि हमारे शोरा ने अक्सर हिंदी लफ़्ज़ों को मतरुक क़रार दिया और उनके बजाय अरबी-फ़ारसी के लफ़्ज़ भरने शुरू किए। और यही नहीं बल्कि बाज़ अरबी-फ़ारसी अल्फ़ाज़ जो ब तग़ैयुर हैय्यत या ब तग़ैयुर लफ़्ज़ उर्दू में दाख़िल हो गए थे, उन्हें भी ग़लत क़रार देकर असल सूरत में पेश किया और उसका नाम 'इसलाह ज़बान' रखा।"

मौलाना हक़ ने साफ़ नहीं किया कि इस 'तारीक ज़मान:' का पेशवा कौन है। पर इतना संकेत कर दिया है कि इसके बाद

(१) उर्दू (त्रैमासिक पत्रिका) अपरैल सन् १९३७ ई०, पृ० ३८६।

ही सर सैयद अहमद ख़ाँ का ज़हूर हुआ है। सर सैयद के पहले नासिख़ का बोलबाला था। उन्हीं पर यह 'तारीक ज़मानः' फ़िट होता है। उनके पहले इंशा का (मृ० १८१७ ई०) दौर था जिसे 'उर्दू ज़बान का अहदे जाहिलियत'[१] का ख़िताब मिला है। फिर भी इंशा पर मौलाना हक़ का कथन ठीक नहीं उतरता क्योंकि उनका[२] दावा था—

"हर लफ़्ज़ जो उर्दू में मशहूर हो गया, अरबी हो या फ़ारसी, तुर्की हो या सुरयानी, पंजाबी हो या पूर्बी, अज़रूए असल ग़लत हो या सही, वह लफ़्ज़ उर्दू का लफ़्ज़ है। अगर असल के मुआफ़िक़ मुस्तामल है तो भी सही है और अगर ख़िलाफ़ असल मुस्तामल है तो भी सही है। उसकी सेहत व ग़लती उर्दू के इस्तेमाल पर मौक़ूफ़ है। क्योंकि जो कुछ ख़िलाफ़ उर्दू है ग़लत है, गो असल में वह सही है। और जो कुछ मुआफ़िक़ उर्दू है सही है, गो असल में सेहत न रखता हो।"

साफ़ ज़ाहिर है कि सैयद इंशा के इस कथन में 'इसलाह ज़बान' का विधान नहीं है। चाहें तो इसे ज़बान की कसौटी कह लें। सैयद इंशा शाहजहानाबाद के उर्दू की बोली को प्रमाण मानते थे। उसी का उन्होंने यहाँ भी उल्लेख किया है। यदि उनके दौर को 'अहदे जाहिलियत' कहा गया है तो उनके बाद के दौर को तारीक ज़माना कहना चाहिए। क्योंकि तराश-ख़राश का मर्ज़ बढ़ते बढ़ते अब उससे भी एक नया और अजीब 'इसलाह' का रूप धारण कर चुका था। दुनिया जानती है कि नासिख़ ने इस 'इसलाह ज़बान' का नए सिरे से प्रवर्तन किया और यहाँ तक 'इसलाह' पर ज़ोर दिया कि इसी की बुनियाद पर अपने को नासिख़

(१) हिंदी उर्दू, और हिंदुस्तानी पृ० १३।

(२) दरिया-ए-लताफ़त, मुक़दमः पृ० ४। (मौलाना 'हक़' द्वारा संपादित)

(मिटानेवाला) सिद्ध किया। इन्हीं की कृपा से सैयद इंशा का उक्त दावा मंसूख़ हुआ और इन्हीं की कोशिश से इस इसलाही ज़बान का नाम उर्दू चल पड़ा। यही वह उर्दू है जो फ़ारसी की छाया या लाड़ली होने के नाते फ़ारसी की जगह सरकारी ज़बान हुई और धीरे धीरे सरकार की नादानी और बदगुमानी से मुल्की ज़बान के रूप में संसार में ख्यात हुई। सरकार का अपनाना था कि वह रानी बन गई और चारों ओर से हिंदी या भाषा को छाप लिया। इसके बाद जो हिंदी-उर्दू में मुठभेड़ हुई उसकी चर्चा यहाँ न होगी। उस पर अलग विचार किया जायगा। यहाँ इतना भर संकेत कर देना है कि उर्दू राजा की ओर से जनता के सिर मढ़ी गई है, दर हक़ीक़त प्रजा की वह चीज़ नहीं। इसका सबसे पुष्ट और सरल सबूत यह है कि मसीही प्रचारकों ने भाषा को अपनाया 'इसलाही ज़बान' या उर्दू को नहीं। कारण स्पष्ट है। उनके सामने लोक-हृदय का प्रश्न था। रोब ग़ालिब करना उनका धर्म न था। वे तो जनता का हृदय छूना चाहते थे। परंतु सरकार को शासन करना था। उसके सलाहकार फ़ारसी के आदी थे। उन्हें फ़ारसियत से डंस नहीं तो मुहब्बत अवश्य थी। उसी के सहारे अपने को जनता से अलग रख पाते थे और अपने को बढ़कर सिद्ध कर सकते थे। निदान, यह मानना पड़ता है कि वस्तुतः उर्दू 'तारीक ज़मानः' का वह तमग़ा है जो सरकार की ओर से मिलने के कारण एक विशेष महत्त्व रखता है और उसी की अनुकंपा से सबके लिये आदर का कारण होता है। सरकार ने उसको जो महत्त्व दिया, उसका उल्लेख यहाँ न होगा। यहाँ इसी को स्पष्ट कर देना है कि दर हक़ीक़त उर्दू राजभाषा की सगी होने के कारण दरबार में प्रतिष्ठित हुई, कुछ प्रजा की बानी होने के नाते नहीं। प्रजा की वाणी को लेकर जो भाषा उसके सामने

मैदान में आ डटी वह वही पुरानी हिंदी थी जिसका बहिष्कार केवल इसलिये कर दिया गया था कि वह प्रजा की भाषा यानी हिंदी थी फ़ारसी नहीं। भूलना न होगा कि कल जो फ़ारसी* को अपनी ज़बान कहते थे वे ही आज उर्दू को मादरी ज़बान कह रहे हैं। नासिख़ की ज़बान किसी की मादरी ज़बान नहीं है। वह तो एक ख़ास टोली की अदबी ज़बान है। वह मौलाना हक़ के कथनानुसार 'तारीक ज़मानः' की 'इसलाही ज़बान' है न कि उस ज़माने की बोलचाल या मुल्की ज़बान।

उर्दू के बारे में बार बार यही कहा जाता है कि वह हिंदू-मुसलमानों के मेल से बनी है। वह हिंद की मादरी या मुल्की ज़बान है। इतना अर्ज़ करने के बाद भी यदि इसी तरह का दावा पेश किया जाय तो कहना पड़ेगा कि अब तर्क-वितर्क का ज़माना लद गया। अब हुल्लड़बाज़ों का ज़माना है। जो कुछ कहें उन्हें सब शोभा देता है। पर अपने राम का तो यही कहना है कि उर्दू दर हक़ीक़त फ़ारसी की बिलकुल अक्स या छाया है वह हिंदुस्तान की चीज़ नहीं, फ़ारस या इसलाम की बरकत है। उसमें शरीक होकर हिंदुओं ने क्या किया इसे भी देख लें। मौलाना हक़[१] का उल्लास है—

---

* फ़ारसी को अपनी ज़बान कहनेवाले मुसलमानों की कमी नहीं। 'हमारे यहाँ' से उनका तात्पर्य प्रायः फ़ारस या फ़ारसी से होता है। एक सज्जन, जो जायस की बोली में बातचीत कर रहे थे और न जाने कितने दिनों से उनके पूर्वज वहाँ के रोड़े बन गए थे, अपनी ज़बान फ़ारसी बताते थे, उर्दू से उन्हें संतोष न था। उसको वे हिंदुस्तानी ज़बान समझते थे। जान पड़ता है कि समय की गति को देखकर जो चेत गए हैं वे तो उर्दू को मादरी ज़बान कहते हैं नहीं तो अन्य लोग परंपरा के कारण आज भी फ़ारसी को अपनी ज़बान समझते हैं।

(१) उर्दू (त्रैमासिक पत्रिका) जनवरी सन् १९३३ ई०, पृ० १४।

"उस वक़्त के किसी हिंदू मुसन्निफ़ की किताब को उठाकर देखिए। वही तर्ज़ तहरीर है और वही असलूब बयान है। इब्तदा में बिस्मिल्लाह लिखता है। हम्द व नात व मन्क़बत से शुरू करता है। शरई इस्तलाहात तो क्या हदीस व नस .क़ुरान तक बेतकल्लुफ़ लिख जाता है। इन किताबों के मुताल: से किसी तरह मालूम नहीं हो सकता कि यह किसी मुसलमान की लिखी हुई नहीं।"

फिर भी किसी हिंदू को उर्दू ज़बाँदानी की आज तक सनद न मिली। मौलाना हाली[१] तक ने कहा—

"दूसरी शर्त यह थी कि डिक्शनरी लिखनेवाला शरीफ़ मुसलमान हो, क्योंकि खुद देहली में भी फ़सीह उर्दू सिर्फ़ मुसलमानों ही की ज़बान समझी जाती है। हिंदुओं की सोशल हालत उर्दू-ए-मुअल्ला को उनकी मादरी ज़बान नहीं होने देती।"

शायद इसी 'सोशल हालत' को अपनी नाकामयाबी का कारण मानकर हिंदुओं ने उर्दू में लिखते समय अपने को पूरा पूरा मुसलमान बना दिया। इसमें उनको यहाँ तक कामयाबी हासिल हुई कि मौलाना हक़ तक उनके कलाम से उनके हिंदू होने का कोई प्रमाण नहीं दे सकते। फिर भी उर्दू ज़बान के लिखने में उन्हें कामयाबी नसीब न हुई। लखनऊ के नासिख़ उस्ताद बन गए। उनके इशारे पर उर्दू नाचने लगी। वे तो देहलवी या नजीब न थे। फिर इस सनद का कारण क्या है? आप स्वयं सोचें और विचार करें कि जिस उर्दू में हिंदुत्व खोकर भी हम कामयाब न हुए, हमारी ज़बान सनद न मानी गई, वही उर्दू आज क्यों और कैसे हमारी मादरी ज़बान कही जा रही है। उसी उर्दू को हम कैसे और किस न्याय से मुल्की ज़बान

(१) हिंदी, उर्दू और हिंदुस्तानी पृ० ४८ पर अवतरित।

या राष्ट्रभाषा मान लें। वह तो मुसलमानी भी नहीं, एक जत्थे की बनावटी ज़बान है जो आज अदबी ज़बान के रूप में मुल्क में फल-फूलकर फैल रही है और प्रमादवश अपने इतिहास को छिपाकर राष्ट्रभाषा के आसन पर आसीन होना चाहती है। उसमें हिंदू-मुसलिम एकता नहीं, मुसलमानी नहीं, बल्कि अरबियत और फ़ारसियत का बनावटी या बाहरी दबाव है। उससे हम कहीं अधिक उस फ़ारसी का आदर करते हैं जिसमें हमारी हिंदियत का स्वागत और सम्मान है। जो फ़ारसी अपने राजपद से उतरकर हिंदी से मिलकर, अपने आपको भी हिंदियत से सरस करती है उस फ़ारसी के सामने उस उर्दू को कौन पूछेगा जिसने हिंदियत को दुतकारना अपना फ़र्ज़ बना लिया हो। उर्दू की गाथा मुसलमानों के पतन और हिंदवी के बहिष्कार का इतिहास है। उसकी प्रवृत्ति और प्रगति में द्वेष और विलास का राज्य है, प्रेम का प्रसार या त्याग का इतिहास नहीं। हिंदियत की दृष्टि से विचार करो और ग़ौर से देखो कि उर्दू का रुख़ किधर है। किस ओर वह बढ़ी चली जा रही है। कहाँ उसका असली ठिकाना है।

भूलना न होगा कि उर्दू की इस कठोर क़ैद के कारण उसके लेखकों की दृष्टि व्यापक या बहुमुखी न होकर केवल एकांगी, किताबी या बनावटी हो गई है। अभी उस दिन 'ठेठ उर्दू' में लिखते समय एक उर्दूदाँ[१] ने दर्प के साथ कहा था—

"मेरे लिखने का यह ढंग नहीं।"

तो फिर उन्होंने वैसा क्यों लिखा? उन्हीं के मुँह से सुनिए-

"आपकी अनोखी लिखत देख के ध्यान आया ठेठ उर्दू ही में आपसे बातचीत करूँ और हो सके तो अरबी-फ़ारसी को हाथ न लगाऊँ और दिखाऊँ कुलाहल, संपत्ति, अभ्यास, निश्चय जैसे

(१) हिंदुस्तानी, (उर्दू) अक्टूबर सन् १९३६ ई०, पृ० ४९७

भूले-विसरे कढ़व बोलों को छोड़ के ठेठ उदू यों लिखी जा सकती है।"

सैयद अबुल्क़ासिम की 'ठेठ उदू' ने सैयद इंशा की 'हिंदवी छुट' को सामने ला दिया और दिखा दिया कि 'इसलाह ज़बान' की कृपा से जो पहले 'अच्छे से अच्छे भले लोगों के बोल[१] थे' आज 'भूले-विसरे' ठेठ हो गए। अब कल की कौन कहे। डर है, कहीं सड़े-गले न साबित कर दिए जायँ। हमें तो 'इसलाह ज़बान' के भक्तों से साफ़ साफ़ कह देना है कि यह आपकी फ़ारसी-दृष्टि का दोष है जो आस-पास के पड़े शब्दों को ठेठ कह-कर दूसरों के कोष पर छापा डालती है और ग़ैरों की कमाई को अपनी पूँजी समझती है। आपकी इस प्रकृति या मज़ाक़ का कारण आपकी वह टटकी ग़ुलामी है जो अरबियत और फ़ारसियत की ओर टकटकी लगाए ललच रही है और उसके जूठन को महाप्रसाद समझती है। भला फ़ारसवाले आपको क्या कहते होंगे जो अरबियत और तुरकियत से बाल बाल बचकर शुद्ध फ़ारसियत को* अपना रहे हैं। संक्षेप में पक्के फ़ारसी बन रहे

(१) रानी केतकी की कहानी (श्रोता से बातचीत)।

* मौलाना अब्दुल हक़ ने कहा है—"तुर्कों ने अपनी ज़बान से ग़ैर ज़बानों के लफ़्ज़ निकालना शुरू कर दिए हैं। ईरान में पहले भी एक कोशिश हुई लेकिन नाकाम रही। अब वह फिर तुर्कों की तरह ग़ैर ज़बानों के अल्फ़ाज़ निकाल देने पर आमादः नज़र आते हैं।" उदू (त्रैमासिक पत्रिका) सन् १९३७ ई० पृ० ३७५।

साफ़ ज़ाहिर है कि उनकी इस उग्र चेष्टा का कारण है राष्ट्र-प्रेम। राष्ट्र-प्रेमी अपनी ज़बान पर से ग़ुलामी की मुहर निकाल फेंकने पर तुले हैं। उनकी ज़बान पर अब ग़ुलामी की लगाम न रहेगी। पर हिन्द के राष्ट्र प्रेमी उसी ग़ुलामी की लगाम के लिये मुँह बाए खड़े हैं। वह केवल इसलिये कि यहाँ हिंदू लोग भी रहते हैं और एक ऐसी भाषा बोलते हैं जो हिंदी के नाम से ख्यात है; जिसमें बहुत कुछ हिंदीपन बाक़ी रह गया है। उनका एकमात्र अपराध

हैं। पर यहाँ तो अभी वही उर्दू का पुराना राग आलापा जा रहा है और देश के एक छोर से दूसरे छोर तक प्रचलित शब्द भी इसलिये नहीं लिखे जाते हैं कि उनको लिखने का हुक्म नहीं है। उर्दू के किसी उस्ताद ने उन्हें नहीं लिखा और यदि लिखा भी तो उन्हें उर्दू की छाप नसीब न हुई। आख़िर इन सब ख़ुराफ़ातों की जड़ क्या है। मौलाना सलीम[१] जैसे उर्दू के मर्मज्ञ की राय सुनिए और हक़ के लिहाज़ से उन्हें दाद दीजिए—

"आख़िर हिंदी अलफ़ाज़ को सख़ीफ़ और मुब्तज़ल समझने की वजह क्या है? इसकी वजह साफ़ ज़ाहिर है। जो क़ौम अपने दर्जे से गिर जाती है, वह हुर्रियत का ताज सर से उतारकर ग़ुलामी का तौक़ पहन लेती है, वह अपनी हर चीज़ को पस्तो-ज़लील समझने लगती है। अपना मज़हब, दूसरों के मज़हबों के मुक़ाबिले में, उन्हें अदना और कमज़ोर नज़र आता है। ग़ैरों के इख़-लाक़ और आदाबोरसूम अपने इख़लाक़ और आदाबोरसूम से अच्छे दिखाई देते हैं। इसी तरह अपनी ज़बान भी उन्हें ग़ैरों की ज़बानों की निस्बत, नाशाइस्ता और कममाया मालूम होती है। ग़ैर ज़बानों के अलफ़ाज़ उनकी नज़र में निहायत शानदार और अरफ़ा हो जाते हैं, और अपनी ज़बान के अलफ़ाज़ हक़ीर और मुब्तज़ल मालूम होते हैं। यह मैलान गिरी हुई क़ौम के तमाम मामलात व हालात पर यकसाँ तौर से हावी हो जाता है।"

तो क्या उर्दू गिरी हुई क़ौम की निशानी है? राष्ट्र-हृदय से उसका कुछ भी सीधा संबंध नहीं है? हमें इसके उत्तर की

शायद यही है कि वे हिंदू ही रह गए हैं मुसलिम नहीं हुए। यदि वे भी मुसलिम हो गए होते तो आज हिंद में भी हिंदी का नारा बलंद होता न कि अरबी-फ़ारसी का बेतुका राग आलापा जाता और उन पर तरह तरह के लांछन लगाए जाते।

(१) वज़ै. इस्तहालात पृ० १७६। हिंदी, उर्दू और हिंदुस्तानी पृ० ६१।

ज़रूरत नहीं। आप स्वयं विचार करें और देखें कि उसकी असलियत क्या है? कहाँ तक वह लोक-भाषा या मुल्की ज़बान कहलाने के योग्य है? क्यों उसने भाका या हिंदवीपन को छोड़ अरबियत और फ़ारसियत का तौक़ पहना और अपने तईं हिंदी कहलाना भी गुनाह समझा? आपके इसी निर्णय पर देश का भविष्य निर्भर है। याद रहे, सत्य ही की जीत होती है अनृत या झूठ की नहीं। यदि आप सत्य का साथ देंगे तो सत्य अवश्य आपका साथ देगा। और फिर राष्ट्र का बेड़ा पार है।

———

(१०) खड़ी बोली की निरुक्ति

[लेखक—श्री चंद्रबली पांडेय, एम० ए०, काशी]

खड़ी बोली सचमुच एक विलक्षण नाम है। किसी भाषा का नाम खड़ी बोली हो नहीं सकता। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश अथवा उर्दू तथा रेख़ता आदि नामों की निरुक्ति पर ध्यान देने से यद्यपि इस नाम की विलक्षणता बहुत कुछ दूर हो जाती है तथापि इसकी खटक़ बराबर जी में बनी रहती है और बार बार यही प्रश्न उठता है कि आख़िर इसकी निरुक्ति क्या है, क्यों इसका नाम खड़ी बोली पड़ गया। क्या संस्कृत, प्राकृत, उर्दू, रेख़ता आदि की भाँति इसका भी नाम चल निकला और धीरे धीरे कालचक्र के प्रभाव से उसका अर्थ कुछ से कुछ और हो गया? कहना न होगा कि इसी जिज्ञासा की प्रेरणा और इसी चिंता की शांति के लिये अब तक खड़ी बोली की नाना प्रकार की व्याख्याएँ की गई हैं और एक से एक निराले और बेतुके रूप में हमारे सामने आती रही हैं। खड़ी बोली की वास्तविक निरुक्ति क्या है? किस प्रकार उसका निर्देश एक निश्चित देशभाषा अथवा बोली के लिये स्थिर हो गया आदि प्रश्नों पर विचार करने के पहले ही यह उचित जान पड़ता है कि हम उन सारी निरुक्तियों को अच्छी तरह देख लें जो खड़ी बोली का भेद खोलने के लिये आगे बढ़ी हैं पर बुद्धि के दबाव के कारण वहीं ठिठककर रह गई हैं। उनसे कुछ करते-धरते नहीं बना है। सर्वप्रथम स्वर्गीय पंडित चंद्रधर शर्मा गुलेरीजी की विनोदात्मक निरुक्ति को लीजिए। किसी समय उन्होंने अपने एक वैयाकरण मित्र से हँसी में कहा था कि "खड़ी बोली उर्दू पर

से बनाई गई है, अर्थात् हिंदी मुसलमानी भाषा है।" उनके कहने का तात्पर्य[१] था—

"हिंदुओं की रची हुई पुरानी कविता जो मिलती है वह व्रजभाषा या पूर्वी बैसवाड़ी, अवधी. राजस्थानी, गुजराती आदि ही मिलती है अर्थात् 'पड़ी बोली' में पाई जाती है। खड़ी बोली या पक्की बोली या रेख़ता या वर्तमान हिंदी के आरंभ-काल के गद्य और पद्य को देखकर यही जान पड़ता है कि उर्दू रचना में फ़ारसी अरबी तत्सम या तद्भवों को निकालकर संस्कृत या हिंदी तत्सम या तद्भव रखने से हिंदी बना ली गई है। इसका कारण यही है कि हिंदू तो अपने अपने घरों की प्रादेशिक और प्रांतीय बोली में रँगे थे, उसकी परंपरागत मधुरता उन्हें प्रिय थी। विदेशी मुसलमानों ने आगरे, दिल्ली, सहारनपुर, मेरठ की 'पड़ी' भाषा को 'खड़ी' बनाकर अपने लश्कर और समाज के लिये उपयोगी बनाया, किसी प्रांतीय भाषा से उनका परंपरागत प्रेम न था।..... मुसलमानों में बहुतों की घर की बोली खड़ी बोली है।"

गुलेरीजी के कहने से इतना तो स्पष्ट है कि खड़ी बोली का मुसलमानों से पूरा पूरा संबंध है और उन्हों ने 'पड़ी' बोली को 'खड़ी' कर उसे अपनी भाषा बना लिया। उधर बेली महोदय की चेतावनी[२] है कि खड़ी बोली हिंदी भाषा का शब्द है और उसी की दृष्टि से उस पर विचार भी होना चाहिए। इस प्रकार के द्वंद्व में न पड़ हमें यह देख लेना है कि गुलेरीजी के उक्त कथन से खड़ी बोली का अर्थ कहाँ तक खुलता है। गुलेरीजी ने 'खड़ी बोली', 'रेख़ता' या 'पक्की बोली' को एक ही माना है। इसलिये हम यह नहीं कह सकते कि उन्होंने रेख़ता के 'गिरे-पड़े'

---

(१) ना० प्र० पत्रिका सं० १९७८ पृ० २४३-४४।
(२) ना० प्र० पत्रिका सं० १९९३ पृ० १०७, १०८

अर्थ के आधार पर खड़ी बोली के अर्थ की कल्पना की है बल्कि आसानी से यह कह सकते हैं कि उन्होंने खड़ी के वज़न पर 'पड़ी' को भी चालू कर दिया है। आश्चर्य की बात है कि गुलेरीजी ने 'खड़ी' और 'पक्की' को एक कर दिया है जब कि वास्तव में ये परस्पर विरोधी शब्द हैं। गुलेरीजी के 'लश्कर' शब्द में 'उर्दू' की भनक सुनाई पड़ती है पर उससे कुछ खड़ी बोली की निरुक्ति में मदद नहीं मिलती। निदान हमको कहना पड़ता है कि गुलेरीजी के इस विनोदात्मक कथन से हमारा कुछ बनता-बिगड़ता नहीं दिखाई देता। उनके 'खड़ी' 'पड़ी' के जोड़ को यहीं छोड़ अब कुछ मौलाना अब्दुल हक़ साहब की बात पर ध्यान दें। मौलाना हक़ का दावा[१] है—

"खड़ी बोली के माने हिंदोस्तान में आम तौर पर गँवारी बोली के हैं जिसे हिंदोस्तान का बच्चा बच्चा जानता है; वह न कोई ख़ास ज़बान है और न ज़बान की कोई शाख़।"

मौलवी साहब के इस दावे पर बहस करने की ज़रूरत नहीं। मेहरबानी करके उन्होंने इस दावे को नष्ट कर दिया है और कहा[२] है—

"हम समझते हैं कि कोई भी सिर्फ़ बोली जानेवाली ज़बान पाक साफ़ नहीं हो सकती। खड़ी बोली में इब्तदा में किसी क़िस्म का अदब नहीं मिलता। इसके यही माने होते हैं कि खड़ी बोली बोलने की ज़बान ज़रूर थी लेकिन वह अदबी ज़बान न थी। मुसलमानों ने इस ज़बान को तरक़्क़ी दी और इसे एक अदबी साँचे में ढाल दिया। उस वक़्त हिंदी में अमूमन् व्रजभाषा में नज़्म लिखी जाती थी। और उसमें जो मिठास और लोच था

(१) उर्दू (त्रैमासिक पत्रिका) जुलाई १९३३, पृ० ५९० ।
(२) उर्दू (त्रैमासिक पत्रिका) अपरैल १९३७, पृ० ४६३ ।

वह खड़ी बोली में नहीं था। और इसका नाम खड़ी बोली इसलिये रखा गया था कि यह बोली सख़्त थी और कानों को उतनी मीठी नहीं मालूम होती थी"।

अब मौलाना हक़ का कहना हुआ कि व्रजभाषा की अपेक्षा सख़्त होने के कारण इसका नाम खड़ी बोली रखा गया। कब और किस प्रकार रखा गया, किसने रखा आदि प्रश्नों का उत्तर नहीं दिया गया। ख़ैर, इस 'सख़्त' को लीजिए। यदि सच पूछिए तो 'सख़्त' 'कड़ी' का वाचक है न कि खड़ी का द्योतक। मौलाना साहब ने इस बार भी अर्थ देने में उतावली की। खड़ी को 'कड़ी' समझ लिया। पहली बार 'गँवारी बोली' और दूसरी बार 'सख़्त बोली'; देखें तीसरी बार 'खड़ी बोली' क्या रंग लाती है। शायद अब की बार आप इसे मरदानी बोली क़रार दें क्योंकि उर्दू को आपने 'औरतों की ज़बान' कहा है और उर्दू के कोषकार इसे 'मर्दों की बोली' मानते भी हैं। जो हो, हमें तो यह देखना है कि मौलाना साहब को इस 'सख़्त'* का इशारा कहाँ से मिला। डाक्टर धीरेंद्र वर्मा का अनुमान[१] है—

"व्रजभाषा की अपेक्षा यह बोली वास्तव में ख़ड़ी खड़ी लगती है, कदाचित् इसी कारण इसका नाम खड़ी बोली पड़ा।"

---

* श्री वंशीधरजी विद्यालंकार ने उर्दू (अपरैल सन् १९३४ ई०) में एक लेख लिखा है। मौलाना हक़ उससे प्रभावित हैं। पर 'खड़ी बोली' की कर्कश व्याख्या का निर्देश उससे भी पहले वर्माजी ने किया था, इसलिये उनका उल्लेख किया गया है। वंशीधरजी ने संस्कृत के 'खर' से 'खड़ी' को निकाला है और उसका अर्थ किया है "सख़्त, कठोर और खुरदरा, जिसमें किसी तरह की नरमी और नज़ाकत न हो।" फिर भी बात वही रही जो वर्माजी ने कही है। इस पर अलग विचार करने की ज़रूरत नहीं। पृ० ४७४।

(१) हिंदीभाषा का इतिहास (हिंदुस्तानी एकेडमी, सन् १९३३, पृ० ४१।

वर्माजी ने 'कदाचित्' शब्द को जान-बूझकर इसी लिये रख दिया था कि यह उनका निर्भ्रान्त या निश्चित मत न समझ लिया जाय। पर मौलाना साहब को यह बात पसंद न आई; उन्होंने 'कदाचित्' को साफ़ कर दिया और एक पक्की राय क़ायम कर ली।

'खड़ी खड़ी' से वर्माजी का वास्तविक तात्पर्य क्या है, यह हम ठीक ठीक नहीं कह सकते, किंतु इतना जानते अवश्य हैं कि 'खड़ी बोली' की 'कर्कशता' और ब्रजभाषा की 'मधुरता' को लेकर खड़ी बोली की 'खड़ी-खड़ी' 'उजड्ड' व्याख्या बराबर की जाती है। प्रायः लोग कहते यही हैं कि खड़ी बोली का अर्थ है 'भोंड़ी' या 'उजड्ड' बोली। इस निरुक्ति के विधाता, इसके अतिरिक्त कुछ और कह ही नहीं सकते कि ब्रजभाषा के प्रेमियों या भक्तों ने इस भाषा का यह नाम धरा। हो सकता है; पर हमें इसके संबंध में कुछ निवेदन कर देना है। हमारा वक्तव्य है कि इस प्रकार का प्रयोग व्यवहार में नहीं है और ब्रजवाले शायद इसका प्रयोग भी इस अर्थ में नहीं करते। यदि करते भी होंगे तो किसी भी ब्रजेतर बोली के लिये विशेषण के रूप में, संज्ञा के रूप में कदापि नहीं। रही बुंदेलखंड और मारवाड़ की बात, उस पर भी थोड़ा विचार कर लेना चाहिए। डाक्टर टी० ग्रैहम बेली का[१] निष्कर्ष है—

"सर जार्ज ग्रियर्सन ने कामताप्रसाद गुरु के 'हिंदी व्याकरण' पृ० २५ का जो संकेत अपने एक निजी पत्र में दिया है उसके लिये मैं उनका ऋणी हूँ। उसमें लिखा है कि बुंदेलखंड में खड़ी बोली को 'ठाढ़' बोली कहा जाता है। इस ठाढ़' शब्द का भी वस्तुतः 'खड़ा' ही अर्थ होता है। इसके अतिरिक्त डाक्टर बी० एस० पंडित ने, जिनकी मातृभाषा 'मारवाड़ी' है मुझे बताया है कि

(१) ना० प्र० पत्रिका सं० १९९३, पृ० १०६।

'मारवाड़ी' में 'खड़ी बोली' को 'ठाठ बोली' कहा जाता है। यहाँ 'ठाठ' का अर्थ खड़ा होता है। इस प्रकार इस बोली के हमें तीन नाम मिलते हैं और प्रत्येक का अर्थ खड़ी भाषा होता है।"

बेली महोदय के इस श्रम के लिये हम उनके कृतज्ञ हैं, पर विवेक के अनुरोध से उनसे सहमत नहीं हैं। जहाँ तक हमें पता है 'खड़ा' या 'ठाढ़' या 'ठाठ' का प्रयोग किसी निश्चित भाषा के लिये विहित नहीं है। विशेषण के रूप में इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग बोलचाल या व्यवहार में पाया जाता है। एक बहराइच के सज्जन ने गोंडा की बोली के लिये ठेठ 'ठाढ़' शब्द का प्रयोग किया था। इस प्रकार के विशेषणों का तात्पर्य यह होता है कि लोग अन्य बोलियों को उतना महत्त्व नहीं देते जितना अपनी जन्म बोली को। यह मानव-स्वभाव है कि सभी अपनी चीज़ को औरों से बढ़कर समझते हैं। इसमें किसी का दोष नहीं। दूसरे यह भी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि बुंदेलखंड का 'ठाढ़' और मारवाड़ का 'ठाठ' इस खड़ी बोली के 'खड़ा' के अनुवाद नहीं हैं। कारण, बुंदेलखंड या मारवाड़ के ग्रामीणों को इस बोली का पता क्या जो इसका नाम रखने जाते ? कामताप्रसाद गुरुजी ने तो स्पष्ट लिखा[1] है—

"बुंदेलखंड में इस भाषा (खड़ी बोली) को 'ठाढ़ बोली' या तुर्की कहते हैं।"

इससे प्रतीत तो यह होता है कि यह भाषा मुसलमानों के मुँह से ही उनके कान तक पहुँचती थी और वे इसी लिये इसे 'तुर्की' कहते थे और जब बाद में इसके लिये खड़ी बोली का नाम चल निकला तब 'ठाढ़' बोली कहने लगे। कुछ भी हो,

---

(१) हिंदी व्याकरण (ना० प्र० सभा) सं० १९८४, पृ० २५ (नोट)।

इससे खड़ी बोली की निरुक्ति में विशेष सहायता नहीं मिल सकती। अतएव इस पर विवाद व्यर्थ है।

खड़ी बोली की 'खड़ी खड़ी' व्याख्या का सूत्रपात व्रजभाषा और खड़ी बोली के द्वंद्व से होता है। भारतेंदु हरिश्चंद्र का कहना[१] है—

"जो हो, मैंने आप कई बेर परिश्रम किया कि खड़ी बोली में कुछ कविता बनाऊँ पर वह मेरे चित्तानुसार नहीं बनी। इससे यह निश्चय होता है कि व्रजभाषा ही में कविता करना उत्तम होता है और इसी से कविता व्रजभाषा में ही उत्तम होती है।"

इतने से भारतेंदुजी को संतोष नहीं हुआ। उन्होंने इसके कारण का पता लगाया और 'नई भाषा' में एक दोहा लिखा—

"भजन करो श्रीकृष्ण का मिल करके सब लोग।
सिद्ध हो गया काम औ छूटेगा सब सोग।"

इस कविता के विषय में वह स्वतः[२] कहते हैं:—"अब देखिए यह कैसी भोंडी कविता है। मैंने इसका कारण सोचा कि खड़ी बोली में कविता मीठी क्यों नहीं बनती तो मुझको सबसे बड़ा यह कारण जान पड़ा कि इसमें क्रिया इत्यादि में प्रायः दीर्घ मात्रा होती है, इससे कविता अच्छी नहीं बनती।"

भारतेंदुजी ने इसकी घोषणा 'हिंदीवर्द्धिनी सभा' इलाहाबाद में (सन् १८७७ ई० में) की थी। लोगों ने 'भोंडी' और 'मीठी' को चुन लिया। खड़ी बोली की 'भोंडी' या 'खड़ी खड़ी' व्याख्या चल पड़ी और धीरे धीरे जड़ पकड़ती गई। आज मैदान उसी के हाथ रहा।

व्रजभाषा के सामने जिस खड़ी बोली को 'खड़ी खड़ी' होना पड़ा, रेख़ता या उर्दू के सामने उसी को 'खरी खरी'। कुछ लोगों

(१) हिंदी भाषा (खड्गविलास प्रेस) सन् १८८३ ई० पृ० ३।
(२) " " " पृ० १४।

का कहना है कि व्रज-माधुरी के पुजारी 'ड़' को प्यार की दृष्टि से नहीं देखते। अतएव उन्होंने इसका नाम 'खरी' बोली रखा होगा और बाद में वह खड़ी हो गया होगा। उनकी[१] दृष्टि में 'खरी खरी सुनाने' के कारण इसका नाम खरी बोली पड़ा। इस प्रकार की व्याख्या को प्रमाद का परिणाम समझ हम 'खरी' की उस निरुक्ति पर विचार करना चाहते हैं जो बहुत दिनों से प्रचलित है और जिसका अर्थ 'शुद्ध' किया जाता है। इस मत के मनीषियों की दृष्टि में आरंभ में 'खरी बोली' नाम इसलिये रखा गया था कि इसमें म्लेच्छ भाषा के शब्द न थे। यह बिल्कुल शुद्ध भाषा थी। कुछ लोगों की धारणा[२] है कि 'खरी' का अर्थ 'टकसाली' है। यही खरी बिगड़कर खड़ी बन गई है। इस 'खरी' और 'खड़ी' के घपले का एक बहुत अच्छा उदाहरण इस्टविक महोदय के कोष में है। 'खड़ा' का अर्थ देते हुए उन्होंने लिखा[३] है—

"खड़ा, Erect, upright, steep, standing. 2. Genuine, pure when it = खरा Khaṛa.

यद्यपि Khaṛa में उन्होंने 'ड़' का स्पष्ट निर्देश कर दिया है तथापि नागरी के 'खरा' और प्रकरण के विचार से उनको 'खरा' ही अभीष्ट है। उनकी दृष्टि में जब खड़ा 'खरा' का पर्याय होता है तब उसका अर्थ शुद्ध होता है। सीधे 'खरा' में उन्हें यह अर्थ दिखाई नहीं देता। किंतु खड़ी बोली के प्रसंग में हम उन्हें अधिक सचेत पाते हैं। वहाँ भी वे 'खड़ा' का अर्थ 'शुद्ध' करते हैं, पर 'खरी' को भुलाकर। 'खरी' का उल्लेख नहीं करते। देखिए[४] —

---

(१) कविता-कौमुदी, द्वितीय भाग 'ख० क० इतिहास' पृ० ८।
(२) हिंदी भाषा और साहित्य, द्वि० संस्करण, पृ० ३० (नोट)।
(३) प्रेमसागर नवीन संस्करण सन १८५१ ई० (हर्टफ़ोर्ड) कोष।
(४) 　"　　"　　"　प्राक्कथन पृ० ४०।

"खड़ी बोली Khariboli, The true genuine language, i.e. the pure Hindi."

आश्चर्य है कि डाक्टर बेली जैसे पारखी समीक्षक ने इस्टविक महोदय की genuine व्याख्या पर ध्यान नहीं दिया और pure को 'खरी' का अनुवाद मात्र मान लिया। उनसे ऐसा क्यों हो गया, इसके भी कारण हैं। पहला कारण तो कोष में 'खरा' का विधान है और दूसरा खड़ी बोली की निजी निरुक्ति। उनके विचार में[१] —

"खड़ी शब्द का अर्थ है उठी और जब यह किसी भाषा के लिये पहले प्रयुक्त हुआ होगा तब उसका अर्थ 'प्रचलित' रहा होगा।"

अन्यत्र वे स्वत: कहते हैं[२] —

"My own explanation is that the word means simply 'standing', then 'existing', 'current', established."

इस प्रकार बेली महोदय ने इस्टविक महोदय के genuine को छोड़ दिया और केवल उनकी 'खरी' को जनता के सामने रखा। उनके current अर्थ पर आगे चलकर विवाद होगा। यहाँ कुछ इस्टविक साहब के genuine पर ध्यान देना चाहिए।

इसमें तो किसी भी जानकार को संदेह नहीं होना चाहिए कि 'खड़ा' का genuine या 'प्रकृत' अर्थ सर्वथा सत्य है। 'खड़ा' का अर्थ है 'अपने वास्तविक रूप में'। यद्यपि यह अर्थ उतना प्रचलित नहीं है जितना standing तथापि यह बराबर व्यवहार में प्रयुक्त होता है। हिंदी शब्दसागर में 'खड़ा' के अनेक अर्थ दिए गए हैं जिनमें हमारे काम के ये हैं—

(१) ना० प्र० पत्रिका सं० १९९३, पृ० १०६।
(२) ज० रो० ए० सु० सन् १९२६ ई०, पृ० ७२२।

"खड़ा = (९) बिना पका। असिद्ध। कच्चा। जैसे खड़ा चावल। (१०) समूचा। पूरा। जैसे,—खड़ा चना चबाना।"

अब इन अर्थों पर मनन कीजिए और देखिए कि 'प्रकृत' के पास तक पहुँचते हैं अथवा नहीं। 'खड़ा चना चबाना' में समूचे के साथ कच्चा का भी विधान है। जब हम किसी पर क्रोध कर 'खड़ा चबा जाने' की धमकी देते हैं तब हमारा मतलब पूरे, आधे या अंश से नहीं होता। बल्कि हम यह प्रकट करना चाहते हैं कि हम इतने कठोर और नृशंस हैं कि तुम्हें योंही हज़म कर जायँगे, पकाने की भी ज़रूरत नहीं पड़ेगी। इसी प्रकार 'खड़ा चावल' का मतलब होता है कि चावल अपने असली रूप में ही रह गया। पक न सका। उसका भात न बना। अस्तु, हम देखते हैं कि 'खड़ा' का 'प्रकृत' या 'ठेठ' अर्थ चालू है, गढ़ंत या काल्पनिक नहीं। ठेठ का अर्थ है—

"(२) जिसमें कुछ मेल-जोल न हो। ख़ालिस" तथा "(३) शुद्ध। निर्मल। निर्लिप्त।" निदान हम कह सकते हैं कि खड़ी बोली का अर्थ है 'प्रकृत', 'ठेठ' या शुद्ध बोली। अब इस 'शुद्ध' के लिये 'खरी' के पास दौड़ लगाने या इधर-उधर बगल झाँकने की ज़रूरत नहीं। यह 'शुद्ध'; 'खड़ी' का ठेठ अर्थ हो गया जो ज़रा बुद्धि दौड़ाने से सूझ पड़ा।

यह तो हमने देख लिया कि खड़ी बोली का एक अर्थ शुद्ध या खरी बोली भी हो सकता है। अब हमें सिद्ध यह कर देना चाहिए कि वस्तुतः यही खड़ी बोली की मूल निरुक्ति है। इस खड़ी का 'खरी' से कोई अर्थगत विरोध नहीं, केवल रूपगत विवाद है। अतएव इसे यहीं छोड़ अब बेली महोदय के current या 'प्रचलित' अर्थ को लीजिए। सौभाग्य से डाक्टर बेली ने यह

मान[1] लिया है कि डाक्टर गिलक्रिस्ट ने इस शब्द का प्रयोग लल्लूजीलाल तथा सदल मिश्र से सीखा। अस्तु, हमें देखना यह चाहिए कि खड़ी बोली का प्रयोग उक्त विद्वानों ने किस अर्थ में किया। पहले सदल मिश्र के प्रयोग पर ध्यान दीजिए। उनका[2] कहना है।

"अब संवत् १८६० में नासिकेतोपाख्यान को कि जिसमें चंद्रावती की कथा कही है, देववाणी से कोई कोई समझ नहीं सकता, इसलिये खड़ी बोली में किया।"

मिश्रजी की खड़ी बोली का वास्तविक अर्थ 'प्रचलित' बोली हो सकता है और डाक्टर बेली का अनुमान ठीक निकल सकता है। पर 'खड़ी' का अर्थ 'प्रचलित' किस प्रकार संभव है, कुछ इस पर भी ग़ौर कर लेना चाहिए। 'खड़ी' का इस प्रकार का व्यवहार नहीं मिलता। 'प्रस्तुत' या 'तैयार' के अर्थ-विस्तार से 'प्रचलित' अर्थ निकाला जा सकता है। पर वह अर्थ नहीं; खींचतान होगी। दूसरी बात यह है कि मिश्रजी ने इसके पहले 'भाषा' का नाम लिया है। वे[3] कहते हैं—

"तिनकी आज्ञा पाय दो-एक ग्रंथ संस्कृत से भाषा वो भाषा से संस्कृत किए।"

'भाषा' से उनका तात्पर्य यदि काव्यभाषा से है तो 'खड़ी बोली' का अर्थ और भी विचारणीय है। देववाणी के साथ 'खड़ी बोली' और संस्कृत के साथ 'भाषा' का व्यवहार दैवयोग से हो गया है अथवा जान-बूझकर किया गया है यह भी एक प्रश्न है। जो हो, इतना तो निर्विवाद है कि मिश्रजी की 'खड़ी बोली' उनकी निजी

---

(१) ना० प्र० पत्रिका सं० १९९३, पृ० ११०।
(२) नासिकेतोपाख्यान, भूमिका पृ० २।
(३) ,, ,, पृ० २।

या उनके यहाँ की 'प्रचलित' बोली नहीं है और उसमें अरबी-फ़ारसी के प्रचलित शब्द भी नहीं हैं। सदल मिश्र ने भी उसी प्रकार 'भाषा' और 'खड़ी बोली' में रचना की जिस प्रकार लल्लूजी लाल ने 'व्रजभाषा' और 'खड़ी बोली' में पुस्तकें लिखीं।

लल्लूजीलाल ने प्रेमसागर की भूमिका में लिखा है—

"श्री श्रीयुत गुन-गाहक गुनियन-सुखदायक जान गिलकिरिस्त महाशय की आज्ञा से संवत् १८६० में श्रीलल्लूजीलाल कवि ब्राह्मन गुजराती सहस्र अवदीच आगरेवाले ने विसका सार ले, यामनी भाषा छोड़, दिल्ली आगरे की खड़ी बोली में कह, नाम 'प्रेमसागर' धरा।"

लल्लूजी के इस कथन में 'यामनी भाषा', 'दिल्ली आगरे', 'खड़ी बोली' मार्के के पद हैं। यामनी भाषा से उनका तात्पर्य मुसलमानी या उर्दू से है न कि फ़ारसी-अरबी से। लल्लूजी ने इसके पहले 'रेख़ते की बोली' में पोथियाँ बनाई थीं। उनका[1] कहना है—

"एक दिन साहिब ने कहा कि—

'व्रजभाषा में कोई अच्छी कहानी हो, उसे रेख़ते की बोली में कहो।'

मैंने कहा 'बहुत अच्छा, पर इसके लिये कोई पारसी लिखनेवाला दीजे, तो भली भाँति लिखी जाय।"

लल्लूजी को पारसी लिखनेवाले मिले और उन्होंने[2] "एक वरष में चार पोथी का तरजुमा व्रजभाषा से रेख़ते की बोली में किया।" इनके सिवा व्रजभाषा में राजनीति की रचना की। अब उनसे 'रेख़ते की बोली' और 'व्रजभाषा' में रचना करने को

(१) लालचंद्रिका, कवि का परिचय, पृ० १।
(२) " " "

नहीं कहा गया बल्कि उन्हें 'खड़ी बोली' में लिखने की आज्ञा मिली। लल्लूजी[1] ने—

"यामनी भाषा छोड़, दिल्ली आगरे की खड़ी बोली में" रचना की।

'खड़ी' के लिये उन्हें 'यामनी भाषा' यानी उर्दू या 'रेख़ते की बोली' को छोड़ना पड़ा। यह 'खड़ी' 'प्रचलित' न थी बल्कि खड़ी थी। इसका पुष्ट और अकाट्य प्रमाण यह है कि लल्लूजी की लालचंद्रिका की भूमिका में यामनी शब्द प्रयुक्त हैं। हम उसी भाषा को लल्लूजी की निजी या प्रचलित भाषा मानते हैं। कारण, उसमें किसी की आज्ञा का पालन या किसी व्रत का विधान नहीं है। केवल अपने मन की बात अपनी भाषा में साफ़ साफ़ कही गई है। उसमें किसी नियम या क़ैद की पाबंदी नहीं है, मन की मौज है। इसको सामने रखकर अब इस बात पर ध्यान दीजिए कि यदि उसका अर्थ 'प्रचलित' होता तो उसके पहले दिल्ली-आगरे का उल्लेख क्यों होता? हमारी तुच्छ बुद्धि में तो यही आता है कि 'खड़ी' का वास्तविक अर्थ है प्रकृत, ठेठ (निरा, ख़ालिस, शुद्ध भी) न कि प्रचलित। लल्लूजी ने प्रेमसागर में फारसी-अरबी शब्दों को छोड़ दिया क्योंकि वे प्रचलित होते हुए भी खड़ी बोली या ठेठ न थे। साथ ही उनको उस ठेठ का प्रचार करना या साहबों को परिचय देना था जो दिल्ली आगरे की ठेठ बोली हो, ग्रामीणों की गँवारी नहीं। उनको ऐसा इसलिये करना पड़ा कि मीर अमन आदि के द्वारा दिल्ली-आगरे की 'यामनी' का पूरा पूरा प्रचार हो रहा था और व्रजभाषा का परिचय वे स्वयं करा चुके थे; अब उन्हें केवल 'खड़ी' का रूप साहबों को दिखाना रह गया था; जिसके लिये खड़ी बोली का विधान करना पड़ा। आगरा के विषय में

(१) प्रेमसागर की भूमिका।

भूलना न होगा कि शाहजहाँ के समय तक वह मुग़ल शासकों का प्राय: केंद्र रहा है और उर्दू उन्हीं के घर की चीज़ मानी जाती है।

गिलक्रिस्ट साहब ने लल्लूजीलाल से खड़ी बोली में लिखने को कहा था और मीर अमन से 'ठेठ हिंदुस्तानी' में। अच्छा होगा, इसे उन्हीं के मुँह[1] से सुन लें—

"जान गिलक्रिस्ट साहब ने हमेश: अक़बाल उनका ज़ियादह रहे जब तलक गंगा जमुना बहे लुत्फ़ से फ़रमाया कि—

'इस क़िस्से को ठेठ हिंदुस्तानी गुफ़्तगू में जो उर्दू के लोग हिंदू मुसलमान, औरत मर्द, लड़के बाले, ख़ास व आम आपस में बोलते चालते हैं तरजुम: करो।'

मुवाफ़िक़ हुक्म हुज़ूर के मैंने भी उसी मुहाविरे से लिखना शुरू किया जैसे कोई बातें करता है।"

मीर अमन ने उर्दू यानी उर्दू-ए-मुअल्ला यानी शाहजहानाबाद के लालक़िले की बोलचाल को लिया और उसी 'उर्दू की ज़बान' में 'बाग़ोबहार' की रचना की। लल्लूजी ने इस 'उर्दू की ज़बान' को 'यामनी' समझा और दिल्ली आगरे की उस खड़ी बोली को पकड़ा जो 'खड़ी' थी यानी उर्दू-ए-मुअल्ला की खराद पर नहीं चढ़ी थी, पक्की या रेख़ता नहीं बनी थी; बल्कि उसके बाहर के हिंदुओं या हिंदियों की बोलचाल की बोली थी। मीर अमन ने बातचीत का ढंग पकड़ा और लल्लूजीलाल ने व्रजभाषा के लालित्य या काव्यभाषा का।

खड़ी बोली की वास्तविक निरुक्ति बहुत कुछ इस बात पर भी निर्भर है कि उसके कर्णधार स्वयं गिलक्रिस्ट साहब ने उसका अर्थ क्या समझा? हमें बेली महोदय का कृतज्ञ होना चाहिए कि

---

(१) बाग़ोबहार (न० कि० प्रेस) पृ० ३।

इन्होंने अपने श्रम से इसे भी खोज निकाला। गिलक्रिस्ट साहब[१] कहते हैं—

"मुझे बड़ा खेद है कि व्रजभाषा के साथ साथ खड़ी बोली का परित्याग कर दिया गया था। हिंदुस्तानी की यह विशिष्ट पद्धति या शैली (This particular idiom or style of the Hindoostanee) इस भाषा के विद्यार्थियों के लिये बहुत ही अधिक लाभदायक सिद्ध होती।" डाक्टर गिलक्रिस्ट के इस खेद को देखकर उन लोगों को सचेत हो जाना चाहिए जो बात बात में उर्दू का दम भरते और खड़ी बोली या हिंदी को हौवा या कल की चीज़ समझते हैं। उर्दू वालों ने 'मतरुक' का जो अस्त्र निकाला उसने 'आँख' और 'कान' जैसे प्यारे और घरेलू शब्दों को साफ़ कर दिया और उनकी जगह[२] 'चश्म' और 'गोश' को जमा दिया। ख़ैर, गिलक्रिस्ट साहब के idiom or style से स्पष्ट है कि उनकी दृष्टि में खड़ी बोली कोई स्वतंत्र भाषा नहीं बल्कि हिंदुस्तानी की एक शैली विशेष मात्र थी। यह खड़ी बोली क्या थी। इसे भी देख लें[३]—

"शकुंतला का दूसरा अनुवाद खड़ी बोली अथवा भारतवर्ष की निर्मल बोली में (or sterling tongue of India) है।

---

(१) ना० प्र० पत्रिका सं० १९९३, पृ० ११२ ('दी ओरिएंटल फ़ेबुलिस्ट' सन् १८०३ ई०, पृ० ५)। बेली महोदय का मूल लेख लन्दन के ओरिएंटल विभाग के सन् १९३६ ई० के बुलेटिन में छपा है। विचारणीय अंश अपने मूल रूप में अवतरित हैं। डाक्टर गिलक्रिस्ट के शब्दों का ठीक अनुवाद न होने से उन्हें उद्धृत कर दिया गया है। स्थान और समय के विचार से पूरा अवतरण अँगरेज़ी में नहीं दिया गया। जिज्ञासु पाठक मूल देखने का कष्ट करें।

(२) जलव-ए-ख़िज़्र, द्वि० भाग, सन् १८८५ ई०, पृ० ३२९।

(३) ना० प्र० पत्रिका सं० १९९३ पृ० ११२ ('दी हिंदी-रोमन आर्थोएपिग्राफिक अल्टिमेटम' सन् १८०४ ई०, पृ० १९)।

हिंदुस्तानी से इसका भेद केवल इसी बात में है कि इसमें अरबी और फ़ारसी का प्रत्येक शब्द छाँट दिया गया है।"

पाठकों को इस बात का पता होगा कि शकुंतला का एक अनुवाद[1] 'रेख़ते की बोली' में पहले भी हो चुका था। अब इस अनुवाद की आवश्यकता[2] इसलिये पड़ी कि 'उर्दू' से 'भाषा' में परिवर्तन सुगम हो और विद्यार्थी ठेठ या देशी शब्दों से अभिज्ञ हों। 'भाषा' से गिलक्रिस्ट साहब का मतलब गँवारी और 'उर्दू' से दरबारी भाषा है। खड़ी बोली को वे आमफ़हम और आम-पसंद यानी सरल और सर्वप्रिय समझते थे। इसी लिये उसकी चिंता में मग्न थे, कुछ किसी चाल या लोभ के कारण नहीं जैसा कि कुछ लोग प्रमादवश समझते हैं। खड़ी बोली उनके लिये 'शुद्ध हिंदवी ढंग की हिंदुस्तानी' थी, कुछ पंडिताऊ नहीं।

डाक्टर गिलक्रिस्ट की 'हिंदवी' को देखकर सैयद इंशाअल्लाह ख़ाँ का 'हिंदवी छुट' याद आ गया। प्रसंगवश कुछ उस पर भी विचार कर लीजिए और देखिए कि किस प्रकार मौज में आकर उन्होंने 'खड़ी बोली' को भी नाज़नी बना दिया है। उनकी समझ में यह बात ठीक नहीं जँचती थी कि अरबी-फ़ारसी के बिना कोई रचना नहीं हो सकती। निदान उन्होंने 'हिंदवी छुट' का व्रत लिया और उसको निबाह भी दिया। सैयद साहब का संकल्प था[3]—

"हिंदवी छुट और किसी बोली का पुट न मिले, तब जाके मेरा जी फूल की कली के रूप खिले। बाहर की बोली और गँवारी कुछ उसके बीच में न हो।"

---

(१) लालचंद्रिका, कवि का परिचय।

(२) ना० प्र० पत्रिका सं० १९९३ पृ० ११०।

(३) रानी केतकी की कहानी, आरंभ में 'भाषा' का यह अर्थ डाक्टर गिलक्रिस्ट का निजी अर्थ है। इस पर अन्यत्र विचार किया जायगा।

सैयद इंशा की गँवारी का मतलब मौलाना हक़ की 'गँवारी' यानी 'खड़ी बोली' नहीं है बल्कि डाक्टर गिलक्रिस्ट की 'गँवारी' यानी 'भाषा' है। उनकी 'हिंदवी छुट' का अर्थ है[1] —

"बस जैसे भले लोग अच्छों से अच्छे आपस में बोलते-चालते हैं ज्यों का त्यों वही डौल हो और छाँह किसी की न हो।"

गिलक्रिस्ट की 'खड़ी बोली' का तात्पर्य है जैसे 'भले लोग आपस में बोलते-चालते हैं'। गिलक्रिस्ट को 'अच्छे से अच्छे' यानी उर्दू-ए-मुअल्ला के लोगों की ज़रूरत न थी। लल्लूजी लाल का भी काम दिल्ली आगरे के भले लोगों से चल गया। किंतु उनको व्रजभाषा के लालित्य के लिये बोलचाल से आगे बढ़कर काव्य का पक्ष लेना पड़ा। फिर भी उनकी बोली खड़ी रही। 'बाहर की बोली' का उसमें मेल-जोल नहीं हुआ। यदि कहीं उसकी गंध मिली तो उन्हें उसकी परख न हो सकी। अस्तु, हम देखते हैं कि सैयद इंशा की 'हिंदवी छुट' और गिलक्रिस्ट की 'खड़ी बोली' का वस्तुतः एक ही अर्थ है। सैयद इंशा की किताब 'ठेठ हिंदी' की किताब कही जाती है। यही 'ठेठ' 'खड़ी' के लिये भी लागू है। 'खड़ी बोली' को डा० गिलक्रिस्ट ने sterling tongue कहा है। sterling का अर्थ है बिना मिलावट की, अपने असली रूप में, खड़ी; मिश्र, मिली हुई या खोटी नहीं; बल्कि खरी, शुद्ध, प्रकृत, ठेठ आदि। आश्चर्य की बात है कि विद्यालंकार[2] जी ने इस क्रम को उलट दिया और 'सख़्त' से सच्ची या 'हक़ीक़ी' को इसलिये निकाला कि सचाई में सख़्ती होती है।

अब डाक्टर बेली की प्रचलित भाषा (current language) को लीजिए। भाग्यवश, डाक्टर गिलक्रिस्ट ने कहीं भी खड़ी बोली

---

(१) देखो पिछले पृष्ठ (२६७) की टिप्पणी नं० ३।
(२) उर्दू, अपरैल सन् १६३४ ई०, पृ० ४७४।

की व्याख्या में current language का निर्देश नहीं किया है बल्कि pure शुद्ध या खरी का प्रयोग किया है। परंतु, जैसा कि डाक्टर बेली ने सिद्ध कर दिया है, कभी गिलक्रिस्ट ने 'खरी' का प्रयोग नहीं किया है सर्वत्र उसको 'खड़ी' ही लिखा है। निदान, हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि खड़ी बोली ही मूल और शुद्ध नाम है तथा प्रकृत या ठेठ ही इसका असली अर्थ है, 'प्रचलित' या 'खड़ी खड़ी' नहीं। 'खड़ी' शब्द के इस अर्थ को भुला देने का परिणाम यह हुआ कि 'खड़ी बोली' की निरुक्ति एक पहेली हो गई और लोग उसकी मनमानी व्याख्या करने लगे। हिंदी में भी 'खड़ी' की जगह 'खरी' का[1] प्रयोग होने लगा और वह व्रजभाषा के सामने 'खड़ी खड़ी' या 'खरी खरी' समझी जाने लगी। उर्दू में इसका असली अर्थ क़ायम रहा लेकिन वह गँवारी का वाचक समझा गया। ऐसा क्यों हुआ? इसका कारण प्रत्यक्ष है। बन-सँवरकर निराली सज-धज के साथ जो ज़बान मुसलमानी के रूप में मजलिसों में फैली और उर्दू के नाम से 'ख़ासपसंद' हुई उसने अपनी बनावट से यारों को इतना मोह लिया कि उनकी नज़र बिल्कुल बदल गई और उन्होंने नक़ली को असली मान लिया। फिर असली को

---

(१) श्री हरसहायलाल वर्माजी ने "हिंदी शकुंतला नाटक" की भूमिका में लिखा है—

"संस्कृत शकुंतला में दो भाषा प्रयुक्त हैं—संस्कृत और प्राकृत। मैंने इस भेद को दर्शाने के हेतु अपने अनुवाद में भी दो बोली रक्खी है—संस्कृत के बदले खरी बोली, और प्राकृत के बदले व्रजबोली। व्रजबोली रखने का हेतु यह है कि एक तो यह स्त्री प्रभृति मितवादियों के लिये अपने माधुर्य से उपयुक्त है, दूसरा यह कि अन्य देश-बोलियों की अपेक्षा यह हिंदी-पाठकों में अधिक प्रचलित है।"

वर्माजी ने सर्वत्र 'खड़ी' की जगह 'खरी' का ही प्रयोग किया है। यह अनुवाद सन् १८९४ ई० में पहली बार छपा था।

गँवारी और फूहड़ न कहें तो नाज़बरदारी का दम कैसे भरें। क़द्रदानी की सनद भी तो कोई चीज़ है। बस, मौलाना हक़ ने उर्दू वालों की स्थिति स्पष्ट कर दी। उनके विचार में—

"कोई भी सिर्फ़ बोली जानेवाली ज़बान पाक साफ़ नहीं हो सकती"। न हो। पर हमें तो स्पष्ट कह देना है कि भाषा-विशारदों की दृष्टि में वही पाक साफ़ ज़बान है जो बोल में है किताब या मजलिस में नहीं। अस्तु, हम देखते हैं कि खड़ी बोली का प्रकृत अर्थ उर्दू वालों को भी मान्य है, चाहे यह उनके लिये अशिष्ट और भद्दा ही क्यों न हो।

खड़ी बोली की निरुक्ति के विषय में कुछ और कहने की ज़रूरत नहीं। प्रसंगवश इतना और जान लेना चाहिए कि खड़ी बोली का प्रयोग एक निश्चित बोली के अर्थ में बहुत पहले ही हो गया था और बोल के अर्थ में इसका रेख़ते की बोली से कोई विशेष भेद न होने से उसी बोल के लिये चालू था। कुछ लोगों की धारणा है कि 'सीधी' के अर्थ में खड़ी बोली का प्रयोग चल पड़ा है। आज भी हमें इस प्रकार के वाक्य सुनाई दे जाते हैं कि—"हम अरबी-तड़बी नहीं जानते सीधी भाषा में क्यों नहीं कहते।" संभव है, इस 'सीधी भाषा' ने 'खड़ी बोली' का रूप धारण कर लिया हो अथवा खड़ी बोली को सीधी भाषा का रूप मिल गया हो। कुछ भी हो, इतना स्पष्ट है कि खड़ी बोली का प्रकृत या ठेठ अर्थ ही साधु है 'खड़ी खड़ी' या 'खरी' नहीं। इस 'सीधी' का भी अर्थ वही होगा जो 'खड़ी' का। इसलिये इनके झगड़े में पड़ने से लाभ नहीं, व्यर्थ की बकवाद है। हाँ, तो कहना यह था कि जब उर्दू वालों ने 'हिंदी' शब्द को मतरूक कर अपनी ज़बान को उर्दू क़रार दे दिया और हिंदीवालों ने परम्परागत भाषा के अर्थ में उसे अपना लिया तब वह खड़ी बोली, अवधी और

व्रजभाषा के साथ, एक देशभाषा के रूप में सामने आई और उसके साहित्य तथा देश की चिंता हुई। इस प्रकार खड़ी बोली के अर्थ में परिवर्त्तन हुआ और उसका प्रयोग ठीक व्रजभाषा के ढंग पर होने लगा। वह काव्य भाषा के रूप में दिखाई देने लगी। उस पर जब भाषा-विशारदों की दृष्टि पड़ी तो वे उसके बोल का पता लगाने लगे। होते होते यह उचित जान पड़ा कि खड़ी बोली का प्रयोग केवल बोली के अर्थ में किया जाय और साहित्य के अर्थ में हिंदी भाषा का प्रयोग किया जाय। भविष्य की हम नहीं कहते, पर इतना जानते हैं कि अभी खड़ी बोली का सांकेतिक अर्थ निश्चित या सर्वमान्य नहीं हुआ है। इसका प्रयोग बोली, देश-भाषा तथा साहित्य या काव्य भाषा के भी अर्थ में होता है और शायद अभी कुछ दिन होता रहेगा। हम लोगों का एकमत होना ज़रा कठिन है, पर प्रयत्न तो होना ही चाहिए।

---

(११) ढोला-मारू रा दूहा का परिचय *

[लेखक—स्वर्गवासी श्री मुंशी अजमेरी, झाँसी]

"ढोला मारू रा दूहा" नाम का सुंदर ग्रंथ नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी, से प्रकाशित 'बालाबख्श चारण राजपूत ग्रंथमाला' का छठा ग्रंथ है। यह राजस्थानी भाषा का एक सुप्रसिद्ध, प्राचीन लोक-गीत है, जो पाठांतर, हिंदी-अनुवाद, टिप्पणी, शब्दकोश, परिशिष्ट और प्रस्तावना के साथ संपादित हुआ है। इसके संपादक हैं श्रीयुत ठाकुर रामसिंहजी, श्रीयुत पंडित सूर्यकरणजी पारीक और श्रीयुत पंडित नरोत्तमदसाजी स्वामी। तीनों ही सज्जन एम० ए० और विशारद हैं। ठाकुर साहब बीकानेर राज्य में शिक्षा-विभाग के डाइरेक्टर हैं और श्री पारीकजी एवं स्वामीजी हैं बिड़ला कालेज पिलाणी (जयपुर) में प्रोफेसर। इन तीनों महानुभावों ने राजस्थानी साहित्य के उद्धारार्थ परिश्रम करना प्रारंभ कर दिया है। उसी परिश्रम का सु-फल यह ग्रंथ है। यह विश्वविश्रुत विद्वान् महामहोपाध्याय रायबहादुर श्री गौरीशंकर-हीराचंद ओझा के कर-कमलों में समर्पित किया गया है। तीन पृष्ठों में समर्पण, निवेदन और विषय-सूची है, फिर १५ पृष्ठों में भूमिका एवं इतिहासमूर्त्ति महामहोपाध्याय श्री गौरीशंकर-हीराचंदजी ओझा, विद्याभूषण पुरोहित श्री हरिनारायणजी शर्मा, बी० ए० और स्वनाम-धन्य सेठ श्री घनश्यामदासजी बिड़ला के लिखे प्रवचन हैं। फिर

---

* यह लेख दो खंडों में लिखा गया था—एक में परिचय था और दूसरे में आलोचना। ये दोनों खंड पंडित केशवप्रसादजी मिश्र की कृपा से प्राप्त हुए हैं। पहला खंड यहाँ प्रकाशित किया जाता है। दूसरा खंड आगे प्रकाशित किया जायगा।—सं०।

२१० पृष्ठों में विद्वान् संपादकों की लिखी प्रशस्त प्रस्तावना और ३ पृष्ठों में सहायक पुस्तकों की सूची है। तदनंतर २३१ पृष्ठों के पश्चात् २२५ पृष्ठों में टीका-टिप्पणी-सहित सचित्र मूल ग्रंथ है। मूल ग्रंथ के पीछे परिशिष्ट है। इसमें ढोला-मारू विषयक उन प्रतियों का विवरण है, जो संपादकों को प्राप्त हुई हैं और जिन्हें देखकर इस ग्रंथ का संपादन किया गया है। तत्पश्चात् इस ग्रंथ में आए हुए कठिन शब्दों का व्युत्पत्ति सहित अर्थ, अकारादि-क्रम से शब्दकोश और दोहों की अनुक्रमणिका देकर ग्रंथ समाप्त किया गया है, इसलिये मूल ग्रंथ को मिलाकर परिशिष्ट की समाप्ति ६६४ पृष्ठों में होती है। इस प्रकार २३१ + ६६४ = ८९५ पृष्ठों में यह ग्रंथ समाप्त हुआ है। पृष्ठ रायल अठपेजी आकार के हैं। इसमें तीन रंगीन सुंदर चित्र भी हैं। इस सजिल्द ग्रंथ का मूल्य ४ रु० है, जो इसकी विशालता, सुंदरता और उपादेयता को देखते हुए अधिक नहीं जान पड़ता।

निवेदन में हणोतिया (जयपुर) के स्वर्गीय बारहट बाला-बख्शजी द्वारा 'नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी' को दिए हुए दान का और उससे, उनके नाम से निकलनेवाली ग्रंथमाला का उल्लेख है। भूमिका में संपादकों ने बतलाया है कि किस प्रकार बीकानेर के महाराज पृथ्वीराज राठौड़ की 'क्रिसन-रुकमणी री वेलि' का संपादन करते समय उन्हें इस ग्रंथ की अनेक प्रतियाँ देखने को मिलीं और इसका संपादन करने की उन्हें इच्छा हुई और फिर किस परिश्रम से उन्होंने १६-१७ प्रतियाँ एकत्र करके पाँच वर्ष में इस ग्रंथ का संपादन किया। प्रवचनों में यह ग्रंथ पुराना—कम से कम पाँच सौ वर्ष पुराना—बतलाया गया है, साथ ही इसकी और इसके सुयोग्य संपादकों की यथेष्ट प्रशंसा की गई है। श्रीयुत बिड़लाजी ने कुछ दोहे भी उद्धृत कर दिए हैं, जिनमें मारवाड़ का वर्णन बहुत

अच्छा है, अतः उनका प्रवचन विशेष आकर्षक हुआ है। वैसे प्रवचन तीनों अच्छे हैं। उनमें थोड़े में बहुत कह दिया गया है।

प्रस्तावना बहुत बड़ी है। उसके दो भाग हैं, पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध। पूर्वार्द्ध में 'ऐतिहासिक विवेचन और साहित्यिक आलोचना' है। यह बारह शीर्षकों में विभक्त है और इन बारह के अंतर्गत भी अनेक शीर्षक हैं। पूरा परिचय देने से लेख बहुत बढ़ जायगा। शीर्षकों की नामावली से ही पाठक महत्ता का अनुमान कर सकते हैं। शीर्षक हैं :—प्राक्कथन, ढोला-मारू रा दूहा काव्य का परिचय, ऐतिहासिक विवेचन, कवि या लेखक, काव्य की संक्षिप्त कथा, लोक-गीत, प्रबंध कल्पना और वर्णन, ढोला-मारू एक प्रेम-कहानी, ढोला-मारू का प्रेम-वर्णन, ढोला-मारू का वियोग-शृंगार, ढोला-मारू का संयोग-शृंगार, यात्रा-वर्णन और भौगोलिक स्थिति। उत्तरार्द्ध में भाषा और व्याकरण का विवेचन किया गया है। इसमें प्राक्कथन, अपभ्रंश का विकास, उत्तरकालीन अपभ्रंश अथवा लोकभाषा का विकास, राजस्थानी का विकास, ढोला-मारू की भाषा, ढोला-मारू काव्य का व्याकरण, सर्वनाम, क्रियारूप, प्रत्यय और अव्यय, ये दस शीर्षक हैं, जिनके अंतर्गत अनेक शीर्षक हैं। इनके आगे 'वर्त्तमान संस्करण' शीर्षक में रूपांतरों के नंबर दिए गए हैं, जिनसे जाना जा सकता है कि ढोला-मारू की जो १६-१७ प्रतियाँ एकत्र की गई थीं, उनमें से कौन प्रति कैसी है और किस प्रति को संपादकों ने क. और किसको ख. ग. घ. इत्यादि माना है। अंत में सहायक पुस्तकों और पत्रिकाओं की सूची देकर यह प्रस्तावना समाप्त की गई है। प्रस्तावना वास्तव में बहुत बड़ी हो गई है और इसमें बहुत विषयों का समावेश किया गया है। इसलिये कदाचित् किसी को ऐसा ज्ञात हो कि प्रस्तावना के मिस से पांडित्य की एक बहुत बड़ी पोटली बेचारे

ढोला-मारू के मत्थे मढ़ दी गई है। पर, वास्तव में बात बिलकुल ऐसी नहीं है। इसकी इतनी विशालता में मूल प्रसंग ढोला-मारू छूटने नहीं पाया, वह सर्वत्र साथ है। वैसे यह भाषा-विज्ञान-विषयक एक सुंदर निबंध है, पर इसमें जो कुछ लिखा गया है, ढोला-मारू को लेकर। यही इसकी विशेषता है।

प्रस्तावना के पश्चात् अर्थ और पाठांतर सहित मूल पाठ है। इसका नाम है :—ढोला-मारू रा दूहा। इसमें ढोला-मारू की कथा राजस्थान की प्राचीन और अर्वाचीन भाषा के दोहों में वर्णित है। अनेक दोहे भावपूर्ण और बहुत ही सरस हैं। मूल कथा का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

पूगळ देस दुकाळ थियुँ किण ही काळ बिसेस,
पिंगळ ऊचाळउ कियउ नळ नरवर चह देस।

'किसी समय पूगल (मारवाड़) देश में भारी अकाल पड़ा। तब वहाँ के राजा पिंगल ने नल के नरवर देश को ऊचाळा किया'। 'ऊचाळा' ऐसी यात्रा को कहते हैं जिसमें बाल-बच्चे, डेरा-डंडा, परिकर-परिजन और ढोर-डंगर आदि सब कुछ लेकर अपने स्थान से उखड़कर किसी अन्य संपन्न स्थान को जाया जाता है। संपादकों ने पिंगल को परमार और नल को कछवाहा माना है। नल ने पिंगल का यथोचित आदर-सत्कार किया और ठहरने को अच्छा वासस्थान दिया। नल के पुत्र ढोला से पिंगल ने अपनी पुत्री मारू या मारवणी का विवाह कर दिया। बाद में पिंगल अपने देश को लौट आया और बहुत छोटी होने के कारण मारू को भी साथ लेता आया। बरसों बाद मारवणी युवती हुई, तब एक दिन सोती हुई ने सपने में साल्हकुमार अर्थात् ढोला को देखा। सपने में देखा हुआ वह व्यक्ति उसके हृदय से हटता नहीं था। उसे अपने प्रियतम की याद आने लगी। सखियों ने कहा कि तूने

अपने पति को ही सपने में देखा है। तब से वह पति के विरह में व्याकुल रहने लगी। यह विरह-वर्णन बड़ा सुंदर है। पपीहे को संबोधन करके मारू ने अच्छे अच्छे दोहे कहे हैं। इस लेख में अधिक के लिये स्थान नहीं है, इसलिये जहाँ उदाहरणार्थ दोहे उद्धृत किए जायँगे, थोड़े ही किए जायँगे। यथा—

बाबहियउ नइ विरहणी दुहुवाँ एक सहाव।
जब ही बरसइ घण घणउ तब ही कहइ पिआव॥
बाबहिया निलपंखिया बाढत दइ दइ लूण।
प्रिउ मेरा मँइ प्रीउ की, तूँ प्रिउ कहइ स कूण॥

'पपीहा और विरहिणी दोनों ही का एक स्वभाव है, जब घना घन बरसता है तभी पीआव, पीआव पुकारते हैं'। पुस्तक में 'पिआव' की जगह 'प्रियाव' पाठ है, पर वह ठीक नहीं। उसमें न तो 'पिआव' का श्लेष—पिलाओ और पीआओ है, न कोमलत्व; रकार की कर्कशता के कारण वह कटु हो गया है, इसलिये मैंने उसके स्थान पर 'पिआव' कर दिया। यही होना चाहिए था। कदाचित् गलती से वैसा छप गया है, नहीं तो टीका में तो 'पीआव पीआव' ही रखा गया है। यह 'पिआव' ही दोहे का जीवन है। कविवर रहीम का एक बरवै है—

"पथिक आय पनघटवा कहत पिआव।
पैयाँ परों ननदिया, फेरि कहाव॥"

दूसरे दोहे का अर्थ—'हे नीले पंखोंवाले पपीहे, तू नमक लगा-लगाकर मुझे काटता है; पिउ मेरा है और मैं पिउ की हूँ, तू 'पिउ' कहनेवाला कौन है ?' इसी प्रकार आगे वर्षा में वियोग-वर्णन भी बहुत अच्छा है—

ऊनमि आई बद्दळी ढोलउ आयउ चित्त।
यों बरसइ रितु आपणी, नइण हमारा नित्त॥

बीजळियाँ नीलज्जियाँ, जळहर तूँ ही लज्ज।
सूनी सेज, विदेस प्रिय, मधुरइ मधुरइ गज्ज॥

'बादल की घटा उठी और ढोला याद आया। यह घटा तो अपनी ऋतु पर ही बरसती है, पर हमारे नैन नित्य बरसते हैं'— 'निस दिन बरसत नैन हमारे' सूरदास। ये बिजलियाँ तो निर्लज्ज हैं, हे जलधर, तू ही लज्जित हो। सेज सूनी है, प्रियतम विदेश में हैं, इसलिए मधुर मधुर गर्जना कर।' बड़े जोर से गरजकर विरहिणी को मत डरा, यह भाव। इसके आगे कुरझाँ (क्रौंच पक्षिणियों) से बहुत कुछ कहा गया है और वह सब बड़ा सुंदर है—

रात सखी इण ताल मँइ काइ ज कुरळी पंखि।
उवै सर, हूँ घर आपणइ, बिहूँ न मेळी अंखि॥
कूँझड़ियाँ कळिअळ कियउ सरवर पइलइ तीर।
निस भर सज्जण सल्लिया, नयणे बूहा नीर॥

'हे सखी, रात को इस तालाब में कोई पक्षिणी कूकती रही। वह सरोवर में और मैं अपने घर में थी, पर आँख दोनों की न लगी'। 'सरोवर के परले किनारे पर कुररियों ने कोलाहल किया। रात भर साजन सालते रहे और नयनों से नीर बहता रहा।' फिर वह विरहिणी मारवणी कुरझों से पाँखें माँगती है कि तुम अपनी पाँखें मुझे दे दो तो मैं प्रियतम से मिल आऊँ, लौटकर तुम्हारी पाँखें लौटा दूँगी। फिर अपने आप कहती है कि पाँखों से ही क्या होता है—

पाँखड़ियाँ ई किउँ नहीं, दैव (दई) अवाह्, ज्याँह।
चकवी कइ हइ पंखड़ी, रयण न मेळउ त्याँह॥

'जब दैव फिरा हुआ होता है तब पाँखों से भी कुछ नहीं होता, चकवी के तो पाँखें हैं, पर रात को उसका भी मिलाप नहीं होता' अर्थात् वह भी प्रियतम से नहीं मिल सकती। अंत में कहती है कि—

जिण देसे सज्जण वसइ तिण दिस वज्जउ वाउ।
उग्राँ लगे मो लग्गसी, ऊही लाख पसाउ॥

'जिस देश में सज्जन बसते हैं उसी दिशा से वायु बहे, वह उन्हें लगकर मुझे लगेगी, मेरे लिये यही लाख पसाव अर्थात् लाखों की बख्शीश है।' 'लाख पसाव' एक दान का नाम है, जिसमें रुपए, वस्त्राभूषण, दास-दासी, हाथी-घोड़े इत्यादि सब कुछ दिया जाता है। मारू की ऐसी दशा देखकर सखियाँ उसकी माता को सब वृत्तांत सुनाती हैं। मारवणी की माता ऊमा देवड़ी अपने पति पिंगल से कहती है और तब पिंगल ढोला को बुलाने के लिये 'साँढ़िया सवार' भेजता है। एक नहीं, अनेक आदमी गए, पर उनमें से लौटकर कोई नहीं आया। इसके बाद घोड़ों का एक बहुत बड़ा सौदागर पूगल में आया और उसने अच्छे अच्छे घोड़े राजा को दिए। राजा ने उसका बड़ा आदर किया। एक दिन उस सौदागर ने मारवणी को देखकर खवास से पूछा कि यह कौन है। खवास ने सब बातें उसे बतलाईं। सौदागर ने जाकर राजा से कहा कि मैं नरवर से आ रहा हूँ, ढोला के पास बहुत दिन रहा। ढोला बहुत ही अच्छा है, पर उसका विवाह मालवे की राजकुमारी मालवणी से हो गया है और उन दोनों में बड़ा प्रेम है। उसे मारू का हाल कुछ भी नहीं मालूम। मालवणी ने इस ओर पहरा बैठा दिया है। आपके आदमियों को वह मरवा डालती है। इससे ढोला के पास कोई संदेश नहीं पहुँचता। तब राजा ने अपने ढाढ़ियों से कहा कि तुम वेष बदलकर नरवर जाओ। जब मारू ने यह बात सुनी तो उसने उन्हें बुलाकर ढोला के लिये संदेश कहा। यह संदेश बहुत लंबा है और बड़ा सुंदर है—

नरवर देस सुहामणउ जइ जावउ पहियाह।
मारू तणाँ सँदेसड़ा ढोलइ नूँ कहियाह॥

संदेसा ही लख लहइ जइ कह जाँणइ कोइ।
ज्यूँ धण आखइ नयण भर ज्यउँ जइ आखइ सोइ॥
पंथी एक सँदेसड़उ भल माँणस नइ भक्ख।
आतम तुझ पासइ अछइ, आळग रूड़ा रक्ख॥
पंथी हाथ सँदेसड़उ धण बिलपंती देह।
पग सूँ काढइ लीहटी, उर आँसुआँ भरेह॥
फागण मास वसंत रुत आयउ जइ न सुणेसि।
चाचर कइ मिस खेलती होळी झंपावेसि॥
हिँयड़े भीतर पइस करि ऊगउ सज्जण रूख।
नित सूकइ, नित पल्हवइ, नित नित नवला दूख॥
प्रीतम, तोरइ कारणइ ताता भात न खाहि।
हिँयड़ा भीतर प्रिउ बसइ, दाझणती डरपाहि॥

'हे पथिक, नरवर देश बड़ा सुहावना है। जो वहाँ जाओ तो मारू का सँदेसा ढोला से कहना। सँदेसा ही लाखों से लेता है अर्थात् सँदेसे से ही सब कुछ प्राप्त हो जाता है। जो सँदेसा कोई कह जानें, जिस तरह प्रेयसी आँखें भरकर कहती है उसी तरह यदि वह कहनेवाला कहे। हे पथिक, एक सँदेसा उस भले मानस से कहना कि मारू की आत्मा तो तुम्हारे पास ही है, उसके शरीर को अलग भले ही रक्खो। विलपती हुई मारवणी पथिक के हाथ सँदेसा देती है, अपना उरस्थल आँसुओं से भरकर, पैर से—पैर के अँगूठे से—पृथ्वी पर रेखा खींचती है। कहती है—फागुन के मास वसंत ऋतु में जो तुम्हें आया न सुनूँगी तो चाचर के मिस से खेलती हुई होली में कूद पड़ूँगी, जलती हुई होली में गिरकर जल मरूँगी, हृदय में प्रविष्ट होकर साजन रूपी वृक्ष उगा है, वह नित्य सूखता है और नित्य पल्लवित होता है, इस प्रकार वह नित्य नए नए दुःख देता है। हे प्रियतम, तेरे ही कारण मारू ताता भात

नहीं खाती, हृदय में प्यारा निवास करता है, उसको जला देने के भय से डरती है।'

मारू का सँदेसा लेकर ढाड़ी नरवर को चल दिए। उन्होंने मालवणी के उन पहरेवालों से यह नहीं कहा कि हम पूगल से आए हैं। सिपाहियों ने उन्हें याचक जानकर निकल जाने दिया। इस प्रकार वे नरवर पहुँच गए। वहाँ रात को ढोला के महल के नीचे बैठकर उन्होंने मारू के सँदेसेवाले दोहे माढ़-रागिनी में गाए। सबेरे उन्हें बुलाकर ढोला ने सब समाचार पूछे। पूरा वृत्तांत सुनकर उसने ढाड़ियों को इनाम देकर बिदा किया और स्वयं पूगल जाने का विचार करने लगा। उसे चिंतित जान कर मालवणी ने मन की बात पूछी। पहले बहुत टाल-टूल करने के बाद उसने सच्ची बात कह दी—

सुण सुंदर, सच्चइ चवाँ, भाजइ मन ची भंति।
मो मारू मिळवा तणी, खरी विलग्गी खंति॥

'हे सुंदरी, सुनो, सच्ची बात कहता हूँ जिससे तुम्हारे मन की भ्रांति दूर हो। मुझे मारवणी से मिलने की बड़ी अभिलाषा लगी है।' इतना सुनते ही—

माळवणी कउ तन तप्पउ, विरह पसारिउ अंग।
ऊभीती खड़हड़ पड़ी जाँणें डसी भुयंग॥

'मालवणी का शरीर संतप्त हो उठा और उसके अंग में विरह व्याप गया। वह खड़ी थी सो लड़खड़ाकर गिर पड़ी, जैसे साँप ने डस ली हो'। तब—

छाँटी पाँणी कुमकुमँइ, बींझण बींझूया वाइ।
हुई सचेती माळवी, प्री आगळ विललाइ॥

'ढोला ने उसे गुलाबजल के छींटे दिए और उस पर पंखे से हवा की। तब मालवणी सचेत हुई और प्रियतम के आगे विलाप

करने लगी'। उसने "थळ, तत्ता, लू साँमही" कहकर बतलाया कि ग्रीष्म में मारवाड़ का देश बड़ा भयंकर हो जाता है। इसलिये इस ऋतु में घर ही बैठे रहो। ढोला 'बे मास' अर्थात् दो महीने को रुक गया। जब वर्षा ऋतु आई, तब ढोला ने मालवणी से कहा कि—

पग पग पाँणी पंथ सिर, ऊपर अंबर छाँह।
पावस प्रगट्यउ पदमणी, कहउ त पूगल जाँह॥
लागे साद सुहामणउ सरवर कूँझड़ियाँह।
जळ पोइणिये छाइयउ, कहउ त पूगळ जाँह॥
बाजरियाँ हरियालियाँ, बिच बिच वेलाँ फूल।
जइ भर बूठउ भाद्रवउ, पूगळ देस अमूल॥

'पंथ में पग पग पर पानी और ऊपर बादलों की छाया है। पावस काल प्रकट हो गया। हे पद्मिनी, अब तुम कहो तो मैं पूगल को जाऊँ। वहाँ सरोवरों में कुरझों का शब्द सुहावना लगता है, जल पर पुरैन छाई हुई है, कहो तो पूगल जाऊँ। खेतों में हरी हरी बाजरी (बाजरा, एक अनाज जो मारवाड़ में बहुत होता है) खड़ी होगी और उसके बीच बीच फूलवाली बेलें होंगी। जो भाद्रपद अच्छा बरसा तो मारू देश अमूल्य अर्थात् अनुपम शोभावाला होगा।' यह सुनकर मालवणी कहती है—

डूँगरिया हरिया हुया, बने झिँगोरया मोर।
इण रुत तीनइ नीसरँइ जाचक, चाकर, चोर॥
फौज घटा, खग दामणी, बूँद लगइ सर जेम।
पावस पिउ बिन बल्लहा, कह, जिवीजइ केम?

'छोटे छोटे पहाड़ हरे हो गए, वनों में मोर झिँगोर करने लगे। इस ऋतु में तो घर से तीन ही निकलते हैं—याचक, चाकर और चोर। घटा फौज है, दामिनी खड्ग है, बूँद बाण की तरह लगती

है। हे प्यारे, कहो तो भला, पावस में प्रियतम के बिना कैसे जिया जाय ?' इस प्रकार की अनेक बातें कहकर उसने पावस में भी ढोला को रोक लिया।

दसराहा (वा) लग प्री रह्यउ माळवणीरी प्रीत।
बरखा रुत पाछी बळी, आवी सरद सुचीत॥
जिण रुत मोती नीपजइ सीप समंदाँ माँहि।
तिण रुत ढोलो ऊमह्यउ, इम को माँणस जाहि॥

'मालवणी की प्रीति के कारण ढोला दशहरे तक रहा, जब "वर्षा विगत सरद ऋतु आई" तब उसने फिर मारू के यहाँ जाने की तैयारी की। तब मालवणी कहने लगी कि जिस ऋतु में समुद्रों के भीतर सीपों में मोती निपजते हैं, उस ऋतु में ढोला को उमाह हुआ है। भला ऐसे भी कोई मनुष्य जाता है'। इस प्रकार बहुत कहने-सुनने से वह शरत्काल में भी रुक गया। जाड़ा शुरू होने पर उसने फिर तैयारी की। तब मालवणी कहने लगी—

दिन छोटा मोटी रयण, थाढा नीर पवन्न।
तिण रित नेह न छंडियई, हे बालम बडमन्न॥
उत्तर आज स उत्तरउ सीय पड़ेसी थट्ट।
सोहागिण-घर-आँगणइ, दोहागिण रइ घट्ट॥
उत्तर आज न जाइजइ जिहाँ ज सीत अगाध।
तामइ सूरज डरपतउ ताकि चलइ दखिणाध॥

'जिस ऋतु में दिन छोटे और रातें बड़ी होती हैं तथा पानी और पवन ठंडे हो जाते हैं, उस ऋतु में हे बड़े मनवाले बालम, स्नेह नहीं छोड़ना चाहिए। आज उत्तर (का पवन) चलने लगा है, खूब शीत पड़ेगा, वह सुहागिनी के घर के आँगन में और दुहागिनी—पति-त्यक्ता—के घट अर्थात् शरीर पर पड़ेगा। आज उत्तर को न जाया जाय जहाँ गहरा शीत पड़ता है, जिसके डर से

डरता सूर्य भी आजकल दक्षिण की ओर को ताककर चलता है'। मालवणी से अत्यंत प्रेम था, इससे ढोला जाड़े में भी रुक जाता है, परंतु वसंत में वह नहीं मानता क्योंकि उधर मारवणी का आकर्षण भी कम न था।

फागण मास सुहामणउ, फाग रमइ नव वेस।
मो मन खरउ उमाहियउ देखण पूगळ देस॥

ढोला कहता है कि 'फागुन मास सुहावना है, सब नए वेष से फाग खेलते हैं, मेरा मन पूगल देस देखने को पूर्ण रूप से उमग रहा है'। अंत में जब मालवणी जान जाती है कि अब ढोला नहीं रुकेगा, तब कहती है—

हल्लउ हल्लउ मत करउ, हिँयड़इ साल म देह।
जे साचेई हल्लस्यउ, सूता पल्लाँणेह॥

'चलता हूँ, चलता हूँ, मत करो अर्थात् मत कहो, हिए में साल मत दो। जो सचमुच चलोगे ही तो मेरे सोते समय ऊँट कसना।' ढोला ने वचन दिया कि ऐसा ही होगा और फिर ऊँटों के रक्षक से कहा कि एक अच्छा करहा (ऊँट) देख रखो।

पनरह दिन हूँ जागती प्री सूँ प्रेम करंत।
एक दिवस निद्रा सबळ सूती जाण निचंत॥

मालवणी लगातार पंद्रह दिन जागती रही, अंत में एक दिन सो गई और ढोला ऊँट पर चढ़कर पूगल को चल दिया।

ढोलइ करह चलावियउ कर सिणगार अपार।
आस्याँ तउ मिळस्याँ बले, नरवर कोट जुहार॥

'ढोला ने खूब शृंगार करके ऊँट चलाया। उसने कहा—आएँगे तो फिर मिलेंगे, हे नरवर के कोट, जुहार है अथवा नरवर को कोट जुहार—करोड़ों जुहार अर्थात् प्रणाम हैं।' इस दोहे पर बड़ा सुंदर एक रंगीन चित्र दिया गया है। ढोला के चलते समय

करहा बलबलाया, जिससे मालवणी जाग पड़ी। आगे मालवणी का विलाप बड़ा सुंदर है—

चाल सखी, तिण मंदरइ सज्जण रहियउ जेण।
को इक मीठउ बोलडउ लागो होसइ तेण॥

'हे सखी, उस महल में चल, जहाँ प्रियतम ने निवास किया था, (उनका) कोई मीठा बोल उसमें लगा होगा'। फिर कहती है—

साल्ह चलंतउ हे सखी, गउखे चढ़ मइँ दीठ।
हिँयड़उ उवा हीं सूँ गयउ, नयण बहोड़्या नीठ॥

'हे सखी, चलते हुए साल्ह कुमार को मैंने झरोखे में चढ़कर देखा। हृदय वहीं से उनके साथ चला गया। नेत्रों को मैं बड़ी कठिनता से लौटा सकी'। फिर ढोला को संबोधन करके कहती है—

सज्जण, गुणे समंद तूँ, तर तर थकी तेण।
अवगुण एक न साँभरइ रहाँ विलंबी जेण॥

'हे प्रियतम, तू गुणों का समुद्र है, जिसे तरते तरते मैं थक गई। अवगुण एक भी याद नहीं आता कि जिससे झूमी रहूँ'।

ढोला हूँ तुझ बाहिरी झीलण गइय तळाइ।
ऊजळ काळा नाग ज्यूँ लहरी ले ले खाइ॥

'हे ढोला, मैं तुम्हारे बिना (अकेली) तालाब में नहाने गई। उसका वह पानी काले साँप की तरह लहरें ले लेकर खाने लगा'। फिर सखी से कहती है—

चंपा केरी पाँखड़ी, गूँथूँ नवसर हार।
जउ गळ पहरूँ पीउ बिन, तउ लागै अंगार॥

'चंपे की पखुरियों का नौ लड़ियोंवाला हार गूँथती हूँ। यदि उसे गले में पहनती हूँ तो प्रियतम के बिना अंगार-सा लगता है'। इस प्रकार वह कभी कुछ और कभी कुछ कहकर विलाप करती है। वह कहती है—

सज्जण अळगा ताँ लगइ जाँ लग नयणे दिट्ठ।
जब नयणाँ हू बीछड़ै, तब उर मंझ पइट्ठ॥

'सजन तभी तक अलग लगते हैं—मालूम होते हैं—जब तक कि आँखों से दिखाई देते हैं, जब आँखों से भी बिछुड़ जाते हैं, तब फिर उर में पैठ जाते हैं'। कैसा सुंदर भाव है।

इस पुस्तक में पहले मारवणी का विरह बड़े विशद रूप में वर्णित किया गया है, पर यह मालवणी का विरह उससे बिलकुल भिन्न है। यही इसके वर्णन की विशेषता है।

इधर मालवणी इस प्रकार विलपती थी और उधर ढोला ऊँट को पूगल के मार्ग पर तेज चला रहा था। उसने चँदेरी और बूँदी के बीच में कहीं दातुन किया और तीसरे पहर आडाबळा अर्थात् अर्वली पहाड़ की घाटी लाँघी। आगे चलने पर एक चारण मिला। उस चारण ने कहा—"ढोलाजी, बहुत देर में आये, अब तो मारू बुड्ढी हो गई। उसके अंग शिथिल और बाल सफेद हो गए हैं"। यह सुनकर ढोला को बड़ा दुख हुआ। वह एकदम अन्यमनस्क होकर सोचने लगा कि अब पूगल को जाऊँ या नरवर को लौट जाऊँ। पर नरवर जाकर क्या करूँगा? इस प्रकार उदास चित्त से जाते हुए को एक बीसू नाम का चारण मिला। उससे ढोला ने पूछा कि मारवणी क्या सचमुच बुड्ढी हो गई। तब बीसू बोला—

डउढ बरस री मारुवी, त्रिहुँ बरसाँ रो कंत।
उणरउ जोबन बहि गयउ, तू किउँ जोबनवंत?

हे ढोला, जब विवाह हुआ तब 'मारू डेढ़ बरस की थी और उसका कंत अर्थात् तुम तीन बरस के थे। उसका यौवन जब ढल गया तब तुम यौवनवंत कैसे रहे?' वह बुड्ढी हो जाती तो तुम भी बुड्ढे न हो जाते? फिर उस चारण ने मारू की

सुशीलता, सुजनता और सुंदरता का बड़ा विशद वर्णन किया। यह वर्णन बहुत लंबा है—

> गति गंगा, मति सुरसती, सीता सील सुभाइ।
> महिलाँ सिरहर मारुवी, अवर न दूजी काइ॥
> नमणी, खमणी, बहुगुणी, सुकोमळी ज सुकच्छ।
> गोरी गंगा-नीर ज्यूँ, मन गरुवी, तन अच्छ॥
> रूप अनूपम मारुवी, सुगुणी नयन सुचंग।
> साधण इण परि राखियै, ज्यूँ सिव-मसतक गंग॥
> मारू-सी देखी नहीं इण मुख दो नयणाँह।
> थोड़ो-सो भोळो पड़ै दिणियर ऊगंताहँ॥

'मारवणी गति में गंगा, मति में सरस्वती और शील-स्वभाव में सीता के समान है, महिलाओं में शिरोमणि मारुवी के समान और दूसरी कोई नहीं। वह विनयशीला और क्षमाशीला है, बहुगुणशालिनी है, वह सुकोमलांगी अच्छे कच्छवाली—कच्छ= लाँग, सुकच्छ=लँगोटबन्द, ब्रह्मचारिणी—रूप में अनुपमा, सद्गुण-संपन्ना और सुनयना है। उस रमणी-रत्न को ऐसे रखना चाहिए जैसे शिवजी गंगा को मस्तक पर रखते हैं। मारू जैसी स्त्री मेरे मुख ने अपने इन दो नयनों से और नहीं देखी। सूर्योदय के समय (ऊषा को देखकर) उसका थोड़ा-सा भ्रम होता है'। बीसू की बातों से प्रसन्न होकर ढोला ने उसे अशर्फियाँ इनाम में दीं और वह पूगल की ओर तेजी से चल दिया।

उधर पूगल में मारू भी पति की प्रतीक्षा कर रही थी, क्योंकि पिछली रात उसने उसे स्वप्न में पाया था। वह सखियों से कह रही थी कि—

> सुपनँइ प्रीतम मुझ मिल्या, हूँ लागी गळ रोइ।
> डरपत पलक न खोलती, मतिहि बिछोहो होइ॥

जिम सुपनंतर पामियउ तिम परतख पामेसि
सज्जन मोतीहार ज्यूँ कंठे ग्रहण करेसि ॥
आज उमाहउ मो घणउ, ना जाणूँ किव केण।
पुरष परायो वीरवड, अहर फुरक्कइ केण ?
सहिए, साहब् आविस्यइ, मो मन हुई स जाँण।
आगम बाधाऊ हुवा, अंग तणाँ अहनाँण॥

'सपने में प्रियतम मुझे मिले, मैं रोकर उनके गले से लग गई, मैं डर के मारे पलक न खोलती थी कि कहीं बिछोह (वियोग) न हो जाय। जैसे स्वप्न में पाया वैसे यदि प्रत्यक्ष पाऊँ तो प्रियतम को मोतियों के हार की भाँति कंठ में धारण करूँ। आज मुझे बड़ा उल्लास है, नहीं जानती कि क्यों और किस कारण ? पर-पुरुष तो मेरे लिये बड़े भाई के समान है, फिर अधर क्यों फड़कता है ? सखियो, स्वामी आयँगे, मेरे मन में प्रेरणा हुई है। मेरे अंगों के चिह्न आगे बधाई देनेवाले हो रहे हैं।' पुस्तक में पहले दोहे में 'खोलती' की जगह 'खोलही' पाठ है जो ठीक नहीं। 'खोलही' से ज्ञात होता है कि कहनेवाली मारू नहीं, कोई दूसरी है, पर कहती है मारू ही, इसलिये 'खोलती' होना चाहिए। अंतिम दोहे में जो 'आगम बाधाऊ' पाठ है, वह भी ठीक नहीं। जिस तरह 'बधाई' 'बाधाई' नहीं होती, उसी तरह 'बधाऊ' 'बाधाऊ' नहीं होता। मेरी राय में 'आगम बाधाऊ हुवा' की जगह 'आगम हुवा बधाउड़ा' होना चाहिए।

ऐसे समय में बीसू चारण ने पिंगल राजा को आकर बधाई दी कि साल्हकुमार अर्थात् ढोला आ गया। इतने में ढोला भी पूगल पहुँच गया जिससे वहाँ सर्वत्र हर्ष छा गया।

राजा-राणी हरखिया, हरख्यउ नगर अपार।
साल्हकँवर पद्धारियउ, हरखी मारू नार॥

यहाँ मारू के हर्ष का वर्णन बड़ा सुंदर है। वह सखियों से कहती है—

सहिए, साहब आविया जाँ की हूँती चाइ।
हिँयड़उ हेमागिर भयउ, तन पंजरे न माइ॥
संपहुता सज्जण मिल्या, हूँता मुझ्झ हीयाह।
आजूणइ दिन ऊपरइ बीजा वळि कीयाह॥

'सखियो, जिनकी चाह थी वे प्रियतम आ गए। मेरा हृदय हिमालय-सा शीतल और विशाल हो गया, वह तन रूपी पिंजर में नहीं समाता। जो मेरे हृदय में थे वे प्रियतम प्रेमपूर्वक आकर मिले, इसलिये, आज के दिन पर मैंने दूसरे सब वार दिए।' तब सखियों ने उबटन-स्नान कराकर मारू का शृंगार किया। मारू शृंगार करके प्रियतम से मिलने को चली। सखियाँ उसे प्रियतम के पास पहुँचाकर लौट गईं, प्रियतम एकांत में मिला। मारू के मुसकाते ही वह चौंक पड़ा कि बिजली चमकी या दंत-पंक्ति—
मुळकत ढोलो चमकियउ, बीजळ खिवीं कदंत!

मारू बइठी सेज सिर, प्री मुख देखइ तास।
पूनम केरै चंद ज्यू मंदर हुवउ उजास॥
काया झबकइ कनक जिम सुंदर, केहइ सुक्ख?
तेह सुरंगा किम हुवइँ, जिण बेहा बहु दुःख?

'मारू सेज पर बैठी, प्रियतम उसका मुख देखता है, पूनों के चंद्रमा की भाँति उसके मुख से महल में उजेला हो गया। ढोला कहने लगा—हे सुंदरी, किस सुख के कारण तुम्हारी काया कनक के समान झलक रही है? वे सुरंग कैसे हो सकते हैं जिन्हें बहुत से दुःखों ने बींध रक्खा हो'? यह सुनकर मारू शंकित हो गई, पर तुरंत ही उसने उत्तर दिया। उत्तर कितना अच्छा है—

पहुर हुवउ ज पधारियाँ मो चाहंती चित्त,
डेडरिया खिण मइँ हुवइँ घण बूठइ सरजित्त।
पहली होइ दयामणउ रवि आथमणउ जाइ,
रवि ऊगइ बिहसइ कँवळ खिणइक विमणउ थाह?

'आपको पधारे हुए और मुझको आपके दर्शनों की चाह करते हुए एक पहर हो गया। दादुर तो घन के बरसते ही क्षण भर में, सजीव हो जाते हैं। पहले, जब सूर्य अस्ताचल की ओर जाता है तब जो दयनीय दशा को प्राप्त हो जाता है, मुरझा जाता है, वही कमल सूर्य के उदय होते ही विहसने लगता है, क्या फिर क्षण भर भी उदास रहता है?' यह चातुर्य-पूर्ण उत्तर सुनकर ढोला आनंदित हो गया। और—

मन मिळिया, तन गड्डिया, दोहग दूर गयाह,
सज्जण पाँणी-खीर ज्यूँ खिल्लोखिल्ल थयाह।

'मन मिल गए, तन गड़ गए—परस्पर दृढ आलिंगित हो गए—और दुर्भाग्य दूर हो गए, प्रेमी दम्पती पानी और दूध की तरह मिलकर एक हो गये।' यह प्रिया-प्रीतम का मिलन, शृंगारिक और बहुत विस्तृत है। पंद्रह दिन ढोला ससुराल में रहा, तत्पश्चात् मारवणी को लेकर बिदा हुआ। पिंगल ने दहेज में बहुत धन, सामान और दास-दासी देकर नरवर तक पहुँचाने को साथ में कुछ सैनिक भी कर दिए। पूगल से चलकर एक रेतीले मैदान में पड़ाव पड़ा। वहाँ रात में सोती हुई मारवणी को पीवणाँ साँप पी गया। मारवाड़ में एक प्रकार का साँप होता है जो काटता नहीं, सोते हुए मनुष्य पर ही आक्रमण करता है। उसके श्वास को पीता जाता है और अपना विष उसके मुँह में वायु द्वारा ही प्रविष्ट करता जाता है। इससे वह मनुष्य मर जाता है। मारू भी मर गई। उसे मरी देखकर ढोला बहुत विलाप करता

है और उसके साथ जीते-जी जल मरने को तैयार हो जाता है, किसी के भी समझाने से नहीं समझता। इतने में एक जोगी और जोगिन आ जाते हैं। जोगिन के विशेष अनुरोध करने पर वह जोगी अभिमंत्रित जल छिड़कता है, जिससे मारू जी उठती है। तब ढोला प्रसन्न होकर उसे अपने ऊँट पर चढ़ाकर अकेला ही नरवर को चल देता है। साथवालों से कह जाता है कि तुम धीरे धीरे आ जाना, हम तो आज ही नरवर पहुँचेंगे।

रास्ते में ऊमर सूमरा मिल गया। उसने शराब पिलाकर ढोला को मार डालना और मारू को ले लेना चाहा। उसने बड़े प्रेम से ढोला को अमल-पान अर्थात् नशा-पानी का निमंत्रण दिया। ढोला ऊँट से उतर पड़ा, ऊँट मारू को सौंपकर वह उन लोगों में बैठकर नशा पीने लगा। ऊमर सूमरा के साथ में एक गायिका भी थी जो गा रही थी। उसने गीत में मारू को समझाया, ऊमर सूमरे का छल जताकर कहा कि भागो। मारू ने ऊँट को छड़ी मारी, ऊँट उठकर भागा। ढोला ऊँट को पकड़ने वहाँ से उठकर आया तब मारू ने उसे सचेत किया। बस, दोनों ऊँट पर सवार होकर वहाँ से भागे। पीछे ऊमर ने घोड़े दौड़ाए, पर ऊँट हाथ न आया। तब लाचार होकर वह लौट गया। इस प्रकार अनेक विघ्न-बाधाओं से बचकर ढोला और मारू नरवर पहुँच गये।

ढोलो नरवर आवियउ, मंगळ गावइ नार,
उछब हुवउ, आयउ घरे, हरख्यउ नगर अपार।
साल्ह कँवर विलछइ सदा काँमण सुगण सुगात,
माळवणी नइ एक निस, मारवणी दुइ रात।

'ढोला नरवर लौट आया, स्त्रियाँ मंगल-गीत गाने लगीं, उत्सव होने लगा। कुमार लौट आया, यह सुनकर नगर में अपार आनंद छा गया। अब साल्हकुमार अपनी उन सद्गुण-संपन्ना और सुंदर

शरीरोंवाली दोनों कामिनियों के साथ विलास करने लगा। वह एक रात मालवणी के साथ और दो रातें मारवणी के साथ विहार करता।' एक दिन मालवणी ने व्यंग करके मारू के देश की निंदा की—

बाळउँ बाबा देसड़उ पाँणी जिहाँ कुवाँह,
आधी रात कुहक्कड़ा, जउँ माँणसाँ सुवाँह।
मारू, थाँकइ देसड़इ एक न भाजइ रिड्ड,
ऊँचाळउ क अबरसणउ, कइ फाकउ कइ तिड्ड।
जिण भुँइ पन्नग पीयणाँ, कैर कँटाळा रूख,
आके फोगे छाँहड़ी, हूँछाँ भाँजइ भूख।

'बाबा, ऐसा देश जला दूँ जहाँ पानी गहरे कुओं में ही होता है, जिसे निकालते हुए लोग आधी रात को चिल्लाने लगते हैं जैसे आदमियों के मरने पर रोते-चिल्लाते हैं। मारू तुम्हारे देश में एक भी दुःख दूर नहीं होता, कभी उचाला—अकाल के मारे दूसरे देश को भागना, कभी अवर्षण और कभी टिड्डियों का आक्रमण, एक न एक आफत लगी ही रहती है, यह भाव। जिस भूमि में पीनेवाले साँप हैं, करील और कटहली ही रूख है, जहाँ आँक और फोग के पेड़ों की ही छाया है और जहाँ भुरट नामक कँटीली घास के बीजों से ही लोग भूख भगाते हैं,' भला वह देश भी कोई देश है, यह भाव। इस पर मारवणी भी मालवे की थोड़ी-सी निंदा करके मारवाड़ की प्रशंसा करती है—

बाळउँ बाबा देसड़उ जहँ पाँणी सेवार,
ना पिणयारी झूलरो, ना कूवइ लेकार।
बाळउँ बाबा देसड़उ, जहँ फीकरिया लोग
एक न दीसइ गोरड़ी, घर घर दीसइ सोग।
मारू देस उपन्नियाँ, त्याँका दंत सु सेत,
कूँझ बची गोरंगियाँ, खंजर जेहा नेत।

मारू देस उपन्नियाँ सर ज्यउँ पद्धरियाह,
कड़वा कदे न बोलही, मीठा बोलणियाह ।

'बाबा उस देश को जला दूँ जहाँ पानी पर सेवार छाया रहता है। जहाँ न तो पनिहारियों का झुंड है न कुएँ पर लयपूर्ण शब्द सुनाई देता है। बाबा, उस देश को जला दूँ जहाँ ओछी प्रकृति के आदमी हैं और जहाँ एक भी गोरी अर्थात् सुंदरी नहीं दीखती, घर घर में शोक-सा छाया हुआ दीखता है। मारू देश (मारवाड़) का क्या कहना, उस देश में उत्पन्न होनेवालियों के दाँत उज्ज्वल होते हैं। वे कुरझों की बच्चियों-जैसी गौरांगी होती हैं और उनके नेत्र खंजन के समान होते हैं। मारू देश में उत्पन्न होनेवाले तीर की तरह सीधे होते हैं, वे कटु भाषण कभी नहीं करते, मृदु-भाषी होते हैं।' अंत में ढोला उन दोनों के झगड़े को निपटाता हुआ मालवणी से कहता है—

सुण सुंदर, केता कहाँ मारू देस बखाँण ?
मारवणी मिळियाँ पछइ जाँण्यउ जिलम प्रवाँण ।

'हे सुंदरी, सुनो, मैं मारू देश का कितना बखान करूँ ? मारवणी मिलने के बाद ही मैंने अपने जन्म को प्रमाण माना है अर्थात सफल समझा है।'

इस प्रकार यह सरस कथा ६७४ दोहों में समाप्त हुई है। संपादकों को इस कथा के लिखित चार रूपांतर प्राप्त हुए। प्रस्तावना में लिखा है कि "इस समय ढोला-मारू काव्य के चार रूपांतर मिलते हैं। १—जिसमें केवल दूहे हैं और जो प्राचीन है। २—जिसमें दूहे और कुशललाभ की चौपाइयाँ हैं, यह प्राचीनता में दूसरे नंबर पर आता है। ३—जिसमें दूहे और गद्य-वार्त्ता है। ४—जिसमें दूहे, कुशललाभ की चौपाइयाँ और गद्य-वार्त्ता है।" तात्पर्य यह कि केवल दोहोंवाला रूप पुराना

है, दोहों और चौपाइयों वाला रूप पीछे प्रस्तुत हुआ, जिसे जैसलमेर के जैन कवि कुशललाभ ने महारावल हरिराजजी की आज्ञा से बनाया था। उस कवि ने लिखा है कि—"दूहा घणा पुराणा अछइ, चउपइबंध कियो मइ पछइ।" अर्थात् दोहे घने पुराने हैं, चौपाईबंध मैंने पीछे किया। सुयोग्य संपादकों ने वह घने पुराने दोहों वाला रूप ही स्वीकार करके संपादित किया है। परंतु उसमें कुछ अर्वाचीन दोहे भी सम्मिलित कर लिए गए हैं। प्रस्तावना में लिखा है कि—"इनमें भी कुछ दूहे ऐसे हैं जो प्राचीन नहीं ज्ञात होते, पर काव्य-सौंदर्य की दृष्टि से स्वीकृत किए गए हैं।" जो हो, पर ऐसी सुंदर पुस्तक को संपादित करने के लिये उसके तीनों संपादक और इसे प्रकाशित करने के लिये काशी की नागरीप्रचारिणी सभा, चारों ही, धन्यवाद के पात्र हैं।

---

(१२) तिब्बत की चित्रकला

[लेखक—श्री राहुल सांकृत्यायन]

१—संक्षिप्त इतिहास

६३० ई० में स्रोङ्-ब्चन्-स्गम्पो अपने छोटे से राज्य का अधिकारी बना। ६४० ई० तक उसके साम्राज्य की सीमा पश्चिम में गिल्गित से लेकर पूर्व में चीन के भीतर तक, उत्तर में गोबी की मरुभूमि से ले दक्षिण में हिमालय की तराई तक फैल गई। ६४० ई० में सम्राट् की नेपाली रानी ख्रि-चुन् के साथ सर्वप्रथम बौद्ध-धर्म तिब्बत में पहुँचा। बौद्ध-धर्म और चित्रकला का घनिष्ठ संबंध सभी लोग जानते हैं। भारत में सर्वप्राचीन, तथा सर्वोत्तम अजंता के चित्र बौद्धों की ही कृतियाँ हैं। बौद्ध-चित्रकला के नमूने सिंहल, स्याम, चीन-जापान आदि देशों में ही नहीं प्राप्त होते हैं—जहाँ कि बौद्धधर्म सजीव है—बल्कि उन्हें गोबी के रेगिस्तान और मध्य-ईरान तक में सर् औरेल् स्टाइन् ने खोज निकाला है। इस तरह बौद्ध-धर्म के साथ साथ चित्रकला का भी तिब्बत में प्रवेश स्वाभाविक ही है। नेपाल-राजकुमारी स्वयं अपने साथ अक्षोभ्य, मैत्रेय और तारा की मूर्तियों के साथ कितने ही स्थापत्य-शिल्पी तथा चित्रकार लाई थी। ६४१ ई० में सम्राट् स्रोङ्-ब्चन्-स्गम्पो की दूसरी रानी चीन-राजकन्या कोङ्-जो एक बुद्ध-प्रतिमा को ल्हासा लाई, जो किसी समय भारत से घूमते फिरते चीन पहुँची थी। उसने पहले ही निश्चय कर लिया था, कि मैं अपनी प्रसिद्ध प्रतिमा के लिये राजधानी में एक मंदिर बनवाऊँगी और ल्हासा पहुँचते ही उसने र-मो-छे का प्रसिद्ध मंदिर बनवाना शुरू

किया। नेपाली रानी की असमर्थता देख सम्राट् ने स्वयं उसके लिये ल्हासा के मध्य में जो० खङ् का मंदिर बनवाया। र-मो-छे और जो०-खङ् के बनाने में यद्यपि अधिकतर नेपाली (भारतीय) और चीनी शिल्पियों की सहायता ली गई, किंतु उसी समय भोट को भी स्थापत्य तथा चित्रकला का क-ख आरंभ करना पड़ा।

सातवीं शताब्दी के मध्य में उत्तरी भारत के सम्राट् हर्षवर्धन के प्रशांत शासन में, गुप्तों के समय से चलती आई, कला तथा विद्या की प्रगति बढ़ती ही जा रही थी। चित्रकला के कुछ अंशों के अवसाद का समय डेढ़-दो सौ वर्ष बाद से होता है। इसके कहने की आवश्यकता नहीं, कि नेपाल आज की तरह उस समय भी कला आदि के संबंध में भारत का अंग था। चीन में भी उस समय ह्वेन्-चाङ् के संरक्षक थाङ्-वंश का राज्य था, जिसका शासनकाल चीन की चित्रकला का सर्वोत्तम समय माना जाता है। इस प्रकार भोट देश-वासियों को भारत और चीन से ऐसे समय संबंध जोड़ने का अवसर मिला, जब कि इन दोनों देशों में कला का सूर्य मध्याह्न में पहुँचा हुआ था।

ल्हासा के र-मो-छे और जो०-खङ् के मंदिरों की भीतों में यद्यपि उस समय चीनी और भारतीय चित्रकारों ने सुंदर चित्र अंकित किए थे, किंतु अब वह उपलब्ध नहीं है। तिब्बत में ईंधन के दुर्लभ होने के कारण चूने की पक्की दीवारों के बनाने का रवाज नहीं है। इसी लिये कुछ वर्षों बाद जब प्लस्तर निर्बल होकर टूटने-फूटने लगता है, तब सारे प्लस्तर को उखाड़कर पत्थर की बनी दीवारों पर दूसरा प्लस्तर कर नई तरह से चित्र बनाए जाते हैं। अभी उस दिन (२७ मई १९३४ ई० को) हम ल्हासा का से० र विश्वविद्यालय देखने गए। उसके सूमदू-प्र-सङ्

(महाविद्यालय) के सम्मेलन-भवन की दीवारों का प्लस्तर उखाड़ा जा रहा था। एक ओर से डेढ़-दो सौ वर्ष पुराने चित्र टुकड़े टुकड़े हो जमीन पर गिर रहे थे, और दूसरी ओर से नया प्लस्तर लगाया जा रहा था। यद्यपि जो०-खङ् और र-मो-छे के प्लस्तर इससे कहीं अधिक दृढ़ सामग्री के बने हैं; तो भी उनकी आयु तेरह शताब्दियों की है। इस सुदीर्घ काल में उनके प्लस्तर न जाने कितनी बार नए बने होंगे, इसी लिये उन आरंभिक चित्रों का अब पता नहीं मिलता। उस समय की काष्ठ-पाषाण की मूर्तियाँ एवं विशाल काष्ठ-स्तंभों में उत्कीर्ण रूप यद्यपि आज भी मौजूद हैं, और उनसे उस समय की चित्रकला का कुछ अनुमान हो सकता है; तो भी वह चित्रकला न होने से मेरे इस लेख का विषय नहीं हो सकते। इसी लिये उन्हें किसी दूसरे समय के लिये छोड़ता हूँ।

उसके बाद प्रायः दो सौ वर्ष बीत जाने पर ८२३-८३५ ई० में व् सम्-यस् का महाविहार बना। पुराने इतिहास-लेखकों के अनुसार यह स्वयं महाराज धर्मपाल (७६९-८०९ ई०) के बनवाए उड्यंतपुरी (वर्तमान विहार शरीफ, पटना) महाविहार के नमूने पर बनवाया गया। इसकी पुष्टि उस विहार की आकृति भी करती है। इस समय विस्तार और वैभव में भोट-साम्राज्य मध्याह्न में पहुँचा हुआ था। भोट के धर्माशोक सम्राट् खि-सोङ्-ल्दे-बुचन् (८०२-८४५ ई०) बौद्ध-धर्म के लिये सब तरह का त्याग करने के लिये तैयार थे। विहार का निर्माण नालंदा के महान् दार्शनिक शांतरक्षित के तत्त्वावधान में हो रहा था। इस विहार को सुमेरु, उसके चारों महाद्वीप, आठ उपद्वीप तथा चंद्र-पाल जैसी परिखा के साथ बनवाना ही, इसे अच्छे प्रकार निदर्शित करता है, कि विहार-निर्माण में कला का कितना ख्याल किय

गया होगा। उस समय इस विहार के केंद्रवर्ती देवालय तथा १२ द्वीपों की दीवारों में बहुत से सुंदर चित्र अंकित किए गए थे। आचार्य शांतरक्षित के भोटदेशीय शिष्य भिक्षु (प० गोर) वैरोचन-रक्षित स्वयं भी चित्रकार थे। उनके हाथ का बनाया एक चित्र अब भी बूसम्-यस् के ज़ोङ् (कलक्टरी) में बतलाया जाता है। वैरोचन से पूर्व अनेक भोटदेशीय चित्रकार रहे होंगे, किंतु अपनी कृतियों के साथ उनका नाम भी लोगों को विस्मृत हो गया है। बूसम्-यस् की दीवारें अब भी चित्रित हैं, किंतु ग्यारहवीं शताब्दी में आग से जल जाने से वह पहले के नहीं हैं। वैरोचन के बाद दूसरा प्रसिद्ध चित्रकार तोन्-छोग्-छुङ्-मेद है। इसके समय का ठीक ठीक पता नहीं है।

रिग्र-प्रोङ्-लूद बूचन् के पौत्र सम्राट् रल्-प-चन् (८७७-९०१ ई०) बौद्ध-धर्म के अंध भक्त थे, उन्होंने बहुत से मंदिर और मठ बनवाए, जिनमें से कितने ही अब भी मौजूद हैं। भोट देश में जो विहार जितना ही अधिक वैभवशाली होता है, वहाँ प्राचीन भित्ति-चित्रों की रक्षा उतनी ही कठिन है; क्योंकि जरा भी दीवारों को बिगड़ते या चित्रों को मलिन होते देख मरम्मत करके उसकी प्राचीनता लुप्त कर दी जाती है। किंतु, ल्हासा से दूर के स्थानों में वैभवहीन उपेक्षित प्रायः कुछ ऐसे विहार मिल सकते हैं, जिनमें प्राचीन मूर्तियाँ और चित्र अपने प्राचीन रूप में मिल सकते हैं। गूचङ् प्रदेश में ऐसे कुछ विहारों का अस्तित्व सुना जाता है।

रल्-प-चन के अनंतर थोड़े समय के बाद फिर दसवीं शताब्दी के अंत में—ये-शेस्-डोद् (=ज्ञानप्रभ) और रिन्-छेन्-सङ्-पो (=रत्नभद्र) के समय से फिर बौद्ध-धर्म का उत्कर्ष होने लगता है; और उसके साथ नए मंदिरों और उनके चित्रों का प्रचार

बढ़ने लगता है। रत्नभद्र के बनवाए लदाख के अलू-ची और सुम्-दा के विहारों में अब भी उस समय की कला के सुंदर नमूने मिलते हैं। दुर्भाग्य-वश कश्मीर-सरकार और जनता दोनों की उपेक्षा से चित्रकला के यह सुंदर भांडार थोड़े ही समय में नष्ट हो जानेवाले हैं। सूनर्-थङ् (स्थापित ११५३ ई०) ग्यारहवीं शताब्दी के कुछ भूले-भटके नमूने श्-लु रे-डिङ् (ब्रोम्-सूतोन् १००३-१०६४ द्वारा स्थापित), सूपोस्-खङ् (१०७३ ई०) में पाए जाते हैं। रे-डिङ् में मौजूद कुछ चित्रपटों को तो खास ब्रोम्-सूतोन्-प का बनाया कहा जाता है। उनमें के कितने ही चित्र भारत से या नेपाल से आए हुए हैं।

बारहवीं शताब्दी की चित्रकला भी दुष्प्राप्य सी है। उसके कुछ भित्ति-चित्र द्रुगुस्-पो (११२४ ई०), सूनर्-थङ् (११५३ ई०), कर्-म-ल्-लूदेङ् (११५३ ई०), गूदन्-स-मूथिल् (११५८ ई०), सूतग्-लुङ् (११८०), ऽब्रि-गोङ् (रिन्-ब्रसङ् ज० ११४३ द्वारा स्थापित) के मठों में मिलेंगे।

तेरहवीं शताब्दी के चित्रों के लिये विक्रमशिला महाविहार के अंतिम संघनायक शाक्य श्रीभद्र (११२७–१२२५ ई०) के भोट में दस वर्ष प्रवास के समय (१२००-९) के चार विहारों—(१) सू पो सू-खङ्-छोगस्-प (गूचङ्), (२) ग्र-नङ्-ग्र्ये-ग् लिङ्-छोगस्-प (ल्हो-ख), (३) ग्र-फ्यि-छोङ्-ऽदुस्-छोगस्-प, (४) सेन-गूदोङ-चें-छोगस्-प—की ओर देखना होगा।

तेरहवीं चौदहवीं शताब्दी के खङ् का एक चित्रपट तो बिलकुल भारतीय जान पड़ता है। सू पो सू का एक बड़ा संग्रह सू पो सू-खङ् (ग्यांची के पास) में है। इन चित्रों पर भारतीय चित्रकला की भारी छाप है। चौदहवीं शताब्दी के दो दर्जन सुंदर चित्रपट स-सूक्य मठ के, गु-रिम्-लू-खङ् में हैं।

पंद्रहवीं शताब्दी में दूगे-लुगूस्-प या पीली टोपीवाले संप्रदाय के कितने ही मठ स्थापित हुए, जिनमें दूगऽ-लूदन (१४०५ ई०), ऽब्रस्-सूपुङ् (१४१६ ई०), से-र छबू-म्दो (१४३७ ई०), बूक्र-शिस्-ल्हुन्-पो (१४४७ ई०) थोड़े ही समय में बड़े बड़े विश्व-विद्यालयों के रूप में परिणत हो गए, यद्यपि इनमें भित्ति-चित्र, और चित्रपट बहुत हैं। संभव है उस समय के कुछ चित्रपट इनमें प्राप्त हो जायँ, किंतु भित्ति-चित्र प्रायः प्रत्येक शताब्दी में नए होते रहे हैं।

सोलहवीं शताब्दी के चित्रों के लिये भी हमें उपर्युक्त दूगे-लुगूस्-प मठों की ओर विशेष रूप से देखना होगा। इसी शताब्दी में सूमन्-थङ्-यबू-स्रस् और ल्हो-ख प्रदेश के ऽक्योङ्-ग्र्यस् स्थान में उत्पन्न एक प्रसिद्ध चित्रकार भित्तुणी छुङ्-विस्; और चित्रकार चें-गूदुङ् हुए थे।

सूमन्-थङ्-यबू-स्रस् ने ल्हासा के जो-खङ् की दीवारों को चित्रित किया था। यद्यपि उसके बनाए चित्रों पर पीछे रंग कई बार चढ़ाया गया है किंतु, कहते हैं, रेखाएँ पुरानी ही रखी गई हैं। ल्हो-ख-छुङ्-ब्रिस के अंकित ९ चित्रपट, ल्हासा की ल्ह-लुङ्-ल्ह-चम् के महल में हैं। इन पर बहुत अधिक प्रभाव चीनी चित्रकला का है। रंग हल्के किंतु बड़े ही संकेतपूर्ण हैं। चें-गूदुङ् चित्रकार के लिखे ३५ चित्रपट, ट-शी-ल्हुन्पो मठ से पूर्व दो दिन के रास्ते पर ब्रह्मपुत्र के दाहिने किनारे पर अवस्थित रोङ्-ब्रगू-प गाँव के मालिक के घर में हैं।

ल्हासा का सुर्-खङ् सामंत-गृह बहुत पुराना है। कहते हैं पहले इसी स्थान पर तिब्बत के सम्राट् रहते थे। सुर्-खङ् के स्वामी मानसरोवर प्रदेश से, शायद पाँचवें दलाईलामा के समय में, आए थे। सुर्-खङ् की वर्तमान स्वामिनी तो खुद आदि

सम्राट् स्रोङ्-ब्चन्-स्गम्-पो के वंश की हैं। यदि बीच बीच के राजविप्लवों में घर नष्ट न हुआ होता, तो यहाँ कितनी ही पुरानी वस्तुएँ मिल सकतीं। इनके यहाँ वज्रपाणि-मंजुघोष-अवलोकितेश्वर की एक सुंदर पीतल की मूर्ति है। मूर्ति भारतीय ढंग से बनाई गई है; और उस पर का लेख—"ख्यद्-तु-ऽफग्स्-प-स्तोन्...क्यिस्...बृशङ्स्" बतला रहा है कि उसे सम्राट् रल्-प-चन् (८७७-६०१ ई०) के समकालीन ख्यद्-पर्-ऽफग् स्-ब्स्तोन् लो-च-व ने बनवाया था। इस वंश के पास पहले भारतीय १६ अर्हतों (स्थविरों) के चित्रपट थे, जिनमें आठ १६०८ ई० की लड़ाई में चीनियों के हाथ लगे, और उन्होंने ल्हासा के एक दूसरे खांदान के हाथ उन्हें बेच दिया। आठ अब भी सुर्-खङ् में हैं। यद्यपि यह ल्हो-ख-छुङ्-त्रिस् के समकालीन नहीं हो सकते, तो भी इनका काल सत्रहवीं शताब्दी से पीछे का नहीं हो सकता। इनमें भी छुङ्-त्रिस् की भाँति ही भूमि को सजाने की कोशिश नहीं की गई है। नीचे हलके रंग में नदी, पहाड़ फिर अत्यंत क्षीण रंग में अंतरिक्ष और सबसे ऊपर हलके नीले रंग में आसमान दिखलाया गया है। रंगों का छाया-क्रम इतना बारीक है कि देखते ही बनता है। जहाँ छुङ्-त्रिस के चित्रों में चीनी आँख-मुँह, और प्राकृतिक सौंदर्य का अधिक प्रभाव है, वहाँ इन चित्रों में भारतीय प्रभाव की झलक मिलती है। छुङ्-त्रिस ने अपने चित्रों में सोने का बहुत कम उपयोग किया है, और वस्त्रों को भी उतना बेलबूटा निकालकर सजाने की कोशिश नहीं की है, वहाँ इन चित्रों में उनका उपयोग कुछ अधिक किया गया है। इतना होते भी इस बेनामवाले चित्रकार ने भाव-चित्रण बड़ी सुंदरता से किया है। भौं, नाक, केश और अँगुलियों के अंकन में उसकी तूलिका ने बहुत कोमलता का परिचय दिया है, यह बात अन्यत्र प्रकाशित इस संग्रह के एक

चित्र से मालूम हो जायगी। छुङ्-ब्रिस् के चित्रों की भाँति कृत्रिमता से सर्वथा न शून्य होने पर भी, इन चित्रों में सजीव कोमल सौंदर्य काफी मात्रा में मिलता है। बुद्ध के चित्रों के लिये तो मालूम होता है, भारत ही में सातवीं शताब्दी में कोई महाशाप लग गया, और तब से कहीं भी बुद्ध की सुंदर मूर्ति या चित्र नहीं बन सका। और यह बात छुङ्-ब्रिस और इस सुर्-खङ् के अज्ञात चित्रकार के बारे में भी ठीक घटती है।

सत्रहवीं शताब्दी में भी तिब्बत में अनेक चित्रकार हुए। इसी शताब्दी से १६४८ ई० में पाँचवें दलाईलामा सुमतिसागर (१६१७-८२ ई०) सारे तिब्बत के महंत राजा हुए। इन्होंने १६४५ ई० में ल्हासा का प्रसिद्ध पोतला प्रासाद बनवाया। कुशल शासक, विद्याव्यसनी होने के साथ वे बड़े कला-प्रेमी भी थे। छोस्-द्ब्यिङ्-स्-र्ग्य-म्छो (=धर्मधातु सागर) और सूदे-स्रिद्-गूयऽ-सेलू इनके समय के प्रसिद्ध चित्रकार थे। धर्मधातु सागर ने ल्हासा के जो-खङ् की परिक्रमा के कुछ भाग को चित्रित किया था। इन चित्रों पर भी पीछे कई बार रंग चढ़ाया गया है, किंतु पुरानी रेखाएँ कायम रखी गई हैं।

अठारहवीं शताब्दी में भी अच्छे अच्छे चित्रकार मौजूद थे। तिब्बत देश में प्राचीन भारत की भाँति चित्रों पर चित्रकार अपने नाम अंकित नहीं करते थे; और न लेखकों को ही उनकी स्मृति जीवित रखने का ख्याल था। इसी लिये उस समय के चित्रों के होने पर भी उनका नाम जानना बहुत कठिन है। इसी शताब्दी के पहले पाद के बनाए वह तेरह चित्रपट हैं, जिन्हें लेखक ने अपनी पिछली यात्रा में ल्हासा में संग्रह किया था, और जो अब पटना-म्यूजियम में हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में ऽब्रस्-सूपुङ्-स् विहार के कूल-ऽबुम्-जे-शे चित्रकार का नाम बहुत प्रसिद्ध है। यह ग्यारहवें

दलाई लामा मूखस्-ग्रुब्-ग्र्य-म्छो के चित्रकार थे। बारहवें दलाई-लामा खिन्-लस्-ग्र्य-म्छो (मृ० १८७५ ई०) के समय ल-मो-द्कुन्-द्गऽ प्रसिद्ध चित्रकार थे। इनके बनाए तीन चित्रपट ल्हासा के म्यु-रु मठ के पार्श्ववर्त्ती ग्युंद-सूमद विहार में अब भी मौजूद है।

उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम पाद से आजकल तक भी कितने ही चित्रकार होते आए हैं। किंतु उनमें वह दक्षता नहीं रही। उन्होंने विशेष कर पहले लिखे चित्रपटों की नकल करने का ही काम किया है।

२—शिक्षा-क्रम

तिब्बत में चित्रकला के वंशानुगत होने का नियम नहीं है। भिक्षु या गृहस्थ जिस किसी की उधर रुचि हुई, इस कला का अभ्यास करने लगता है। जिन्हें अपने बालकों को पेशावाला चित्रकार बनाना होता है, वह आठ वर्ष की अवस्था में लड़के को किसी चित्रकार के पास भेज देते हैं। मेधावी बालक को आवश्यक शिक्षा प्राप्त करने में तीन वर्ष से कुछ ऊपर लगते हैं। यह शिक्षा तीन वर्गों में विभाजित है—

१—रेखा-अंकन १६ मास
२—साधारण रंग-अंकन १० मास
३—सूक्ष्म मिश्रित-रंग-अंकन ११ मास

१ रेखा-अंकन—पहले खास तरह से बन के कोयले (जो कि पेंसिल का काम देता है) से चौकोर खाना बनानेवाली रेखाएँ खींचकर उन पर मुख आदि की आकृति बनानी पड़ती है। ठीक होने पर, तूलिका द्वारा उन रेखाओं पर काली स्याही चढ़ाना सीखते हैं।

रेखा-अंकन वर्ग भी छः श्रेणियों या थिग् में बँटा हुआ है—(१) **प्रथम श्रेणी**—(१५५ अंगुल) (क). पहले बुद्ध का मुख अंकित करना सिखाया जाता है। इसमें एक मास लगता है। गुरु के दिए नमूने के अनुसार कागज पर पहले २६ अंगुल लंबा और १६ अंगुल चौड़ा आयत क्षेत्र खींचना होता है। फिर निम्न प्रकार से आड़ी-बेड़ी रेखाएँ खींचनी होती हैं—

लंबाई में—

२ अंगुल	शिर की मणि
४ "	उष्णीष
४ "	चूड़ा-ललाट
४ "	ललाट-ऊर्णा
१ "	ऊर्णा-नासा मूल
१ "	नासामूल-नेत्र की निम्न सीमा
२ "	नेत्र की निम्न सीमा-नासाग्र
४ "	नासाग्र-ठुड्डी
४ "	ठुड्डी-कंठ की निम्नसीमा
२६	

चौड़ाई में—

६ अंगुल	दाहिनी कनपटी से ललाटार्ध तक
६ "	बाईं कनपटी से ललाटार्ध तक
२ "	दाहिने कान की चौड़ाई
२ "	बायें कान की चौड़ाई
१६	

(ख) मुख के अंकन का अभ्यास हो जाने पर, ३ मास में बुद्ध के **पद्मासनासीन** सारे शरीर का अंकन सीखना पड़ता है।

पहले ८४ × ५२ का आयत क्षेत्र बनाना होता है। फिर निम्न-प्रकार लंबाई और चौड़ाई में रेखाएँ खींचनी होती हैं—

लंबाई में—

२६	अंगुल	शिर की मणि से कंठ की निम्न सीमा तक (ऊपर जैसे)
१२	”	कंठसीमा—स्तन तक
१२	”	स्तन—केहुनी
२	”	केहुनी—नाभि
४	”	नाभि—कटि
८	”	कटि—मुड़े घुटने के प्रथम छोर तक
४	”	मुड़े घुटने के मध्य तक
४	”	मुड़े घुटने के अंतिम छोर तक
१२	”	शेष के लिये
८४		

चौड़ाई में—

	अंगुल	
१२	”	मध्य ललाट से बगल तक
४	”	बगल से पैर के अँगूठे के सिरे तक
२	”	पैर के अँगूठे के सिरे से दाहिने बाजू के अंत तक
८	”	दाहिने बाजू के अंत से मुड़े घुटने के अंत के पास तक
२६		
२	अतिरिक्त	
५२	”	

(ग) फिर एक मास में वस्त्रों का अंकन करना सीखा जाता है।

श्रेणी-क्रम से रेखांकन का विवरण इस प्रकार है।

श्रेणी	विषय	अंगुल-परिमाण	मास
१	बुद्ध	१५५	५
२	अवलोकितेश्वर आदि बोधिसत्त्व	१२०	३
३	तारा आदि देवियाँ	१०८	३
४	वज्रपाणि आदि क्रोधी देव	९६	२
५	....	....	२
६	मनुष्य	....	१
			१६

इस प्रकार १६ मास में रेखांकन समाप्त होता है।

२ **साधारण रंग-अंकन**—इसमें सीधे-सादे रंगों को अलग अलग अंकित करना सीखा जाता है। क्रम और काल इस प्रकार है—

हरा रँगना	½ मास
आकाश रँगना	१ ,,
दूसरे रंग (अलग अलग)	८½ ,,
	१० ,,

३ सूक्ष्म, मिश्रित रंग-अंकन—पत्ते आदि के सूक्ष्म और अनेक छायावाले रंगों, सोने के काम तथा केश आदि का अंकन इस अंतिम श्रेणी में सीखा जाता है। क्रम और काल इस प्रकार है—

पत्ता	१ मास
लाल	१ ,,
सोने का काम	३ ,,
केश, भौं आदि	६ ,,
	११

बुद्धदेव (सिर)

बुद्धदेव (पूर्ण मूर्ति)

तारादेवी
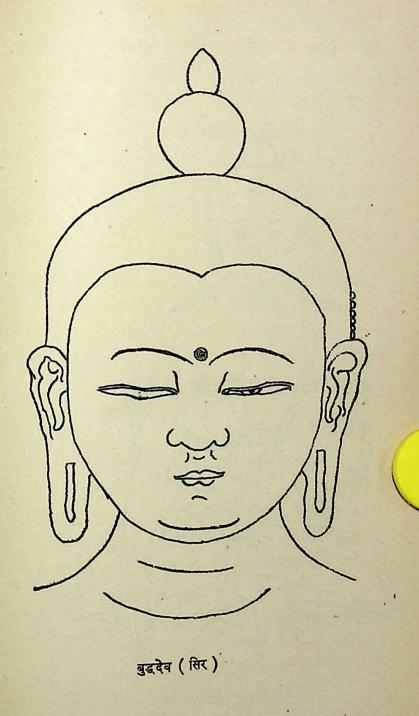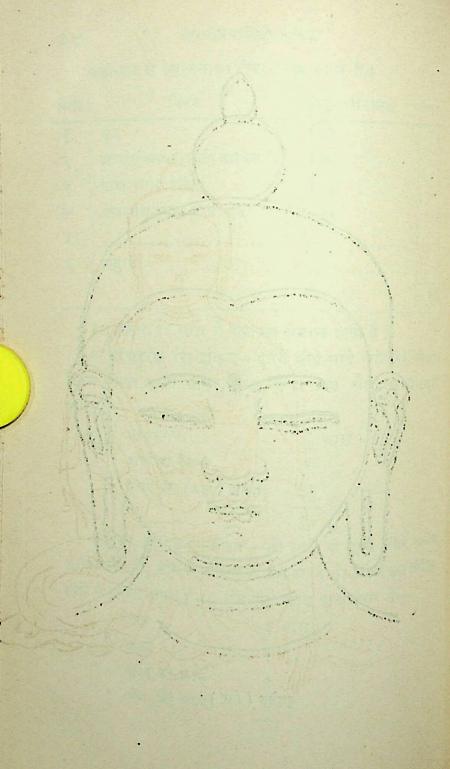
क्रोधी देवता (वज्रपाणि)

तीनों वर्गों को समाप्त कर लेने पर भी छात्र कितने ही समय तक अपने गुरु का सहायक बन काम करता रहता है।

३—चित्रण-सामग्री

चित्रण-क्रिया के लिये चार चीजों की आवश्यकता होती है—(१) भूमि, (२) तूलिका आदि, (३) रंग, (४) रंग-पात्र।

(१) **भूमि**—तिब्बत में चित्रण की **भूमि** के लिये साधारणतया पट, भित्ति या काष्ठ-पाषाण के टुकड़ों का उपयोग किया जाता है।

(क) **पट** को दर्पण समान निर्मल, श्वेत, रेखा-रहित, कोमल, लचकदार तथा तिनकोनी बिनाई से शून्य होना चाहिए। इसके लिये अधिकतर कपास के कपड़े का इस्तेमाल होता है, वस्त्र को अपेक्षित आकार में काटकर उसके चारों ओर चार बाँस की खपोचें सी देनी होती हैं। फिर लकड़ी के चौखटे में उसे रस्सी से इस प्रकार कसकर ताना जाता है, कि **पट** सब जगह एक सा तन जाय। फिर $\frac{3}{4}$ **श्वेत*** रंग में $\frac{1}{4}$ सरेस डाल गुनगुने पानी से मिलाकर पतली लेई बनाई जाती है। इस पतली लेई को कपड़े से भिगोकर पट पर लेप दिया जाता है। चारों ओर बराबर पुत जाने पर पट को छाया में सूखने के लिये रख दिया जाता है। सूख जाने पर पट के नीचे लकड़ी का एक चिकना पट्टा रखकर, पानी का हल्का छींटा दे दे उसे दोनों ओर चिकने पत्थर से रगड़ा जाता है; और फिर सूखने के लिये छाया में छोड़ दिया जाता है।

तानने को छोड़, बाकी प्लस्तर आदि का काम भित्ति और काष्ठ-पाषाण की भूमि पर भी एक सा ही किया जाता है।

* खड़िया जैसा एक रंग; देखो रंगों का वर्णन।

(२) **तूलिका**—चंदन, लाल चंदन या देवदार की सीधी बिना गाँठ की लकड़ी को तेज चाकू से (चाकू के ऊपर दूसरी समतल सहारे की लकड़ी रखकर) छीलकर इस प्रकार गोल बनाया जाता है, कि उसका एक सिरा अधिक मोटा और दूसरा पतला हो जाता है। फिर मोटे सिरे को डेढ़ अंगुल के करीब खोखला कर दिया जाता है। तब बकरी, बिल्ली या दूसरे जानवर के पानी सोखनेवाले बारीक साफ और एक से बाल को बराबर करके उसके आधे भाग पर सरेस की लेई डाल-डालकर उसमें खूब चिपका दिया जाता है; और सरेसवाले भाग को सूत लपेटकर बाँधकर सरेस के सहारे तूलिका-दंड के खोखले भाग में मजबूती से बैठा दिया जाता है। सूख जाने पर तूलिका काम के लिये तैयार हो जाती है। तिब्बत के चित्रकार दो प्रकार की तूलिका इस्तेमाल करते हैं। भौं, केश आदि के चित्रण के लिये अधिक सूक्ष्म किंतु परिमाण में कम केशोंवाली पतली **तूलिका** काम में लाई जाती है; और बाकी कामों के लिये अधिक केशोंवाली मोटी **तूलिका**।

तूलिका के अतिरिक्त दूसरा आवश्यक साधन है—परकाल। यह एक, दो, तीन अंगुल चौड़ी, प्रायः १ फुट लंबी तथा एक अंगुल मोटी बाँस की कट्टी को लंबाई में आधे-आध चीरकर एक ओर के सिरे को लोहे से छेदकर बाँध दिया जाता है। दोनों बाँहों में से एक को नोकीला और दूसरे को कोयले की पेंसिल रखने लायक खोखला बना दिया जाता है। फिर दोनों बाँहों को मोटाई में चीरकर उनके भीतर एक पतली खपीच डाल सिरों को सूत लपेट-कर बाँध दिया जाता है। यही परकाल है।

तिब्बती चित्रकार दो प्रकार की पेंसिलें इस्तेमाल करते हैं, एक सेत खरी के पत्थर की और दूसरी कोयले की। कोयले की पेंसिल के बनाने का यह ढंग है। एक हलकी लकड़ी को ताँबे या लोहे

की नली में डाल उसे हल्की आँच में डाल दिया जाता है, जल जाने पर नली से निकाल लिया जाता है। यही पेंसिल है। बिना नली के भी हल्की लकड़ी को धीमी आँच में जलाने से पेंसिल तैयार हो जाती है। इस काम के लिये भारत में सेंठे को काम में लाया जाता रहा होगा।

सोने के काम को चमकाने के लिये एक **घर्षण-तूलिका** होती है, जिसके सिरे पर बिल्लौर जैसा कोई चिकना स्वच्छ पत्थर जड़ा रहता है। पट के पीछे एक छोटा चिकना काष्ठ-फलक रख स्वर्ण-रेखा को उस कलम से रगड़ा जाता है, जिस पर सोना चमकने लगता है।

पानी में धोकर एक ही तूलिका कई रंगों में डाली जाती है।

(३) **रंग**—अब भी तिब्बत के अच्छे अच्छे चित्रकार चित्रपटों के तय्यार करने में अपने हाथ से बनाए रंगों को इस्तेमाल करते हैं। इनमें खास तरह के पत्थरों से बननेवाले रंग यह हैं—

क. अ-मिश्रित रंग

(अ) पाषाणीय

१ सेत खरी (द्क र-र गू, **पाषाणीय**)—ल्हासा के उत्तरवाले रोङ् प्रदेश के रिङ्-वुम् स्थान से यह सफेद रंग का डला आता है। डले को पीसकर अधिक पानी में घोल दूसरे बर्तन में पसा देते हैं। नीचे बैठी कँकरीली तलछट को फेंक देते हैं। कुछ देर छोड़ देने पर नीचे गाढ़ी सफेद पंक जम जाती है फिर ऊपर के पानी को फेंक दिया जाता है। इसमें गर्म पानी में घुली सफेद सरेस ($\frac{1}{2}$) खूब रगड़ रगड़कर मिला दी जाती है। इस प्रकार रंग तय्यार हो जाता है।

२ नीला (थिङ्)—ल्हासा से कुछ दूर पर च्चि-मो स्थान से यह नीले रंग का बालू आता है। ठंडे पानी के साथ थोड़ा सरेस मिला दो घंटे तक इसे खल में पीसना होता है। फिर अधिक पानी मिला उसे एक बर्तन में पसाया जाता है। फिर पंद्रह मिनट तक उसे थिर करके दूसरे बर्तन में पसाया जाता है। दूसरे में भी पंद्रह मिनट रखकर तीसरे में पसाया जाता है। तीसरे में भी पंद्रह मिनट रखकर चौथे में पसा दिया जाता है। चौथे बर्तन में आध घंटा रख पानी को फेंक दिया जाता है। चारों बर्तनों में बैठी पंक चार प्रकार का नीला रंग देती है—

(१) **अतिनीला** (थिङ्-ऽब्रु)—इससे वज्रधर आदि के शरीर का रंग बनाया जाता है।

(२) **अल्प-नील** (थिङ्-शुन्)—इससे आकाश का रंग बनाया जाता है।

(३) **अल्पतर-नील या श्याम** (सू ङो-वसङ्)—इससे पानी का रंग बनाया जाता है।

(४) **अल्पतम नील** (सूङो-सि)—इससे छाया, आकाश की मलिनता आदि दिखलाई जाती है।

३ हरित (सूपङ्)—यह भी उपर्युक्त च्चि-मो स्थान से बालू के रूप में आता है। बनाने का ढंग **नीला** जैसा ही है; किंतु इसे चार की जगह तीन बर्तनों ही में पसाते हैं, जिससे तीन प्रकार के हरे रंग प्राप्त होते हैं—

(१) **अति-हरित** (सूपङ्-म)—जिससे हरित तारा, पत्र, तृण आदि को रँगा जाता है।

(२) **अल्प-हरित** (सूपङ्-शुन्)—जिससे पृथिवी आदि को दिखलाया जाता है।

(३) **अल्पतर-हरित** (सूपङ्-ग्यें)--जिससे कपड़े के रंग, ध्वजा, मृणाल, पुष्प-दंड आदि बनाए जाते हैं।

४ **पाषाणी पीत** (ब-ब्लू-सेर्-पो)---यह सोनामक्खी जैसा पीला नर्म पत्थर पूर्वीय तिब्बत के खम् प्रदेश से आता है। सूखा ही कूटकर बालू जैसा बना, थोड़े सरेस और पानी के साथ खरल में दो दिन तक पीसा जाता है। फिर अधिक पानी में घोल पसा लेना होता है। पंक के नीचे बैठ जाने पर पानी को फेंक दिया जाता है।

५ **कच्चा इंगुर** (छलू-लूचोग्-ल)---यह पत्थर भी खम् प्रदेश से आता है। पहले सूखा पीस मोटे बालू-सा बना, सरेस और पानी के साथ खरल में खूब पीस देने पर रंग तय्यार हो जाता है। आज-कल इसकी जगह चीन में रूई में डालकर बना लाल रंग---यङ्-टिन्---इस्तेमाल किया जाता है।

६ **सिंदूर** (लि-खि)---यह भारत से तिब्बत में आता है। सरेस और पानी के साथ खरल करके रंग तय्यार किया जाता है। इससे बुद्ध और भिक्षुओं के काषाय वस्त्र बनाते हैं।

७ **लाल** (छ्लू)--यह पाषाणीय रंग भारत से आता है, और सिंदूर की भाँति ही तय्यार किया जाता है, और उससे वही काम लिया जाता है।

(आ) धातुज

८ **चाँदी का रंग** (दूङुलू-बूदुलू)--नेपाली लोग चाँदी की इस भस्म को बनाते हैं। पानी और सरेस के साथ इसे घिसकर लिखने के लिये तय्यार किया जाता है। इसका उपयोग बहुत ही कम होता है।

९ **सोने का रंग** (गूसेर्-बूदुलू)—इस भस्म को भी नेपाली लोग तय्यार करते हैं। रंग, सरेस और पानी में घोंटकर

बनाया जाता है। इससे बुद्ध का रंग तथा आभूषण आदि बनाए जाते हैं।

(इ) मिट्टी

१० **पीली मिट्टी** (ङङ्-प-गूसेर्-गूदन्)—यह मुल्तानी मिट्टी जैसी पीली चिकनी मिट्टी ल्हासा से पूर्व येर-वा स्थान से आती है। इसे थोड़े सरेस के साथ पानी में दो घंटा उबालकर तय्यार किया जाता है। सोना लगाने के पहिले भूमि इससे रंजित की जाती है, जिससे सोने का रंग बहुत खिलने लगता है।

(ई) वानस्पत्य

११ **मसी** (सूनग-छ्)—ल्हासा से दक्खिन और पूर्ववाले कोङ्-वो प्रदेश में देवदार की लकड़ी के धूएँ से कजली तय्यार करते हैं। इसी को ठंडे पानी और सरेस में रगड़कर स्याही की गोली तय्यार की जाती है। रेखाएँ और केश आदि के अंकित करने में इसका उपयोग होता है।

१२ **नील** (रम्)—भारत से नील के पौधे से बना यह रंग आता है। सरेस के साथ पानी का छीटा दे दे १५, २० घंटा खरल में रगड़ने पर रंग तैयार होता है। बादल, छाया और रेखाएँ इससे बनाई जाती हैं।

१३ **उत्पल-जल** (उ-द्-पल्-सेर्-पो)—ल्हासा के उत्तरवाले फेम्-बो प्रदेश के रे-डिङ्, तथा दूसरे स्थानों के सूर्य की कड़ी धूप न लगनेवाले पहाड़ी भागों में एक प्रकार का फूल उत्पन्न होता है, जिसे तिब्बतवाले उत्पल कहते हैं। इसकी पत्ती में शुन् का पत्ता $\frac{१}{१०}$ हिस्सा मिला पानी में १५ मिनट पकाया जाता है। इस हल्के पीले रंग के पानी से पत्तों का किनारा बनाने, तथा दूसरे रंगों में मिलाने का काम लिया जाता है।

१४ **शुन्** एक वृक्ष का पत्ता है, जो भूटान की ओर से आता है। इसके पकाए पानी को दूसरे रंगों में मिलाया जाता है।

(उ) प्राणिज

१५ **लाख** (ग्यॅ-छोस्)—भारत या भूटान से आती है। लकड़ी आदि हटाकर इसे साफ कर लिया जाता है। फिर उसमें बहुत ही गर्म पानी डाला जाता है। फिर १/१० हिस्सा **शुन्** का पत्ता और थोड़ी फिट्किरी (छ्-ल-दूकर्-पो) को डाल दिया जाता है। फिर पानी को पसाकर उसे धीमी आँच में पकाकर गाढ़ा करके गोली बना ली जाती है।

१६ **सरेस** (सूप्यिन्)—किसी भी चमड़े को बाल हटाकर खूब साफ करके छोटा छोटा काट दिया जाता है। दो दिन तक उबालने पर चमड़ा गलकर लेई-सा बन जाता है। इसे सुखाकर रख लिया जाता है, और सभी रंगों में इसको मिलाया जाता है। यह रंग को चमकीला और टिकाऊ बनाता है।

(ऊ) अज्ञात

१७ **यङ्-टिन्**—चीन में यह लाल रंग बनता है, और रूई में सुखाया बिकता है। पहले तिब्बत में इसकी जगह छ्लू-लू चेगू-ल (ईंगुर) का उपयोग होता था।

ख. मिश्रित रंग

ऊपर के रंगों के अतिरिक्त कुछ और भी रंग हैं, जिन्हें भोट-देशीय चित्रकार इस्तेमाल करते हैं; किंतु यह सब रंग उपर्युक्त रंगों के मिश्रण से बनाए जाते हैं।

१ **पांडु-श्वेत** (लि-सूक्य)—सेतखरी ६/१४ + पाषाणी पीत ३/१४ + सिंदूर १/५ मिलाकर सरेस के साथ पानी का छींटा दे दे

घोटने से यह रंग बनता है। इससे मणि, किरण तथा चीवर के भीतरी भाग को दिखलाया जाता है।

२ **पीतिम रक्त** (चो़-म) सिंदूर १/२ + पाषाणी पीत ३/८ + सेतखरी १/८ को मिलाकर **पांडु श्वेत** की भाँति बनाया जाता है। इससे मैत्रेय, मंजुघोष आदि का शरीर रंजित किया जाता है।

३ **पांडु-रक्त** (सूगन्-ग्यें-छो़-व) सिंदूर ६/११ + इंगुर (मूछ़ल्) ४/११ + सेतखरी १/११ मिलाकर पांडु-श्वेत की भाँति बनाया जाता है। इससे अमिताभ, अमितायु, हयग्रीव आदि के वर्ण को बनाया जाता है।

४ **सिंदूर-रक्त** (सूमर्-सूक्य-सूक्य-प) सिंदूर ३/७ + ईंगुर (मूछ़ल्) २/७ + सेतखरी २/७ मिलाकर पांडु-श्वेत की भाँति बनाया जाता है, इससे आसन, कपड़े आदि के रंग बनाए जाते हैं।

५ **लाखी श्वेत** (न-रोस्) सेतखरी ३/५ + लाख २/५ मिलाकर उक्त क्रम से बनाया जाता है। बुद्ध के प्रभा-मंडल तथा घर आदि के रँगने में इसका उपयोग होता है।

६ **नील-हरित** (ग् यु-ख) अति नील १/२ + अति हरित १/२ मिलाकर उक्त क्रम से बनाया जाता है। पत्तों आदि के रँगने में काम आता है।

७ **मेघ-नील** (शुन्-रम्) नील (१२) २/३ + उत्पल जल १/३ मिलाकर उपर्युक्त क्रम से बनाया जाता है। मेघ, मरकत आदि को अंकित किया जाता है।

८ **हरीतिम-श्वेत** (सूपङ्-सि) सेत खरी २/३ + अतिहरित १/३ मिलाकर उक्त क्रम से बनाया जाता है।

(४) **रंग-पात्र** मिट्टी के पात्र रंगों के रखने के लिये सर्वोत्तम माने जाते हैं। नील और लाल रंगों के लिये चीनी मिट्टी के पात्र

भी इस्तेमाल किए जाते हैं। लाख और लाखी श्वेत जैसे रंग उनकी आवश्यकतावाले रंगों के लिये शंख के टुकड़े काम में आते हैं। एक पात्र में डुबाई तूलिका को बिना पानीवाले पात्र में प्रक्षालित किए दूसरे रंग-पात्र में नहीं डाला जाता, क्योंकि इससे रंग के बिगड़ जाने का डर होता है।

४—चित्रण-क्रिया

चित्रण-क्रिया में सबसे कठिन काम रेखाओं का अंकन करना है। बहुधा प्रधान चित्रकार का काम रेखाओं का अंकित करना होता है। रंगों के भरने का काम वह अपने सहायक के लिये छोड़ देता है। चित्रण-क्रिया में निम्न क्रम का अनुसरण किया जाता है—

१—चित्र की भूमि (पट, भित्ति आदि) को श्वेत प्लस्तर लगा तैयार करना।

२—कोयले की पेंसिल (= अंगार-तूलिका) से पट के कोनों को रेखाओं द्वारा मिलाना। फिर केंद्र पर वृत्त, तथा उसके चारों ओर तुल्य अर्द्धव्यासवाले चार वृत्तों का खींचना। कटे बिंदुओं को सरल रेखाओं से मिलाना आदि।

३—कोयले से मूर्ति अंकित करना।

४—रेखाओं पर स्याही चलाना।

५—अ-मिश्रित रंग लगाना।

६—मिश्रित रंग लगाना।

७—फूल, मेघ आदि को रंजित करना।

८—सोने के रंग को पहले से पीली मिट्टी लगाए स्थानों पर लगाना।

९—नेत्र, केश, मूँछ आदि को सूक्ष्म तूलिका से बनाना।

१०—छोटे चिकने काठ की तख्ती को नीचे रखकर सोने की रेखाओं को **घर्षण-तूलिका** से रगड़कर चमकाना।

५—चित्रकला-संबंधी साहित्य

भोट में मौजूद चित्रकला-संबंधी ग्रंथों को दो भागों में बाँटा जा सकता है। (१) एक वे जो भारतीय संस्कृत-ग्रंथों के अनुवाद हैं; और (२) वे, जिन्हें भोट के विद्वानों ने स्वयं लिखा है। (१) प्रथम श्रेणी के ग्रंथों में (क) कुछ तो ऐसे हैं, जिनका विषय दूसरा है, किंतु प्रसंग-वश उनमें चित्रण-कला की बात भी चली आई है, जैसे **मंजु श्री मूलकल्प**। (ख) उनके अतिरिक्त **प्रतिमा मान लक्षण**-सदृश भारतीय आचार्यों के कुछ ग्रंथ सिर्फ चित्रण-कला तथा मूर्ति-कला के लिये ही बनाए गए हैं। भोटदेशीय विद्वानों के बनाए ग्रंथों में उक्त दो श्रेणी के ग्रंथ पाए जाते हैं। कंजूर में अनुवादित प्रायः सभी तंत्र-ग्रंथों में चित्रण-क्रिया के बारे में कुछ न कुछ सामग्री मिलती है।

---

(१३) हिंदी एवं द्राविड़ भाषाओं का व्यावहारिक साम्य और उनका हिंदी पर संभावित प्रभाव

[लेखक—श्री ना० नागप्पा, एम० ए०, बंगळूर]

प्राक्कथन

भाषाओं के रूपात्मक वर्गीकरण के अनुसार द्राविड़ भाषाएँ संसृष्टावस्था (agglutinative stage) में हैं। ई० उन्नीसवीं शताब्दी के भाषा-विदों का मत था कि द्राविड़ भाषाएँ सिथियन परिवार की हैं; परंतु वर्तमान समय के भाषाविदों का सर्वसम्मत मत है कि संसार की भाषाओं में द्राविड़ भाषाओं का अपना एक अलग परिवार है; वे किसी अन्य भाषा-परिवार से संबद्ध नहीं हैं।

द्राविड़ भाषाओं का रूप

महाभारत के अनुसार "द्राविड़" शब्द एक देश का नाम था। पुराने पंडितों ने दक्षिणी ब्राह्मणों को 'पंच द्राविड़ों' की संज्ञा दे रखी थी। पंच द्राविड़ों में तमिळ्, आंध्र, कर्नाटकी, गुजराती एवं महाराष्ट्री ब्राह्मणों की गणना होती थी। इनके आचार 'द्राविड़ाचार' कहलाते थे। इनकी भाषाएँ 'पंच द्राविड़ भाषाएँ' कहलाती थीं और भारतीय आर्य्य-भाषाएँ (गुजराती एवं महाराष्ट्री को छोड़कर) 'गौड़-भाषाओं' के नाम से प्रसिद्ध थीं। परंतु यह निश्चित हो चुका है कि गुजराती एवं महाराष्ट्री आर्य्य-भाषाएँ हैं, द्राविड़ी नहीं हैं।

द्राविड़ शब्द

संस्कृत-साहित्य में उपलब्ध 'द्राविड़' शब्द पुरानी तमिळ् भाषा के << द्रमिळ् >> शब्द का रूपांतर है। पाली के महा-वंसो-ग्रंथ में इस शब्द का 'दामिलो' रूप मिलता है। प्राकृत-

काल में <<–म–>> का <<–व–>> में परिवर्तन होता था। द्राविड़ी <<–ळ–>> का आर्य्य-भाषाओं में <<–ड–>> या <<–ल–>> हो जाता था। वैदिक संस्कृत में <<–ड–>> का <<–ळ–>> के समान उच्चारण होता था। संस्कृत के 'द्राविड़' शब्द को तमिळ् भाषा के विद्वानों ने <<तिरमिड>> के रूप में गृहीत किया। Jules Bloch नामक विद्वान् का मत है कि यह शब्द <<'तमिल'>> रूप में ई० सन् ७०० तथा १२०० के मध्य में परिवर्तित हुआ (दे० इंडियन एंटिक्वेरी जिल्द ४८, पृ० १६१-५)।

इस समय द्राविड़ भाषाएँ भारतवर्ष के बाहर कहीं नहीं बोली जाती हैं। सभी वैज्ञानिकों का मत है कि द्राविड़ लोग अति

द्राविड़ों का आदिम निवास-स्थान

प्राचीन काल से भारतवर्ष में निवास करते आए हैं। प्राचीन तमिळ् साहित्य की कुछ उक्तियों से मालूम होता है कि द्राविड़ों का आदिम निवास-स्थान 'लेमुरियम' नामक स्थान था जो इस समय हिंद महासागर के नीचे सोया हुआ है। इधर मोहन जो दड़ो (Mohanjo daro) की खुदाई से कुछ ऐसी वस्तुएँ देखने में आई हैं जो प्राचीन आर्य्य सभ्यता-काल के पहले की मालूम होती हैं। भारतवर्ष के उत्तर-पश्चिम में बलूचिस्तान में 'ब्रहुई' नामक एक द्राविड़ भाषा इस समय बोली जाती है। Schoener साहब ने मेसोपोटेमिया और ईरान के कुछ नगरों के नामों को द्राविड़ी सिद्ध किया है। उत्तर भारत में स्थान स्थान पर द्राविड़ भाषाएँ बोली जाती हैं। इन कारणों से आधुनिक विद्वान् द्राविड़ों के आदिम निवास-स्थान को मेसोपोटेमिया, एशिया माइनर एवं भूमध्यसागर के पूर्वी प्रदेश में बताते हैं। कुछ और विद्वानों का कहना है कि अपने इस आदिम निवास-स्थान से द्राविड़ समुद्र पर से दक्षिण भारत में आए और

वहाँ से उत्तर की ओर बढ़े। अन्य विद्वान् (इन्हीं का बहुमत भी है) भारत में द्राविड़ों के प्रवेश को उत्तर-पश्चिम सीमा-प्रांत के द्वारा हुआ मानते हैं क्योंकि ब्रहुई इसी प्रांत में अब भी अवशिष्ट द्राविड़ भाषा है यद्यपि उसके चारों ओर आर्य्य भाषाएँ बोली जाती हैं। आजकल आम तौर पर यही माना जाता है कि द्राविड़ों का आदिम निवास-स्थान मेसोपोटेमिया के आसपास कहीं था और वे उत्तर-पश्चिम सीमा-प्रांत से होते हुए भू-मार्ग से भारत में आए और जैसे जैसे आर्य्यों ने उत्तर भारत का आक्रमण किया, द्राविड़ दक्षिण के कोने तक बढ़ते गए। विद्वान् द्राविड़ों को भारत के ही आदिम निवासी मानते हैं, कहीं से आकर भारत में बसे हुए नहीं। जो कुछ हो, यह निर्विवाद विषय है कि भारत में आर्य्यों के आगमन के पूर्व द्राविड़ यहाँ थे।

द्राविड़-भाषा-प्रदेश

उत्तर में विंध्य पर्वत एवं नर्मदा नदी तथा दक्षिण में कन्याकुमारी के मध्यवर्त्ती प्रदेश में महाराष्ट्री, गुजराती तथा उड़िया भाषा-प्रदेशों के अतिरिक्त अन्य स्थानों में इस समय द्राविड़ भाषाएँ बोली जाती हैं। दक्षिणी द्राविड़ भाषाओं की उत्तरी सीमा मध्य भारत के < <चाण्डा” > > (chanda) जिले के उत्तर पूर्व कोने तक पहुँच गई है। इन भाषाओं की पश्चिमी सीमा पश्चिमाद्रि के साथ साथ अरब-समुद्र की ओर कोल्हापुर जिले के दक्षिण-पश्चिम प्रदेश से होती हुई "गोआ" नगर के एक सौ मील दक्षिण तक पहुँच गई है। इस प्रदेश के अतिरिक्त उत्तर में मध्य-भारत, छोटा नागपुर तथा राजमहल पहाड़ों के आसपास गंगाजी तक द्राविड़-भाषा-भाषी यत्र-तत्र देखने में आते हैं। ये उत्तरी द्राविड़-भाषाएँ आर्य्य-भाषाओं से परिवृत होने के कारण शीघ्र ही लुप्त होती जा रही हैं। द्राविड़ भाषाओं की पूर्वी सीमा पुरी से लेकर कन्याकुमारी तक का समुद्र-तीर है।

बलूचिस्तान में 'ब्रहुई' नामक एक द्राविड़-भाषा बोली जाती है। सिंहल-द्वीप के उत्तर-भाग में की भाषा भी द्राविड़ी है।

तमिळ्, मलयाळम्, कन्नड एवं तेलुगु प्रसिद्ध द्राविड़-भाषाएँ हैं। इन चारों भाषाओं के अपने अपने प्राचीन साहित्य हैं।

द्राविड़ भाषाओं के नाम

इनमें से प्रत्येक भाषा के दो दो स्वरूप हैं—(१) साहित्यिक रूप, (२) कथित रूप। द्राविड़-भाषाओं के बोलने में मौखिक संधि करने की प्रवृत्ति अधिक होने के कारण इन दोनों रूपों में बड़ा अंतर है। इन चार मुख्य भाषाओं के अतिरिक्त दक्षिण में तुळु, कोडगु, होड, कोट, बडग नामक कन्नड की पाँच विभाषाएँ (Dialects) बोली जाती हैं। उत्तर भारत में द्राविड़-परिवार की भाषाओं में से 'कुरख', माल्तो, कूई, गोंडी तथा ब्रहुई हैं। उत्तर की एकाध जंगली जातियाँ भी द्राविड़ भाषाएँ बोलती हैं जिनमें 'कोलामी' मुख्य हैं। तमिळ् भाषा की भी 'कुरुख' और 'इरुळ' नामक दो विभाषाएँ हैं।

तमिळ् भाषा पश्चिमाद्रि एवं पूर्वाद्रि की तराइयों एवं पूर्व-समुद्र (Bay of Bengal) के बीच मध्यप्रदेश में पुलिकात् से

तमिळ्-भाषा-प्रदेश

लेकर कन्याकुमारी तक बोली जाती है। तिरुवाँकूर (Travancore) के दक्षिण में तथा सिंहल द्वीप के उत्तर में भी तमिळ्-भाषा-भाषी पाए जाते हैं। दक्षिण अफ्रिका के निर्वासित भारतीयों में से तमिळ्-भाषा-भाषियों की संख्या अधिक है। उस प्रदेश में तथा रंगून में भी तमिळ् भाषा सुनने में आयगी।

द्राविड़-भाषा-परिवार में तमिळ् सबसे पुरानी भाषा है। इसकी दो लिपियाँ हैं। एक लिपि तो 'तमिळ्' लिखने का काम

तमिळ्-भाषा एवं साहित्य

देती है; और दूसरी लिपि से संस्कृत भाषा लिखी जाती है। दूसरी लिपि को 'ग्रंथ-

लिपि' कहते हैं। ग्रंथ-लिपि की आवश्यकता इसलिये है कि संस्कृत में प्रयुक्त बहुत सी ध्वनियाँ तमिऴ् में व्यवहृत नहीं हैं।

तमिऴ्-भाषा जितनी प्राचीन है उसका साहित्य भी उतना ही प्राचीन एवं सुसंस्कृत है। तमिऴ् में शुद्ध द्राविड़ शब्दों की प्रचुरता है। दक्षिण में यह लोक-श्रुति है कि शिवजी ने अगस्त्य महर्षि को तमिऴ् भाषा सिखाई और अगस्त्य महर्षि उत्तर भारत से तमिऴ् लिपि ले आए (दक्षिण की सभी लिपियाँ ब्राह्मी लिपि से ही उत्पन्न हुई हैं)। उन्होंने स्वयं 'पेर-गत्तियम्' नामक व्याकरण लिखा और अपने शिष्य से 'तोल्का-प्पियम्' नामक व्याकरण लिखवाया। दक्षिण में दूसरी लोक-श्रुति यह भी है कि शिव-मृदंग को बाईं ओर बजाने से निकली हुई आवाज से 'तमिऴ्' भाषा की ध्वनियाँ उत्पन्न हुईं और दाहिनी ओर बजाने से निकली आवाज से 'संस्कृत वाणी'। शंभु-रहस्य नामक संस्कृत-ग्रंथ में शिव-सुब्रह्मण्य-संवाद का इस प्रकार उल्लेख मिलता है—

"मामुद्दिश्य तपश्चक्रे पुरागस्त्यो महामुनिः।
मया प्रदत्त विज्ञानो द्रामिडीं व्याकृतिं व्यधात्॥
नापभ्रंशत्वदोषोऽस्ति द्रामिडीनां गिरां ततः।
अनार्षमांध्रकर्णाटद्यौर्जराद्यं हि भाषितम्॥"

किसी भी भाषा के साहित्य की रचना के उपरांत ही तो व्या-करण लिखा जाता है। यह बात निम्नलिखित < <पेरगत्तियम्> > नामक तमिऴ्-व्याकरण से स्पष्ट प्रतीत होती है।

"इलक्कियमिन्त्रियिलक्कणमिन्त्रे।
इलक्कणमिन्त्रियिलक्कियमिन्त्रे॥
डाळ्ळिळनिन्त्रेण्णेयेडुप्पदु पोल।
विलक्कियत्ति निन्त्रेडु पडु मिलक्कणं॥"

तोल्काप्पियम् व्याकरण में प्राचीन ग्रंथों से अनेक उद्धरण भी मिलते हैं। यदि अगस्त्य ने कोई व्याकरण लिखा भी तो उस ग्रंथ को अन्य प्राचीन रचनाओं की सहायता से उन्होंने लिखा होगा। "अक्षर" अर्थक <<डाळ्ट्टु>> और "पुस्तक"-अर्थक <<शुवडि>> शब्द शुद्ध तमिळ् के हैं। अतः इन शब्दों से मालूम होता है कि अगस्त्य उत्तर भारत से अपने साथ कोई लिपि नहीं लाए थे। अगस्त्यवाली कथा में इतना ही तथ्यांश मानना चाहिए कि आर्यों में अगस्त्य सर्वप्रथम द्राविड़ भाषाओं की ओर सहानुभूति दिखानेवाले थे।

तमिळ् साहित्य में तिरुवळ्ळवर-रचित 'कुरळ्' नामक सांख्य ग्रंथ, कम्ब-रामायण तथा पुरानी तमिळ्-भाषा का व्याकरण <<नन्नूल>> प्रसिद्ध हैं।

मलयाळम् भाषा-प्रदेश तथा लिपि

पश्चिमाद्रि एवं पश्चिम-समुद्र (अरब-समुद्र) के मध्य-प्रदेश में और 'मंगळूर' (जिला, दक्षिण कन्नड) के पास 'चंद्रगिरि' से लेकर दक्षिण में 'त्रिवंद्रम्' तक के प्रदेश में <<मलयाळम्>> (सं० केरल) भाषा बोली जाती है। <<मलयाळम्>> भाषा में <<मल>> शब्द का अर्थ है 'पहाड़' और <<आलम्>> का शब्दार्थ है 'गहराई' जिससे लक्षणा से 'समुद्र' अर्थ निकल सकता है। अतः पर्वत (पश्चिमाद्रि) एवं जल (समुद्र) के मध्यवर्ती प्रदेश <<मलयाळम्-नाडु>> (=मलयाळम् देश) और उसकी भाषा <<मलयाळम्>> के नाम से प्रसिद्ध हुई। मलयाळम् एवं तमिळ् भाषाओं में बहुत ही कम अंतर है।

तेलुगु भाषा दक्खिन (The Dekhan Peninsula) के पूर्व-प्रदेश में बोली जाती है। दक्षिण में 'पुलिकाट्' से उत्तर में चिकाकोले तक तेलुगु भाषा बोली जाती है। महाराष्ट्र एवं मैसूर

देशों के पूर्व भाग तक इस भाषा की सीमा है। हैदराबाद रियासत के पूर्व-भाग, नागपुर के कुछ प्रदेशों तथा गोंडावन में भी तेलुगु-भाषा-भाषी हैं। तेलुगु भाषा का नाम संस्कृत में "अंध्र" रखा गया है। तेलुगु लिपि कन्नड लिपि से बहुत मिलती है। तेलुगु देश के "त्यागराज" के कीर्तन दक्षिण में उतने ही प्रसिद्ध हैं जितने 'सूरदास' के पद उत्तर में।

तेलुगु-भाषा-प्रदेश

इस समय कन्नड मैसूर रियासत एवं कोडगु (Coorg) देश की मुख्य भाषा है। बंबई-प्रांत के दक्षिण-भाग, हैदराबाद रियासत के दक्षिणी प्रदेश एवं मद्रास प्रांत के उन प्रदेशों में जो मैसूर के पास पड़ते हैं कन्नड भाषा ही बोली जाती है। उपर्युक्त पाँच देशों की प्रजा-संख्या में कन्नड-भाषा-भाषियों की संख्या इस प्रकार है।

कन्नड भाषा की व्यापकता

प्रांत या देश	कुल प्रजा संख्या में कन्नड-भाषा-भाषियों की प्रतिशत संख्या
बंबई	१२·१५ %
मद्रास	३·६६ %
कोडगु	३९·९० %
हैदराबाद	११·२२ %
मैसूर	६८·९३ %

बंबई प्रांत में बीजापुर (८२%), धारवाड़ (७८%), बेळगावि (हिं० बेलगाम) (६८%), उत्तर कन्नड (५५%)—इन स्थानों की मुख्य भाषा (अर्थात् कुल प्रजा-संख्या से ५०% अधिक प्रजा की मातृभाषा) कन्नड है। सोल्लापुर जिल्ले में ७% से अधिक प्रजा कन्नड-भाषा-भाषी है। सतारा जिले में भी कन्नडवाले हैं। बंबई प्रांत की देशी रियासतों में से अक्कलकोटे, जमखंडि, मुधोळ ('रन्न'

कवि का <<मुदवोळलु>>), रामदुर्ग, सवणुरु, वाडि—इन रियासतों की मुख्य भाषा कन्नड है। कोल्लापुर में करीब डेढ़ लाख (१५%) कन्नड-भाषा-भाषी हैं। सांग्लि में एक लाख (१०%) कन्नड-भाषा-भाषी हैं। कुरंदवाड, मिरज्, जाठ् इन रियासतों में से प्रत्येक रियासत की प्रजा-संख्या में एक लाख से अधिक कन्नड-भाषा-भाषी की हैं।

बंबई-प्रांत में मराठी, गुजराती और सिंधी के बाद कन्नड का स्थान है।

मद्रास प्रांत में मैसूर के आसपास कन्नड-भाषा-भाषी हैं। संडूर-रियासत तथा बळ्ळारि (Bellary) जिले के चारों ओर चार-पाँच जिलों की मुख्य भाषा कन्नड है। अनंतपुर जिले में करीब एक लाख (१०%) कन्नड-भाषा-भाषी हैं। "दक्षिण कन्नड" (South Canara) जिले का नाम "कन्नड" होते हुए भी वहाँ की पौने चौदह लाख प्रजा में से केवल अढ़ाई लाख प्रजा की मातृभाषा कन्नड है। इस जिले की मुख्य भाषा "तुळु" है (जो कन्नड की एक उपभाषा है) परंतु इस जिले में कन्नड-भाषा के लिये अग्र-स्थान प्राप्त हुआ है क्योंकि वही साहित्यासीन भाषा है। कन्नड-भाषा की दक्षिण-पूर्व सीमा कावेरी उपनदी भवानि नदी तक है। कोयिमचूरु (Coimbatore) जिले में तीन लाख कन्नड-भाषा-भाषी हैं। सेलम् जिले में १,३८,००० कन्नडवाले हैं। तिरुचनापळ्ळि (Trichy) में चालीस हजार, नीलगिरि पर तीस हजार, रामनाडु, चित्तूरु, उत्तर आर्काडु जिलों में से प्रत्येक जिले की प्रजा-संख्या में बीस हजार की भाषा कन्नड है। मलबार में भी कन्नडवालों की संख्या करीब सोलह हजार तक पहुँचती है।

मद्रास-प्रांत में तेलुगु, तमिळु, मलयाळम् तथा उरिया के बाद कन्नड का स्थान आता है।

कोडगु-देश में कन्नड ही प्रधान भाषा है।

हैदराबाद रियासत में प्रधानतया रायचूरु (६३'८४%), गुल्बर्ग (४९'३४%) जिलों की भाषा कन्नड है। बीदर जिला मराठी एवं कन्नड भाषाओं का संधिस्थल है। इस जिले में दो लाख साठ हजार (करीब ३०%) कन्नड-भाषा-भाषी हैं। इस जिले में मराठीवालों की संख्या कन्नडवालों की संख्या से केवल पचास हजार अधिक है। हैदराबाद जिले में कन्नड-भाषा-भाषियों की संख्या १,६२,००० है। उस्मानाबाद, नंदेरू जिलों में से प्रत्येक जिले में कन्नडवालों की संख्या करीब चालीस हजार तक आती है। **हैदराबाद की राजकीय-भाषा यद्यपि उर्दू है, वहाँ उर्दू-भाषा-भाषियों की संख्या (१५,०७,२७२) उसी रियासत के कन्नड-भाषा-भाषियों की संख्या से एक लाख कम है।**

हैदराबाद में प्रजा-संख्या की दृष्टि से तेलुगु, मराठी के बाद 'कन्नड' का तृतीय स्थान है और उर्दू का सबसे अंतिम स्थान है।

भाषा की स्थिति एवं प्रामुख्य की दृष्टि से इस समय मैसूर देश ही कन्नड भाषा का आश्रय-स्थान है। इस देश में अग्र-लिखित भाषाएँ बोली जाती हैं और उनके बोलनेवालों की संख्या यों है।

भाषा	कुल प्रजा-संख्या में उक्त-भाषा-भाषियों की प्रतिशत संख्या
कन्नड	६८'८३%
तेलुगु	१५'७२%
उर्दू (दक्खिणी हिंदी)	५'८४%
तमिळु	४'७८%
अन्य भाषाएँ	३'८३%

मैसूर-देश की कुल प्रजा-संख्या (६५,५७,३०२) में ४५,७८,८०१ प्रजा की मातृभाषा कन्नड है। बाकी लोगों में से आधे लोगों की मातृभाषा तेलुगु है। मैसूर-देश का पूर्वभाग एक प्रकार से तेलुगु प्रदेश ही है। पावगड, चिक्कबळ्ळापुर, श्रीनिवासपुर, मुळबागिलु, चिंतामणि, शिल्लघट्ट, बागेपल्लि, गुडिबंडे, गोरीबिदनूरु इन जिलों की मुख्य भाषा तेलुगु है। इनके अतिरिक्त चित्रदुर्ग, तुमकूरु, बेंगळूरु (Bangalore), कोलार जिलों के अनेक ताल्लुकों में तेलुगु-भाषा-भाषी अधिक संख्या में हैं। हिंदूपुरम् से कुप्पम् तक एक रेखा खींची जाय तो हम स्थूल रूप से यह कह सकते हैं कि उस रेखा से पूर्ववर्ती प्रदेश तेलुगुवालों का है। इस प्रकार तेलुगु मैसूर की भाषा कन्नड की एक मुख्य सहभाषा होने पर भी इस देश में रहनेवाले तेलुगु-भाषा-भाषियों में से ४०% तेलुगुवाले कन्नड जानते हैं। मैसूर में उर्दू बोलनेवालों की संख्या ३,८२,८७६ है। इनमें से भी ४८% लोग (जो प्रायः मुसलमान हैं) कन्नड बोल सकते हैं और बोलते भी हैं। बेंगळूरु छावनी (जहाँ २८,०८७ उर्दू-भाषा-भाषी हैं) को छोड़कर मैसूर देश के और किसी भाग में भी उर्दू बोलनेवाले इकट्ठे नहीं मिलेंगे; हाँ, यत्र-तत्र देश भर में देखने में आते हैं। इस प्रकार से मैसूर में ८२·७% से अधिक प्रजा की व्यावहारिक भाषा कन्नड है।

इस प्रकार कर्नाटक देश छिन्न-भिन्न होकर अन्यान्य प्रांतों में मिले रहने पर भी कन्नड भाषा का अस्तित्व स्थायी रहेगा। इस भाषा के सबंधं में मुंबई सेंसस रिपोर्ट में यों लिखा गया है।

"Kanarese is a main language well established racially, culturally, socially and geographically and there is no likelihood of its failing to keep its place."

कन्नड की उपभाषाएँ

तुळु, कोडगु, तोड, कोट एवं बडग नामक कन्नड की पाँच उपभाषाएँ हैं। तुळु दक्षिण कन्नड जिले में चंद्रगिरि तथा कल्याणपुरी नामक नदियों के मध्यवर्ती 'तुळुनाडु' (=तुळु-देश) में बोली जाती है। कोडगु (Coorgee) भाषा कोडगु-देश (Coorg) में बोली जाती है। कन्नड की अन्य बोलियाँ जैसे तोडा, कोटा, बडग, कुरुंब तथा इरुळ-नीलगिरि पहाड़ की जंगली जातियों में व्यवहृत हैं।

उत्तरी द्राविड़ भाषा-प्रदेश

वंग देश के पश्चिम भाग तथा मध्य-प्रांत के पूर्व भाग में **'कुरुख'** भाषा चलती है। संथाल परगना के जिले के उत्तर-पूर्व भाग में राजमहल-पहाड़ों पर **'माल्तो'** (या राजमहली) भाषा प्रचलित है। उड़ीसा के कुछ पहाड़ी प्रदेशों में **'कुई'** (या खोंड) बोली बोली जाती है। मध्य-प्रांत (C.P.) के मंडला-प्रदेश में तथा पश्चिम में वर्धा जिले से लेकर पूर्व में बालाघाट तक **'गोंडी'** भाषा व्यवहृत है। पूर्वी बरार तथा वर्धा जिलों में कुछ लोग **कोलामी** बोलते हैं। वासिम जिले के 'पुसद' तालुक में **'भीली'** बोली जाती है। चाँदा (Chanda) जिले में **नाइकी** बोलनेवाले हैं।

ब्रहुई बोली बलूचिस्तान के सरस्वान् तथा झलवार-प्रांतों एवं सिंध-प्रदेश के कुछ भागों में प्रचलित है।

द्राविड़ भाषाओं का वर्गीकरण

यद्यपि तमिळ् भाषा सब भाषाओं से पुरानी मानी जाती है, तेलुगु एवं कन्नड भाषाओं में कई एक शब्द हैं जो तदर्थक तमिळ् शब्दों से प्राचीन मालूम होते हैं। अतः हम एक प्राचीन मूल द्राविड़ भाषा से आजकल की द्राविड भाषाओं को निःसृत मान सकते हैं।

तमिळ् भाषा और भाषाओं की अपेक्षा प्राचीनता को अधिक लिए हुए है। मलयाळम् एवं तमिळ् भाषाओं का आपस में

बहन बहन का-सा संबंध है। तमिळ् भाषा से कन्नड भाषा का निकट संबंध है। दोनों भाषाओं में क्रिया-रूप, प्रत्यय तथा नामपद समान होते हैं। पुरानी कन्नड भाषा तो एकदम तमिळ् सी दीखती है। कुमारिल भट्ट (ई० ७००) के द्राविड़ भाषाओं का आंध्र-द्राविड वर्गीकरण[१] माना जाय तो उनके 'द्रविड' भाषा के अंतर्गत तमिळ्, मलयालम् तथा कन्नड भाषाएँ आ जायँगी और 'आंध्र' भाषा के अंतर्गत तेलुगु तथा उसकी बोलियाँ आ जायँगी। इस प्रकार से चारों मुख्य मुख्य द्राविड़ भाषाओं का वर्गीकरण हो जायगा। तुळु, कोडगु, तोड, कोट इत्यादि बोलियाँ कन्नड के अंतर्गत आयँगी।

जिस भाषा से तमिळ् एवं कन्नड भाषाएँ निकली हैं उसी भाषा से कुरुख एवं माल्तो भी निकली हैं। कूई एवं गोंडी भाषाओं का तेलुगु भाषा से निकट संबंध है और उनका स्थान तेलुगु भाषा धीरे धीरे ले रही है। यही दशा कोलामी, नाइकी एवं भीली बोलियों की भी है। भाषाओं के रूपात्मक वर्गीकरण के अनुसार ये बोलियाँ गोंडी एवं तेलुगु भाषाओं की मध्यवाली दशा में हैं। तेलुगु भाषा का स्थान द्राविड़ भाषाओं में निराला है जिसे हम पुरानी 'आंध्र' (कुमारिल भट्ट से व्यवहृत शब्द) भाषा से निःसृत मान सकते हैं। ब्रहुई भाषा चारों ओर की आर्य्य भाषाओं से इतनी प्रभावित होती चली जा रही है कि ऐसा मालूम होता है कि उसका द्राविड़ीपन क्रमशः लुप्त हो जायगा। अतः उसका समुदाय ही अलग माना गया है। द्राविड़ भाषाओं का परस्पर संबंध निम्नलिखित चित्र से स्पष्ट होगा[२]।

---

(१) "आंध्रद्राविडभाषायामेव तावद्व्यञ्जनांतादिषु भाषा स्वरांता विभक्तिस्त्रीप्रत्ययादिकल्पनादिभिः स्वभाषानुरूपा अर्थाः प्रतिपद्यमाना दृश्यन्ते...।"

—कुमारिल भट्ट, तंत्रवार्त्तिक (१—३।१०)।

(२) यह वर्गीकरण ग्रियर्सन साहब के अनुसार है (LSI-Vol-iv)।
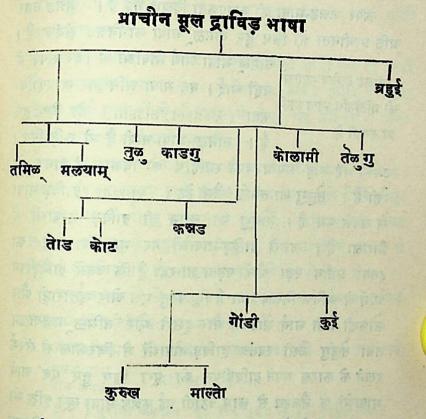
ई० सन् १९३१ की प्रजा-गणना के अनुसार द्राविड़ भाषा-भाषियों की संख्या ७,१६,४५,००० है और भारतीय आर्य भाषाओं की संख्या ७,१६,४५,००० है। अतः द्राविड़-भाषा-भाषियों की संख्या समूचे भारत की जनता की पंचमांश है। केवल हिंदी भाषा-भाषियों (बिहारी, पूर्वी हिंदी, पश्चिमी हिंदी तथा राजस्थानी बोलनेवालों) की संख्या १२,०२,३९,००० है। द्राविड़ भाषा-भाषी जनता की संख्या हिंदी भाषा-भाषियों की संख्या का $\frac{3}{5}$ अंश है। केवल कन्नड भाषा-भाषियों की संख्या १,१९,०३,००० है।

द्राविड़ भाषा-भाषियों की संख्या

ऊपर कन्नड-भाषा की व्यापकता दिखाई गई है। कन्नड तथा अति प्राचीनता को लिए हुए तमिळ् भाषा का निकट संबंध है।

कन्नड द्राविड़ भाषाओं की प्रतिनिधि भाषा मानी जा सकती है

तमिळ् भाषा आर्य भाषाओं के चिर संपर्क में नहीं आई। वह भाषा अधिकतर सांप्रदायिकता (Conservatism) को लिए हुए है। तमिळ्-भाषा-भाषी हैं भी रूढ़ि-प्रिय। उनकी यह रूढ़ि-प्रियता अपने साहित्य के विकास में बाधक हो रही है। तेलुगु का तमिळ् जैसी ठेठ (Typical) द्राविड़ भाषा से संपर्क कम है। तेलुगु का स्थान ही द्राविड़ भाषाओं में निराला है। उत्तरी द्राविड़-भाषाओं पर भा० आ० भा० का इतना प्रभाव पड़ा और पड़ता जा रहा है कि उनमें द्राविड़ीपन आधे से अधिक निकल गया है। परंतु एक ओर महाराष्ट्री और कोंकणी जैसी आर्य भाषाओं और दूसरी ओर तमिळ्-मलयाळम् तथा तेलुगु जैसी स्वतंत्र द्राविड़-भाषाओं से चिरकाल से संपर्क रखने के कारण अपने द्राविड़ीपन को पूरा लिए हुए एवं आर्य भाषाओं के नैकट्य से लाभ उठाती हुई कन्नड-भाषा खूब वृद्धि को प्राप्त हो रही है और उसका साहित्य-भांडार भी दिन दिन विस्तृत होता जा रहा है।

कर्नाटक में मराठों का राज्य था। शिवाजी के भाई वेंकोजी के परिवारवाले कर्नाटक में अब भी यत्र-तत्र पाए जाते हैं। धारवाड एवं उत्तर कर्नाटक की कन्नड भाषा पर मराठी का बहुत प्रभाव पड़ा है। दक्खिणी हिंदी का कन्नड पर प्रभाव भी कुछ कम नहीं पड़ा है। इसका कारण है मैसूर में हैदरअली खाँ और टीपू सुलतान के राज्य का केंद्र होना। इनके राजत्वकाल में मैसूर की राजकीय भाषा उर्दू थी और ई० १००० के आगे के कन्नड-साहित्य में हिंदी एवं मराठी शब्दों

का प्रचुरता से प्रयोग हुआ है। इस समय तो ये शब्द गाँवों तक पहुँच गए हैं।

आर्य भाषाओं का कन्नड पर प्रभाव केवल शब्दों तक ही नहीं है। आधुनिक कन्नड भाषा में नियमतः प्रत्येक आदि प का ह होना आर्य भाषाओं के ही प्रभाव से है। यह परिवर्त्तन अन्य किसी द्रा० भा० में नहीं हुआ है।

कन्नड भाषा पर तेलुगु का भी काफी प्रभाव पड़ा हुआ है। 'कन्नड की व्यापकता' वाले प्रकरण में हम दिखा चुके हैं कि मैसूर के पूर्व भाग में तेलुगु भाषा-भाषी बहुत हैं। इधर पुरानी कन्नड ने (जो तमिळ् से बहुत मिलती-जुलती है) आधुनिक कन्नड के लिये ठेठ द्राविड़ीपन को मातृक सम्पत्ति के रूप में दिया है।

उपर्युक्त कारणों से आधुनिक कन्नड-भाषा को वर्तमान द्राविड़ भाषाओं की प्रतिनिधि भाषा मान सकते हैं।

कन्नड-भाषा की तीन अवस्थाएँ

भाषा-विज्ञान की दृष्टि से कन्नड-भाषा की तीन अवस्थाएँ मान सकते हैं—

(१) पुरानी कन्नड। ई० सन् ५५० से ई० १२५० तक।

(२) मध्यकालीन कन्नड ई० सन् १२५० से ई० १६०० तक।

(३) आधुनिक कन्नड। ई० १६००—

कन्नड-भाषा का प्राचीनतम रूप उपलब्ध नहीं हुआ[1] है। ई० ५५० और ई० ८८० के बीचवाले दान-पत्रों तथा शिलालेखों की

---

(१) मिस्र देश के Oxyrhynchus नामक प्रदेश में उपलब्ध ई० २०० के ग्रीक नाटक में दो कन्नड वाक्य मिले हैं—(१) "बेरे कोंच मधु पात्र के हाकि" (= थोड़ा और मधुपात्र में ढारो।) (२) "पानं बेरेत्ति कट्टि मधुवं बेर् डात्तुवेनु" (= पात्र अलग लेकर उसे ढक कर मैं उसे उठाऊँगा)—Dr. Bhandaraker ; Lecture on Ancient Indian History, Calcutta p 9

भाषा से इस काल की भाषा का स्वरूप हम अनुमान कर सकते हैं। हम इस काल की भाषा को 'पुरानी कन्नड' (=हळगन्नड) कह सकते हैं। ई० ८८० से १३वीं शताब्दी तक की भाषा इससे बहुत भिन्न न होने के कारण इसको भी पुरानी कन्नड के अंतर्गत ही लिया जाता है। परंतु कुछ विद्वान् ई० ५५० से ई० १२५० तक के शासन आदि की भाषा को हळ यहळ गन्नड (=प्राचीन कन्नड) और ई० ८८० से ई० १२५० तक की भाषा को हळगन्नड (=पुरानी कन्नड) मानते हैं। परंतु इस प्रबंध के लिये हम दोनों भाषाओं को एक ही भाषा पुरानी कन्नड मानकर चलेंगे। इस काल की कन्नड-भाषा में तमिळ्-मलयाळम्-तुळु भाषाओं से प्रयुक्त ऴ, ळ, र, ऱ ध्वनियों की भिन्नता का ध्यान रखा जाता था।

पुरानी कन्नड का काल (ई०५५०से१२५०तक)

इस काल में 'चंपू' काव्यों की रचना अधिक होती थी। कर्नाटक के प्रसिद्ध कवि 'पंप' जिन्होंने "विक्रमार्जुनविजयम्" (पंप भारत) की रचना की ई० सन् दसवीं शताब्दी में हुए।

इस काल में (त०) ऴ का लोप हो गया। आदि प का ह में परिवर्त्तन की प्रवृत्ति भी आरंभ हो गई थी।

मध्यकालीन कन्नड-भाषा-काल (ई०सन्१२५०से१६००तक)

इस काल में तमिळ् भाषा की ऱ ध्वनि भी कन्नड में लुप्त हो गई। इस काल के साहित्य में संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्राचुर्य्य पाया जाता है।

आधुनिक कन्नड-भाषा-काल (ई० सन् १६००—)

प्रस्तुत प्रबंध का विषय हिंदी एवं कन्नड-भाषाओं का **व्यावहारिक साम्य** और उनका हिंदी पर **संभावित प्रभाव** है। **व्यावहारिक साम्य** से तात्पर्य्य है चलती भाषाओं के साम्य से। '**संभावित प्रभाव**' इसलिये दिखाया गया है कि स्पष्ट रूप से किसी

प्रस्तुत प्रबंध का विषय

बात में द्राविड़-भाषाओं का हिंदी पर प्रभाव दिखाने के लिये अनेक प्रमाणों की आवश्यकता होती है जो इस छोटे प्रबंध के अंतर्गत नहीं आ सकते। इस प्रबंध में हिंदी एवं द्राविड़-भाषाओं के ऐसे ही उदाहरण दिए गए हैं जो भारतीय आर्य्य तथा द्राविड़ भाषा-परिवार की अधिक से अधिक भाषाओं में उन्हीं उन्हीं रूपों में या थोड़े परिवर्तन के साथ चलते हैं। (कन्नड-भाषा के अधिक उदाहरण दिए गए हैं क्योंकि कन्नड इस प्रबंध के लेखक की मातृभाषा है।) तात्पर्य्य यह कि इस प्रबंध में भाषा-विज्ञान के तुलनात्मक मार्ग (Comparitive Method) का अधिक सहारा लिया गया है। भाषा-वैज्ञानिक सिद्धांतों के अनुशीलन में यह तुलनात्मक विधान अतीव सहायक होता है।

द्राविड़ भाषाओं और हिंदी का **व्यावहारिक साम्य** और उनका हिंदी पर **संभावित प्रभाव** तीन प्रकार का होता है।

(१) नाद-संबंधी (Phonetic)।

(२) रूप-संबंधी (Morphological)।

(३) अर्थ-संबंधी (Syntactical)।

भाषा अनुकरण से सीखी जाती है। अतः दूसरी भाषा भाषियों के संपर्क में आने से हमारी भाषा की ध्वनियों में भी परिवर्तन हो जाता है। भारतीय आर्य्य भाषाओं में प्राचीन काल में 'ए' (e) और 'ओ' (o) के उच्चारण नहीं होते थे। महाभाष्यकार ने भी इस बात का उल्लेख किया है। "नैव हि लोके नान्यस्मिन् वेदेऽर्धएकारोऽर्धओकारो वास्ति।" द्राविड़ भाषाओं में 'ए' और 'ओ' के अलग अलग चिह्न हैं और वे ध्वनियाँ कितने ही मूल द्राविड़ शब्दों में तथा शब्दों के अंत में भी **स्पष्ट** रूप से पाई जाती हैं। भा० आ० भाषाओं में 'ए' और 'ओ' के भिन्न भिन्न चिह्न नहीं हैं और ये ध्वनियाँ

१ नाद-संबंधी

शब्दांत में बहुत कम आती हैं और जहाँ जहाँ आती भी हैं उनका संवृत् उच्चारण होता है। परंतु आ० भा० आ० भाषाओं में कितने ही शब्दों के आदि मध्य तथा अंत में ये उच्चारण उपलब्ध होते हैं। इस 'ए' तथा 'ओ' के लघु उच्चारण के कारणों में से स्वराघात के परिवर्तन (Shifting of the accent) के अतिरिक्त द्राविड़ भाषाओं का प्रभाव भी एक है।

इन विषयों की चर्चा करते समय एक बात की ओर ध्यान अवश्य रखना होगा। चाहे आर्य्य और द्राविड़ बाहर से हमारे देश में आए हों या हमारे ही देश के आदिम निवासी हों, उनका संपर्क अति प्राचीन काल में हुआ था। इस समय केवल भारत ही में (उत्तर में यत्र-तत्र और समूचे दक्षिण में) द्राविड़ भाषाएँ बोली जाती हैं और इनकी यहाँ काफी व्यापकता है। इससे मालूम होता है कि द्राविड़ भाषा-भाषी किसी समय भारत भर में रहे होंगे। बाहर से आए हुए आर्य्यों ने भी उत्तर भारत के सभी द्राविड़ों को दक्षिण तक नहीं खदेड़ा होगा। जो आत्माभिमानी थे वे द्राविड़ आर्य्यों से हारकर दक्षिण चले आए हों। परंतु एक जनता में सभी लोग योद्धा तथा आत्माभिमानी नहीं होते। कायर भी होते हैं। कुछ क्या, अनेक द्राविड़ लोग आर्य्यों के यहाँ काम-काज करते हुए उत्तर ही में रह गए होंगे। ये लोग आर्य्यों से सहज ही निम्न जाति के माने जाने लगे। इन लोगों ने अपनी विजित आर्य्य-जनता की भाषा का अनुकरण करते करते अपनी भाषा को भुला दिया। आर्य्य लोगों को भी इन लोगों से काम पड़ता ही था। अतः इन लोगों की ध्वनियों का अनुकरण करना दोनों जनताओं को आवश्यक हुआ। पीछे चलकर जब उत्तर भारत में दोनों जनताओं का सम्यक् मिलन हो गया तब अनुकरण-वैशिष्ट्य का संघर्ष लुप्त होकर एक प्रकार का ध्वनि-

सामंजस्य स्थापित हुआ। मेरा विचार है कि यह ध्वनि-सामंजस्य आ० भा० आ० भा० काल तक स्थापित हो चुका था। अतः इस काल तक द्राविड़-ध्वनियों एवं रूपों का भा० आ० भाषाओं पर अवश्य प्रभाव पड़ा है।

मूर्द्धन्य वर्णों के संबंध में भा० आ० भा० के विद्वानों ने खूब चर्चा की है। काल्डवेलू साहब इन वर्णों को भा० आ० भाषाओं में द्राविड़-भाषाओं से गृहीत मानते हैं। ग्रियर्सन साहब तथा विद्वान् कोनो ने भी इनका भा० आ० भाषाओं पर प्रभाव बहुत कुछ हद तक माना है। मेरा विचार है कि भारतीय आर्य्यों की इन ध्वनियों के उच्चारण पर द्राविड़ी मूर्धन्य ध्वनियों का बहुत कुछ प्रभाव पड़ा है।

भाषा-विज्ञान में "द्राविड़ों से मूर्द्धन्य वर्ण भा० आर्य्य भाषाओं में लिए गए"—इस वाक्य का क्या अर्थ है, इसे स्पष्ट करना आवश्यक है। तथ्यांश का आवरण करने में यह वाक्य जितना सहायक हुआ है उतना तथ्यांश के उद्‌घाटन में नहीं।

प्राचीन भारतीय यूरोपीय भाषाओं में शुद्ध मूर्द्धन्य वर्ण नहीं थे; ईरानी भाषा में अब भी नहीं हैं। प्राचीन भारतीय आर्य्य भाषाओं में—वैदिक संस्कृत में—केवल 'र', 'ष' एवं 'दंत्य' युक्त शब्दों में ही दंत्य वर्णों का मूर्द्धन्य वर्णों में परिवर्तन हुआ है। इसका कारण यही है कि द्राविड़ भाषाओं के अतीव कर्कश एवं कठोर "ऱ्," "ऴ", "ष़" तथा मूर्द्धन्य वर्णों का जो नादात्मक प्रभाव (Sound Impression) भारतीय आर्य्यों की बुद्धि पर पड़ा उसी प्रभाव के अनुसार भारतीय आर्य्यों ने दंत्य वर्णों को मूर्द्धन्य बना लिया। तमिऴ भाषा के ऱ्, ष़ एवं ऴ ऐसी ध्वनियाँ हैं जिनका नादात्मक प्रभाव (Sound Impression) संसार की किसी भी जनता की बुद्धि पर जमता

नहीं। मान लीजिए कि इन वर्णों को हमने एक बार सुना। उन वर्णों का नादात्मक प्रभाव हल्के रूप में पड़ता है और फिर मिट सा जाता है। उस ध्वनि को उत्पन्न करने में सहायक होनेवाली बुद्धि की शिराएँ (Nerves) फिर उसी अवस्था को प्राप्त होती ही नहीं जिस अवस्था को वे इन वर्णों को सुनते ही प्राप्त हुई थीं।

मेरा विचार है कि यही दशा वैदिक काल के आर्य्यों की भी हुई होगी। तमिळ् के ऱ ब ऴ ध्वनियों से मिलते-जुलते वर्ण उनके यहाँ भी नहीं थे। परंतु र तथा ष़ घटित शब्दों के मूर्द्धन्य उच्चारण के प्रभाव से वैदिक भाषा के र तथा ष युक्तदंत्य वर्णों का मूर्द्धन्य वर्णों में परिवर्तन हुआ क्योंकि उनकी दंत्य ध्वनियाँ द्राविड़ी मूर्द्धन्य ध्वनियों से मिलती-जुलती थीं। अगर इसी से "मूर्द्धन्य वर्णों को द्रा० भाषाओं से आ० आ० भा० में गृहीत" मानें तो मान सकते हैं।

द्राविड़ भाषाएँ मूर्द्धन्य-बहुला हैं और आर्य्य-भाषाएँ मूर्द्धन्य-बहुला नहीं हैं। मेरा विचार है कि आर्य्यभाषाओं के प्रभाव के कारण मध्यकालीन कन्नड में (त) ऱ का लोप हो गया। इस प्रभाव के अभाव में अपने ध्वनि-स्वातंत्र्य को लिए हुए तुळु-लोगों में अब भी यह ध्वनि सुरक्षित है। इसी तरह आधुनिक कन्नड में ऴ ध्वनि भी लुप्त हो गई।

इसी प्रकार लौकिक संस्कृत में र-युक्त वर्णों के न का 'ण' में परिवर्तन हुआ। प्राकृत-काल में दंत्य वर्णों का मूर्द्धन्य में परिवर्तन हुआ। श्री सुनीतिकुमार चैटर्जी इस मूर्द्धन्यीकरण की प्रवृत्ति पूर्वी प्रदेश (अर्द्धमागधी तथा मागधी प्रदेश) में आरब्ध मानते हैं। उनका यह मत है कि पाली की उस काल में सार्वभौमिकता के कारण यह प्रवृत्ति पश्चिम तक फैली। पर, सिंधी, पंजाबी एवं

राजस्थानी भाषाओं की वर्तमान मूर्द्धन्य-ध्वनि-बहुलता का कारण अभी तक स्पष्ट नहीं हुआ है।

आ० भा० आ० भा० काल में पतति पड़ै, मृत मड़ (मरा) जैसे परिवर्तनों का कारण उपमानाभास (False Analogy) हो सकता है; ये ध्वनियाँ स्वतःसंभवी नहीं हो सकतीं। क्योंकि ध्वनियाँ अनुकरण-मूलक हैं, स्वतःसंभव नहीं हैं।

भाषा की प्रेषणीयता (Communicability) के कारण उसमें रूपसंबंधी परिवर्तन शीघ्र होते नहीं। परंतु मनुष्य की आलस्य-प्रवृत्ति तथा द्राविड़-भाषाओं की संसृष्टता (Agglutinativity) के कारण संयोगावस्था (Synthetic stage) की भारतीय आर्य्य भाषाएँ अब विश्लेषणावस्था (Analytical Stage) को पहुँच गई हैं। संज्ञाओं के अंगों (Oblique forms) से एक ही प्रकार के कारक चिह्न या परसर्ग दोनों वचनों में जोड़कर भिन्न भिन्न रूप बनाने की प्रथा बिलकुल द्राविड़ी है।

(२) रूपसंबंधी (Morphological)

वर्तमान कृदंत रूपों से सहायक क्रियापद जोड़कर मुख्य क्रियापद बना लेने की प्रथा द्राविड-भाषाओं की प्राचीन है। द्राविड़ भाषाओं में भूत कृदंत संज्ञा, विशेषण तथा क्रिया के भी काम देते हैं। हिंदी एवं अन्य आ० भा० आ० भाषाओं में भूत कृदंतों से ही भूतकालिक क्रियाएँ बनी हैं। संयुक्त क्रियाओं ने हिंदी का स्वरूप बिलकुल भिन्न कर दिया है। व्यंजकता की वृद्धि के लिये यद्यपि वे सहायक हुई हैं, संस्कृत जैसे 'गागर में सागर भरने' के कार्य में वे सहायक नहीं हो सकतीं। द्राविड़-भाषाओं में भावों की स्पष्टता का एक मात्र साधन है संयुक्त क्रियाओं का प्रयोग। इस प्रबंध में यह भी दिखाया गया है कि हिंदी संयुक्त क्रियाओं के प्रयोगाधिक्य में द्राविड़ भाषाओं का कहाँ तक हाथ रहा है।

भाषा जितनी अनुकरण-मूलक है उतनी ही बौद्धिक भी है। मनुष्य की बौद्धिक प्रवृत्ति पर शब्दों का अर्थ निर्भर करता है।

(३) अर्थसंबंधी
Syntactical

'अनुकरण-प्रवृत्ति' यदि भाषा के नाद-संबंधी एवं रूप-संबंधी परिवर्त्तन के मूल में है तो संस्कृति तथा प्रकृति के नाना व्यापारों का बुद्धि पर प्रभाव और इस प्रभाव में कालक्रमेण परिवर्तन भाषा के अर्थ-संबंधी परिवर्तन (Syntactic Change) के मूल में हैं। बुद्धि से संबंध रखनेवाला यह परिवर्तन भाषा में शीघ्र नहीं होता।

हिंदी एवं कन्नड-भाषा के करीब डेढ़ हजार मुहावरों का भाव-साम्य यही सूचित करता है कि इन भाषा-भाषियों की संस्कृति बहुत कुछ हद तक एक है। जिनको हम भारतीय-भाव-विशेष (Peculiarly Indian sentiment) कहते हैं उसकी अभि-व्यंजना की साधना की एकता इन मुहावरों के भाव-साम्य से सिद्ध होती है। यही कारण है कि भारत एक देश है यद्यपि भाषाएँ भिन्न भिन्न हैं। एक राष्ट्र-भाषा हिंदी का प्रचार इसी "भारतीय हृदय" को एक करने के उद्देश्य से होने लगा है।

पहला अध्याय—स्वर ध्वनि (Vowel Sounds)

प्राचीन द्राविड़ भाषाओं में निम्नलिखित स्वर थे।

(क) ह्रस्व — अ, इ, उ, ए (   ), ओ (   );

(ख) दीर्घ — आ, ई, ऊ, ए, ओ, ऐ;

(ग) दीर्घ अनुनासिक — एँ।

अ, इ, उ
आ, ई, ऊ } इन स्वरों का उच्चारण आधुनिक हिंदी सा होता है।

पर द्राविड़ भाषाओं में शब्दान्त्य 'अ'कार का विवृत उच्चारण होता है न कि संवृत; जैसे आधुनिक आर्य भाषाओं में होता है।

ए का उच्चारण 'एक्का' के 'ए' के समान होता है।

ओ का उच्चारण अवधी के 'ओहिकेर बिटिया' के 'ओ' के सदृश होता है।

'ए' तथा 'ओ' संस्कृत के 'ए' 'ओ' के समान उच्चरित होते हैं।

'ऐ' संयुक्त स्वर है और संस्कृत के 'ऐ' के समान इसका भी उच्चारण है।

'ऍ' का उच्चारण अँगरेजी के man या हिंदी के 'मैं' के 'a' या 'ऐ के' समान होता था पर अब यह स्वर लुप्त हो गया है।

ऋ तथा ऌ प्राचीन द्राविड़ भाषाओं में नहीं थे। पर आधुनिक मलयालम् कन्नड तथा तेलुगु भाषाओं में ये स्वर संस्कृत से लिए गए हैं।

जिह्वामूलीय एवं उपध्मानीय प्राचीन द्राविड़ भाषाओं में नहीं थे।

अयोगवाह—(१) अनुस्वार भी प्रा० द्रा० भा० में नहीं था परंतु आधुनिक शिष्ट द्राविड़ भाषाओं में उसका उच्चारण होता है। मध्यकालीन कन्नड में सं० हंस का अंचे हो जाता था जिसका उच्चार 'अञ्चे' होता था पर लिखते समय 'अ' पर बिंदु रखा जाता था।

(२) विसर्ग जिस रूप में संस्कृत में पाया जाता है उसी रूप में प्रा० द्रा० भा० में नहीं था। तमिळ् भाषा में इससे मिलती जुलती एक ध्वनि '॰॰॰' है जिसका उच्चारण 'अक्' के समान होता है।

'तोल्काप्पियम्' नामक तमिळ् व्याकरण (जिसके विषय में यह कहा जाता है कि वह अगस्त्य ऋषि के एक शिष्य की रचना है) के ३८वें सूत्र में इसका उच्चारण अर्ध मात्रा का माना गया है।

श्री एल० वि० रामस्वामी ऐय्यर, एम० ए०, बी० एल०, ने हाल ही में यह सिद्ध किया है कि यह ध्वनि द्राविड़ भाषाओं की स्वकीय है, संस्कृत से गृहीत नहीं है। तमिळ् व्याकरणों में इसको 'आय्दम्' कहते हैं जिसका अर्थ है 'ईषत्' (जरा)। यह सामान्यत: शब्द में आदि ह्रस्व स्वर के उपरांत एवं घोष स्पर्श व्यंजनों के पूर्व आता है। उदा०—

अ ஃ गम् (=अनाज)।
अ ஃ दु (=वह, नपुंसक लिंग में)।
इ ஃ दु (=यह)

'ए', 'ओ' प्रा० द्रा० भाषाओं के आदि स्वरों में से हैं।

प्राचीन काल में (वैदिक काल में) 'ए' और 'ओ' का उच्चारण आर्य भाषाओं में नहीं होता था। महाभाष्य में केवल सामवेद की एक शाखा का उल्लेख है जिसमें ये पाये जाते थे।

"ए ओङ् ॥ ३ ॥ ऐ औ च् ॥ ४ ॥"

"ननु चैङः सस्थानतरावर्ध एकारोऽर्ध ओकारश्च न तौ स्तः। यदि हि तौ स्यातां तावेवाथमुपदिशेत्। ननु भोश्छंदोगानां सात्यमुग्रिराणायनीया[२] अर्धमेकारमर्धमोकारं चाधीयते। सुजाते ए अश्वसूनृते। अध्वर्यो ओ अद्रिभिः सुतम्। शुक्रं ते ए अन्य द्य ज

---

(१) इं० एँ० १९३० ई०।

(२) सामवेद की इस शाखावाले अब केवल दक्षिण में हैं। उत्तर भारत में ये नहीं पाए जाते। मैसूर संस्कृत कालेज में सामवेद के प्रोफेसर श्री गुंड श्रौतीजी, जिनकी मातृभाषा तेलुगु है, वेदपाठ में 'ए' और 'ओ' का लघु उच्चारण करते हैं। इन सामवेदियों पर द्राविड़ भाषाओं का प्रभाव स्पष्ट है।

तं ते ए अन्यदिति। पार्षदकृतिरेषा तत्रभवतां नै वहि लोके नान्यस्मिन्वेदेऽर्ध एकारोऽर्ध ओकारो वास्ति" ।—"महाभाष्य"

'ए' और 'ओ' का अपूर्ण उच्चारण प्राकृतकाल ही में रहा। पाली में तो इसका उच्चारण बराबर पाया जाता है किंतु ऐसा केवल संयुक्त व्यंजन युक्त-शब्दों ही में होता है। पाली में प्रायः संयुक्त व्यंजन से पूर्ववर्त्ती दीर्घ स्वर ह्रस्व हो जाता है। नीचे कुछ उदाहरण दिए जाते हैं:—

संस्कृत		पाली
त्रयत्रिंशत्	>	तेत्तीस (उ० तेॅत्तीस)
श्रेष्ठिन्	>	सेट्ठि (उ० सेॅट्ठि)
नेत्र	>	नेत्त (उ० नेॅत्त)
श्रोत्रिय	>	सोत्थिय (उ० सोॅत्थिय)
योग्या	>	योग्ग (उ० योॅग्ग)
मोक्ष	>	मोक्ख (उ० मोॅक्ख)

इन उपर्युक्त पाली शब्दों में 'ए' और 'ओ' का लघु उच्चारण स्पष्ट[1] है।

प्रायः प्रत्येक भारतीय आर्य भाषा में ये ध्वनियाँ पाई जाती हैं। पर लिपियों में इन ध्वनियों के लिये पृथक् चिह्न न रहने के कारण इनके अस्तित्व का निर्णय करना कठिन है। पूर्वी हिंदी में इनका उच्चारण अधिक होता है। पश्चिमी हिंदी में ये ध्वनियाँ कम सुनने में आती हैं। हिंदी से पहले की भाषाओं में अपभ्रंश में 'ए' और 'ओ' का लघु उच्चारण देखने को मिलता है। अपभ्रंश में 'ए' और 'ओ' का उच्चारण प्रायः अपूर्ण होता था। इसका प्रमाण हेमचंद्र के प्राकृत व्याकरण में मिलता है। हेमचंद्र ने लिखा है।

---

(१) देखिए भंडारकर—विलसन फाइलालॉजिकल लेक्चर्स।

"कादिस्थैदोतोरुच्चारलाघवम् ।"

संस्कृत भाष्य—

"अपभ्रंशे कादिषु व्यंजनेषु स्थितयोरे ओ इत्येतयोरुच्चारणस्य लाघवं प्रायो भवति[१] "—प्राकृत व्याकरण ८ । ४ । ४१०

अर्थात् अपभ्रंश में 'क' आदि व्यंजनों में स्थित 'ए' और 'ओ' का उच्चारण प्रायः लघु होता है ।

उदा०—

अम्मीए सत्थावत्थे हिं सुधेँ चिंतिज्जइ माणु ।
पिए दिट्ठे हल्लोहल्लेण को चेअइ अघाणु ॥
जो गुण गोवइ अप्पणा पयडा करइ परस्सु ।
तसु हउँ कलिजुगि दुल्लहहो बलि किज्जउँ सुअणस्सु ॥

ऊपर के रेखांकित अक्षरों में 'ए'कार और 'ओ'कार लघु हैं। इससे विदित होता है कि अपभ्रंश में 'ए' और 'ओ' को लघु करने की प्रवृत्ति थी। और यह माना जा सकता है कि उसी से हिंदी में यह प्रवृत्ति आई ।

पुरानी हिंदी में 'ए' और 'ओ' का लघु उच्चारण 'पृथ्वीराज रासो' में पाया जाता[२] है । छंदोबद्ध कविता में संध्यक्षरों का लघु उच्चारण तो तुलसीदास की कविता में भी मिलता[३] है ।

---

(१) हेमचंद्र के मतानुसार अपभ्रंश में केवल व्यंजन के साथ प्रयुक्त 'ए' और 'ओ' के ही लघु उच्चारण होते थे । परंतु आधुनिक हिंदी में स्वतंत्र रूप से प्रयुक्त 'ए' और 'ओ' के ही लघु उच्चारण होते हैं जैसे 'एक्का' 'ओखरी' इत्यादि ।

(२) मकरंदरा मक वाण रो हॊय नित जुद्ध हमेश (ना०प्र०प० भा०१३)

(३) भाइहिं सौंपि मातु सेवकाई । आप निषादहिं लीन्ह बोलाई ॥
—तु० मा० ।

'ए' और 'ओ' के लघु उच्चारण का कारण जो केवल स्वराघात बताया गया है उस पर यहाँ थोड़ा विचार किया जायगा। उसके पहले संध्यक्षरों का वर्गीकरण हम इस प्रकार करेंगे।

हिंदी तथा अन्य भारतीय आर्य भाषाओं में 'ए' 'ओ' 'ऐ' और 'औ' ये चारों संधि स्वर हैं। संस्कृत एवं प्राकृत वैयाकरणों ने भी स्वरों का विभाग करते समय 'अ' से 'लृ' तक को सामान्य स्वर और 'ए' 'ऐ' 'ओ' 'औ' को संधिस्वर माना है। आजकल भी खड़ी बोली में लिखते 'कौन' हैं पर उसका उच्चारण प्रायः 'कवन' या 'कउन' सा होता है। हम 'ए' और 'ओ' को **संकीर्ण** स्वर तथा 'ऐ' और 'औ' को **संसृष्ट** स्वर कह सकते हैं। **संकीर्ण** स्वर एक Chemical compound जैसा है और **संसृष्ट** स्वर एक Mechanical mixture के समान है। संकीर्ण स्वर का पृथक्करण नहीं हो सकता है पर संसृष्ट स्वर का हो जाता है।

संसृष्ट स्वरों के उच्चारण में पृथक्करण पूर्वी हिंदी में प्रायः बराबर मिलते हैं। उदा०—

(१) "एहिते **कवन** बिपति बड़ भाई।" (तु० मानस, अरण्य काण्ड)।

(२) "करहु **कवन** कारण तप भारी।" (तु० मा० बाल० का०)

(३) "निज परिताप **द्रवइ** नवनीता।
पर दुख द्रवहिं सुसंत पुनीता॥" (मा० उत्तर का०)

(४) "सुनहु सकल **बइठे** एहि रेता।" (मा० किष्किंधा)

'ए' और 'ओ' के संकीर्ण उच्चारण (बिना पृथक्करण के) भी मिलते हैं। उदा०—

(१) "कीनैं हूँ कोरिक जतन अब कहि काढ़ै **कौनु**।
सो मन मोहन-रूप मिलि पानी मैं कौ **लौनु**॥

(२) "कनकु कनक तें **सौगुनौ** मादकता अधिकाइ।
उहिँ खाऐँ **बौरात** है एहि पाऐँ **बौराइ**॥"

(३) "आज कछू **औरै** भए, छए नए ठिक **ठैन**।
चित के हित के चुगुल ए नित के होहिं न **नैन**॥"

गोस्वामी तुलसीदासजी (मृत्यु सं० १६८०) के लगभग ४० वर्ष बाद बिहारीलाल (मृ० सं० १७२०) हुए। चालीस या पचास वर्षों में ही इन स्वरों के उच्चारण में इतना अंतर नहीं पड़ जाता। हमारा मत तो यह है कि 'ऐ' और 'औ' के उच्चारण में भेद उस काल में भी था जैसा आजकल है। अस्तु।

'ए़' स्वर 'ए' तथा 'ऐ' दोनों का स्थान लेता है।

जैसे—(१) देख्यस (उसने देखा) [> देखेस > देखिस] का उच्चारण देखेस होता है।

(२) आदेस > *आएसु > आए़सु (बिहारी)

(३) ऐसा का उच्चारण बिहारी में 'ए़इसा' के समान होता है।

(४) ऐतवार (< *अइतवार < *आइत्यवार < आदित्यवार)
< **ए़तवार** < इतवार (प० हिंदी)

बिहारी और पूर्वी हिंदी में जहाँ 'ए़' का उच्चारण होता है, पश्चिमी हिंदी में वहाँ 'इ' हो जाता[१] है।

बिहारी और पूर्वी हिंदी	पश्चिमी हिंदी
ए़कतीस	इकतीस
ए़का	इका
बे़टिया	बिटिया
ए़कट्ठा	इकट्ठा
ए़तवार	इतवार

१. महाभाष्य में भी यह सूत्र मिलता है—"एच इग्घ्र ह्रस्वादेशे।" ॥ १ ॥ १ ॥ ८४ ॥

प्राचीन तथा अर्वाचीन द्राविड़ भाषाओं में शब्द के आदि के 'ए' में ऐसा परिवर्तन नहीं मिलता अर्थात् आदि 'ए'कार अपरिवर्तनशील है। जैसे—

१	तमिळ	मलयाळम्	कन्नड	तुळु	तेलुगु
१	एण् (=√गिन)	एण्	एण्णु	एण्णु	एन्नु
२	एदिर् (=सामना)	एदिर्	एदिरु	एदुरु	एदुरु
३	एल्लाम् (=सब	एल्ला	एल्ल	ल्ले	एल्ल
४	एरुदु (=बैल)	एरुदु	एत्तु	एरु	एद्दु
५	एऱु (=√उठा)	एत्तु	एत्तु	एत्तु	एत्तु

मध्यम 'ए' कार भी द्राविड़ भाषाओं में अपरिवर्तनशील है—

	तमिळ्	मलयाळम्	तुळु	कन्नड	तेलुगु
१	शेवि (=कान)	त्सेवि	केवि	केवि	त्सेवि
२	तेप्पम् (=नाव)		तेप्प	तेप्प	
३	वेप्पु (=गर्मी)	वेप्पु	ेप्पु	बेम	वेप्पु
४	वेरि (=पागलपन)	वेरि	वेरगु	वेरगु	वेर्रि
५	पेरुहु (=पैदाकरना)	पेरुग	पेत्सु	पेच्चु	पेरुगु

प्राचीन द्राविड़ भाषा का 'अ' स्वर तमिळ् में 'ऐ' मलयाळम् में 'ए इ' तुळु मे 'ए', कन्नड में 'ए' तथा तेलुगु में 'अ' हो जाते थे—

	तमिळ	मलयाळम्	कन्नड	तुळु	तेलुगु
१	तलै (= सिर)	तलॆइ	तलॆ	तरॆ	तल
२	करै (= समुद्रतट)	करॆइ	करॆ	करॆ	कर
३	अरै (= अर्धे)	अरॆइ	अरॆ	अरॆ	अर
४	मलै (= पहाड़)	मलॆइ	मलॆ	मलॆ	मल
५	अट्टै (पैर के नीचे का हिस्सा)	अट्टॆर	अट्टॆ	अट्टॆ	अट्ट

आधुनिक मैसूर-कन्नड एवं धारवाड़-कन्नड में इस विषय में थोड़ा अंतर है। मैसूर-कन्नड के शब्दों का अंतिम 'ए' धारवाड़ कन्नड में 'इ' हो जाता है। इसी प्रकार धारवाड़ कन्नड के शब्दों का अंतिम 'इ' मैसूर कन्नड में 'ए' होगा। यह परिवर्तन तामिळ भाषा का मैसूर कन्नड पर प्रभाव होने के कारण है। नीचे कुछ उदाहरण दिए जाते हैं।

मैसूर कन्नड	धारवाड़ कन्नड
मनॆ (= घर)	मनि
अडिगॆ (सरसोई)	अडिगि
अत्तिगॆ (ननद)	अत्तिगि
मोलॆ (स्तन)	मोलि
तावरॆ (कमल)	तावरि
संपिगॆ (चम्पा)	संपिगि

तामिळ् भाषा के शब्दों का आदिम या किसी एक व्यंजन के साथ आनेवाला 'इ' कार सामान्यतः कन्नड एवं तेलुगु में 'ए' कार में परिवर्तित हो जाता है। उदा०—

तमिळ्	कन्नड	तेलुगु
शिदरु (अस्त व्यस्त करना)	केदरु	चेदरु
विळवु (प्रकाशित होना)	वेळगु	वेलंगु
शिरै (कारागृह)	सेरे	चेरि
इळै (डोरी)	एळे	एल
इरवल् (उधार)	एरवु	एरवु

जैसा ऊपर कहा जा चुका है हिंदी में 'ऐ' एवं 'ए' से 'ए' की उत्पत्ति हुई है। इसका कारण बलात्मक स्वराघात का प्रभाव है। जैसे—

आदेशः आएसु।

इसी प्रकार 'एतना' के 'ए' पर 'बल' कम पड़ने से 'इतना' हुआ है;

संकीर्ण 'ऐ' से 'ए' का उच्चारण निकल ही नहीं सकता। परंतु 'ऐ' (अ + इ) के संसृष्ट उच्चारण से 'इ' पर स्वराघात का बल अधिक होकर 'ए' बन सकता है। जैसे—

आदित्यवार (यहाँ पर संयुक्ताक्षर 'त्य' के पूर्व आने से 'दि' के 'इ' पर बलात्मक स्वराघात है)।

\> आइंतवार

\> ऐतवार

< अइंतवार

< एंतवार

< ईंतवार

इसी प्रकार 'ओ' की भी उत्पत्ति औ (अ+उ) के संसृष्ट उच्चारण से तथा 'ओ' पर बलात्मक स्वराघात पड़ने से होती है।

जैसे—स्वर्णकारः

>स्+व्'+अ' र्णकारः

>स्+उ+अ' र्णआर (प्रति संप्रसारण)

>स्+उ'+अ+णण आर (Shifting of the accent)

>स्+ओं+नन्आर ('अ' का 'उ' में अस्त होना[1])

>सोनार

'ए' का उच्चारण हिंदी की अपेक्षा गुजराती में अधिक है। गुजराती के 'ए'-युक्त शब्दों की एक लंबी सूची ग्रियर्सन साहब[2] ने प्रकाशित की है। इन शब्दों में सर्वत्र 'ए' का मूल 'अ+इ' नहीं है। कहीं कहीं तो 'ए'कार ही विकृत रूप में है जिसका कारण वे भी असंदिग्ध रूप में नहीं बता सके हैं। उदाहरणार्थ—

धेन (गु० गाय) < (सं०) धेनु

देण (गु० उधार) < (हिं०) देना

शब्द लिए जा सकते हैं। इनका 'ए' पहले पूर्ण 'ए' था जैसा कि उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट है।

---

(१) The wide sound of E and O in Marwari and Gujarati—I. A. 1915 p 109 ft.

लिं० सर्वे, जिल्द ६, भा० २, पृष्ठ ३४४।

मराठी की 'कोकणी' विभाषा में 'ए' बराबर पाया जाता है जो महाराष्ट्री प्राकृत से आया है। महाराष्ट्री प्राकृत में संयुक्त व्यंजनों से पूर्व आनेवाले 'ए' का ह्रस्व उच्चारण होता था। मराठी में संयुक्त व्यंजन का एक ही व्यंजन रह जाने पर भी उसके पूर्ववर्ती 'ए' का ह्रस्व ही उच्चारण होता है।

जैसे—

तेल्ल (म० प्रा०) > तेल (मराठी)
छेत्त (म० प्रा०) > शेत (म०)
एक्क (म० प्रा०) > एक, एक (म०)

मध्य पहाड़ी भाषा में अनेकाक्षर शब्दों में ह्रस्व-स्वर-युक्त वर्ण के पहले आनेवाले वर्ण के 'ए'कार का ह्रस्व उच्चारण होता है।

जैसे—

(हिं०) 'मेरो' का उच्चारण (प०) मेरो होता है।

आसामी भाषा में तो 'ए' का ह्रस्व ही उच्चारण होता है, दीर्घ नहीं होता है।

दर्द भाषाओं में तालव्य 'च, छ, ज, झ' और 'श' के पूर्ववर्ती 'अ' का उच्चारण 'ए' के समान होता है। काश्मीरी में 'ए' को प्रायः लिखने में 'य' कर देते हैं। पर कभी कभी 'ये' के समान उच्चारण करते हैं। जैसे—

उच्चरित रूप	लिखित रूप
वेथ (< सं० वितस्ता)	व्यथ
वेह्ने (गु० वेहेन)	व्यह्न
✓चेमक	चमक
✓छेक (बिखरना)	चक
जेल्द	जल्द

काश्मीरी भाषा में 'इ' और 'ए' में अंतर नहीं है। साधारण जनता इन दोनों ध्वनियों के उच्चारण में भेद नहीं कर सकती।

आसामी एवं गुजराती भाषा में भी कहीं कहीं ओ का उच्चारण सुनने में आता है। यद्यपि माना यही जाता है कि उन भाषाओं में 'ओ' का उच्चारण नहीं है।

जैसे—

कोठार [देखिए कन्नड का "कोठारोत्सव"]
गोवाल (हि० गोपाल, गुपाल)
सोहाग

पूर्वी हिंदी में 'ओ' का उच्चारण बराबर सुनने में आता है। जैसे—मोहि, तोहि इत्यादि। पूर्वी हिंदी में जहाँ जहाँ ओ का उच्चारण होता है वहाँ पश्चिमी हिंदी में 'उ' हो जाता है।—

बिहारी और पूर्वी हिंदी	पश्चिमी हिंदी
कोहरा	कुहरा
खोदवाना	खुदवाना
घोड़सार	घुड़सार

बिहारी और पूर्वी हिंदी	पश्चिमी हिंदी
लोहार	लुहार
सोनार	सुनार

इत्यादि

कुछ द्राविड़ भाषाओं में 'ओ' के स्थान पर 'उ' मिलता है; पर 'उ' ही प्राचीन है क्योंकि तमिळ् में अब तक वह सुरक्षित है। तमिळ् शब्दों के आदि का 'उ' या 'उ'-युक्त आदि व्यंजन का 'उ' कन्नड एवं तेलुगु में ओ हो जाता है। जैसे—

तमिळ्	कन्नड	तेलुगु
तुरै (राजा)	दोरे	दोर
कुरड्डु (काठ का टुकड़ा)	कोरड्डु	कोरड्डु
मुळै (अंकुर)	मोळै	मोल
पुगऴ् (प्रशंसा करना)	पोगऴ्	पोगड्डु
कुळम् (सरोवर)	कोळम्	कोलनु

मेरी समझ में भारतीय आर्य-भाषाओं में प्रचलित 'ए' और 'ओ' के उच्चारण का कारण केवल स्वराघात नहीं है। स्टेन कोनो साहब का मत है कि गुजराती आदि पश्चिमी आर्य-भाषाओं के मूल में द्राविड़ भाषाओं का स्रोत गुप्त रूप से अब भी बह रहा है[1]। इसका एक निदर्शन है गुजराती में 'ए' का उच्चारणाधिक्य। गुजराती में ए का उच्चारण द्राविड़ भाषाओं से लिया गया है यह तात्पर्य नहीं है किंतु मेरा कथन केवल इतना ही है कि अन्य भारतीय आर्य-भाषाओं के समान गुजराती एवं हिंदी में भी 'ए' का प्रचुर मात्रा में प्रयोग द्राविड़-भाषाओं के संसर्ग के ही कारण है। इस विषय पर अब थोड़ा और विचार किया जाता है।

भारतीय आर्य-भाषाओं के विज्ञानवेताओं का यह मान लेना कि आर्य-भाषाओं में 'ए' और 'ओ' के उच्चारण का कारण स्वराघात ही है, मेरी राय में किसी प्रकार उचित नहीं जान पड़ता। कथित भाषाओं में प्रयुज्यमान बलात्मक स्वराघात प्राय: वक्ता की इच्छा पर

1. I. A., 1903.

अवलंबित रहता है। श्री देवतियाजी का कथन है कि कुछ शब्दों में तो स्वराघात आवश्यक एवं निश्चित है; जैसे—

घंईर चिंतउड़ अवयंव अंधियार चउव्वेई कसंवट्टिआ रंट्ठ उड, गुहिल उंत्त पा ंदल इत्यादि, तथा इतर शब्दों में भी स्वराघात का निर्णय उपर्युक्त शब्दों के आधार पर किया जा सकता है। उनका यह समाधान समर्पक नहीं है।

भारत में बहुत प्राचीन काल में ही ऐसी दो महती भाषा-सरिताओं का संगम हुआ जिनमें से प्रत्येक की धाराएँ आजकल उत्तर और दक्खिन में बह रही हैं। प्रत्येक भाषा में भारत की अन्य भाषाओं का कुछ न कुछ अंश रहता है। अपनी उप-शाखाओं के जल को मिलाकर तथा अन्य सरिताओं के जल का भी थोड़ा थोड़ा अंश लेकर आर्य भाषाएँ विराट रूप में प्रवाहित हुई हैं। द्राविड़ भाषाओं की धारा क्रमशः दक्षिण की ओर बढ़ते बढ़ते उत्तर की आर्य भाषाओं पर अपना अमिट प्रभाव छोड़ गई है और अपने साथ दक्षिण के लिये विश्व-विश्रुत आर्य-संस्कृति लेती गई।

आर्य भाषाओं में स्वराघात का व्यवहार अधिक मात्रा में होता है पर द्राविड़ भाषाओं में स्वराघात का व्यवहार उतना नहीं है। इन भाषाओं में परस्पर के संबंध एवं स्वराघात के क्रमशः परिवर्तन से 'ए' और 'ओ' की उत्पत्ति हुई है। आर्य भाषाओं की भारतीय-शाखा की लिपियाँ ब्राह्मी लिपि की रूपांतर हैं। द्राविड़ लिपि भी ब्राह्मी लिपि ही से निकली है[१]। प्रत्येक द्राविड़-भाषा में 'ए' और 'ओ' के लिये चिह्न का होना तथा समस्त भारतीय आर्य-भाषाओं में उनका अभाव इस बात का प्रमाण है कि

---

(१) दे० प्राचीन भारतीय लिपिमाला—पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझा।

भारतीय आर्य-भाषाओं में 'ए' और 'ओ' स्वर इतने सामान्य नहीं थे कि उनके लिये नए चिह्न बनाए जायँ। इस समय भी 'ए' और 'ओ' के लिये सर्वसम्मत चिह्नों का नागरी लिपि में न होना नागरी वर्णमाला का एक अभाव ही है। सारांश यह कि 'ए' और 'ओ' के लघु उच्चारण पर द्राविड़ एवं आर्य भाषाओं के सम्मिलन का कुछ न कुछ प्रभाव पड़ा है। मेरे इस अनुमान की पुष्टि इस बात से भी होती है कि भारतीय आर्य-भाषाओं के कुछ इने गिने शब्दों के ही अंत में 'ए' पाया जाता है पर द्राविड़ भाषाओं में 'ए'कारान्त शब्दों की संख्या अधिक है। जैसे—

कन्नड—मने (=घर)

तुळु—नेरे (=बाढ़)

कन्नड—तोरे (=नदी)

कन्नड—हगे = (शत्रु)

तुळु—डण्डे (=गोल)।

इत्यादि।

'ए' और 'ओ' के लघु उच्चारण आर्य भाषाओं से द्राविड़ भाषाओं में नहीं आए हैं। इसके दो ही प्रमाण पर्याप्त होंगे। एक तो यह कि बहुत से मूल द्राविड़ शब्दों में 'ए' और 'ओ' पाए जाते हैं जैसे—

एरडु [(कन्नड)=दो] ओनके [(कन्नड)=मूसल]

एलक [(त०)=चूहा] ओगटे [(कन्नड)=पहेली]

कोक्कु [(तमिळ)=चुगना] ओकटि [(त०)=एक]

दूसरा प्रमाण यह है कि संस्कृत या प्राकृत से गृहीत द्राविड़ भाषाओं के शब्दों में 'ए' और 'ओ' के लघु रूप हो जाते हैं किंतु हिंदी में इनके दीर्घ उच्चारण ही चलते हैं—

संस्कृत	प्राकृत	हिंदी	कन्नड
शय्या	सेज्जा	सेज	सेज्जे
श्रेष्ठी	सेट्ठ	सेठ	सेट्टि
स्नेह	णेह	नेह	नेय्यि

इस संबंध में एक और बात लिखना अनुचित नहीं होगा। दक्खिनी हिंदी (जैसे मैसूर के मुसलमानों की बोली) में 'कितना' शब्द का उच्चारण स्पष्टतया 'केतना'[1] होता है, जिस पर द्राविड़ भाषाओं का प्रभाव अवश्यमेव पड़ा है।

ऋ

द्राविड़-भाषाओं में 'ऋ' स्वर नहीं है। पर प्राचीन काल में इसका आदान द्राविड़ भाषाओं में हुआ था। शुद्ध द्राविड़ शब्दों में 'ऋ' नहीं है पर 'ऋ' के लिये द्राविड़ वर्णमालाओं में चिह्न है।

इस समय 'ऋ' का शुद्ध उच्चारण भारत में कहीं भी नहीं होता है। द्राविड़ भाषाओं में गृहीत संस्कृत तत्सम शब्दों में 'ऋ' का उच्चारण 'रु' सा होता है जिसमें 'र्' की मात्रा तीन चौथाई है तथा 'उ' की एक चौथाई होता है।

ऋक् प्रातिशाख्य में **'ऋ' वर्त्स्य** माना गया है, साथ ही इसे मूर्धन्य स्वर कहा जाता है। इसके उपरांत 'ऋ' का उच्चारण कदाचित् जिह्वा को दो बार वर्त्स्य में स्पर्श करके होने लगा था। कुछ कुछ ऐसा ही उच्चारण आजकल भी कहीं कहीं प्रचलित है। प्रातिशाख्यों में यह भी कहा गया है कि 'ऋ' ध्वनि तीन ध्वनियों का संश्लेषण है—

(१) आदि में चतुर्थमात्रिक 'अ'कार (स्वर)।

(२) मध्य में अर्धमात्रिक 'र'कार (व्यंजन)।

---

(१) भोजपुरी में भी 'कितना' का उच्चारण 'केतना' ही होता है। पर पश्चिमी हिंदी में 'कितना' ही कहते हैं।

(३) अंत में चतुर्थमात्रिक 'अ'कार (स्वर)
अर्थात् ऋ=अ र् अ

ऋक् तंत्र व्याकरण के अनुसार इसका उच्चारण कंठ्य है। कदाचित् इसके उच्चारण में प्रान्त-विशेष में आदि चतुर्थमात्रिक 'अ' स्वर का स्पष्ट उच्चारण होता था। संस्कृत में 'ऋ' का 'अर्' बहुत जगह होता है। इसको 'अर्'-आदेश कहते हैं। (जैसे √कृ >करोति)! अन्तिम चतुर्थमात्रिक 'अ'कार के कहीं 'अ' के स्थान में, कहीं 'इ' के स्थान में और कभी कभी 'उ' के स्थान में उच्चरित होते रहने से पाली एवं प्राकृतों में (और तदनंतर हिंदी में भी) 'ऋ' का 'अ', 'इ' तथा 'उ' में परिवर्तन हो जाता है। मध्य अर्धमात्रिक 'र्'कार के अस्तित्व का तो इस बात से पता लग सकता है कि 'ऋते' का रूप 'रिते', 'वृक्ष' का 'रुक्ख' पाली में हो जाता है। 'ऋ' के 'अ', 'इ' एवं 'उ' में परिवर्तन होने में ऋ के पश्चात् आनेवाले वर्णों का प्रभाव भी कुछ न कुछ अवश्य है।

जैसे 'ऋ'-युक्त शब्दों में कंठ्य ध्वनि की प्रधानता से 'ऋ' का 'अ' [कृषि >कसि (पाली)] तालव्य ध्वनि की प्रधानता से 'ऋ' का 'इ' [मृत्यु >मिच्च] और ओष्ठ्य ध्वनि की प्रधानता से 'ऋ' का 'उ' [मृणाल >मुणाल] होता है। पर यह कोई व्यापक नियम नहीं है।

द्राविड़ भाषाओं में 'ऋ' के मूल एवं परिवर्तित उच्चारण पर आर्य भाषाओं का प्रभाव अवश्य पड़ा है। द्राविड़ भाषा में भी ऋ का 'अ' 'इ' 'उ' में परिवर्तन होता है। 'वृषभ' से व्युत्पन्न रूप 'बसव' जैसे शब्द तो कर्नाटक की जनता में भी प्रचलित हो गए हैं। (कर्नाटक में ऐसा कोई भी गाँव नहीं जहाँ **'बसव'** का एक मंदिर न हो) पर 'ऋ' का वैदिक उच्चारण अत्यंत प्राचीन काल में होने से उत्तर भारत की अपेक्षा दक्षिण भारत में वह अधिक

सुरक्षित[१] है। उत्तर भारत के व्युत्पन्न संस्कृत विद्वान् भी 'ऋतु-संहार' न पढ़कर रितु-संहार (कहीं कहीं रितु-संघार भी) पढ़ते हैं।

कन्नड में ऋ का प्राय: अन्य स्वरों में परिवर्तन हो जाता है। जैसे **संस्कृत कन्नड**

ऋ > अ = वृषभ > बसव (रा० ४७) (आ० क० बो०)
अमृत > अमर्दु (रा० १३)

ऋ > ई = ऋषि > रिसि (रा० ३०)
मृत्यु > मिळतु (पंप भारत २-१८)

ऋ > उ = ऋषि > रुषि (रा० १४)

ऋ > ओ = पृथ्वी > पोडवि (रा० ७)

पर आधुनिक कन्नड में तत्सम शब्दों की ही ओर अधिक झुकाव है।

पाली, प्राकृत तथा आगे चलकर हिंदी में भी 'ऋ' के भिन्न भिन्न स्वरों में परिवर्तन के उदाहरण मिलते हैं।

ऋ	प्राकृत	पाली	हिंदी
> अ	तृण > तण (म०) वृषभ > वसह (शौ०) कृत > कअ (म०)	कृषि > कसि तृष्णा > तण्हा मृत्यु > मच्चु	मृत > मरा गृह > घर
> आ	मृदुक > माउक्क (म०)		नृत्य < नाच
> इ	कृपण > किविण दृष्टि > दिट्ठि शृगाल > सिआल हृदय > हिअय	तृण > तिण मृग > मिग तृप्ति > तित्ति गृद्ध > गिज्झ	मृत्तिका > मिट्टी वृश्चिक > बिच्छू गृद्ध > गिद्ध शृंग > सींग भ्रातृज > भतीजा

१. डाक्टर भांडारकर का कथन है:—'ऋ must have been in

ऋ >	प्राकृत	पाली	हिंदी
उ	निभृत > णिहु अ (म०) > णिहुद (शौ०)	भृश > भुस	उ—मृत > मुआ
			स्मृति > सुरति
	पृच्छति > पुच्छइ (म०) > पुच्छदि (शौ०)	मृदु > मुदु	ऊ—वृद्ध > बूढ़ा
			वृत्त > रूख
	मृणाल > मुणाल	मृषा > मुसा	पृच्छति > पूछे
	वृत्तांत > वुत्तांत	वृष > वुस	
	मृषा > मुसा	वृष्टि > वुट्ठि	
रि	ऋत्त > रिच्छ		ऋण > रिन
ओ	मृषा > मोसा		

अनुस्वार और अनुनासिक उच्चारण

यह नहीं कहा जा सकता कि प्राचीन द्राविड़ भाषा में अनुस्वार था या नहीं परंतु ठेठ कन्नड शब्दों में अनुस्वार मिलता है।

जैसे :—अंचे (पुरानी कन्नड) < (सं०) हंस

हिंदी में अनुनासिक स्वरों के कुछ उदाहरण मिलते हैं जो अकारण ही अनुनासिक हो गए हैं और जिनके तत्सम रूपों में कोई अनुनासिक ध्वनि नहीं पाई जाती हैं। जैसे—

हिंदी		संस्कृत
आँसू	<	अश्रु
साँच	<	सत्य

---

those days pronounced in the same manner in which the Marathi Pandits of the present day pronounce it, and not like अर्, इर्, र or रि as is supposed by several European scholars."

हिंदी		संस्कृत
साँस	<	श्वास
भौं	<	भ्रू

[इस विषय पर दूसरे अध्याय में विशद रूप से विवेचन किया जायगा]

उपर्युक्त उदाहरणों के अतिरिक्त 'हाथ' 'आटा' जैसे शब्दों के 'हाँथ' 'आँटा' उच्चारण भी सुनने में आते हैं। इसी प्रकार लिखित एवं बोलचाल की कन्नड में कुछ शब्दों में अनुनासिक का अंतर पड़ता है; जैसे:—

लिखित रूप	उच्चरित रूप
(सं०) वापी > बावि	भाँवि[1]
किवि	किंविं
(कड़ुआ) कहि	खैंइ
(मीठा) सिहि	सींइ

(संवृत स्वर Whispered Vowels.)

कुछ दर्द भाषाओं में एवं भारतीय आर्य भाषाओं के बहिरंग समुदाय की कुछ भाषाओं में (जैसे काश्मीरी, सिंधी और बिहारी) शब्दांत 'ई' या 'उ' स्वर का पूर्ण लोप न होकर अर्ध उच्चारण किया जाता है। पूर्वी हिंदी में भी यह प्रवृत्ति पाई जाती है। अंतरंग भाषाओं में यह बात देखने में नहीं आती।

'मूर्ति' शब्द का अंतरंग भाषाओं में 'मूरत' उच्चारण होता है और अवधी में 'मूरतइ'।

---

(१) आज कल के कुछ लेखक "भांवि" भी लिखने लगे हैं। दे० "कामनविल्लु"—सं० अ० न० कृष्णराव, Bangalore 1934.

तमिळ् भाषा के शब्द अधिकतर हलंत हुआ करते हैं; पर वैसे हलंत नहीं जैसे हिंदी या अन्य आर्य भाषाओं के शब्द होते हैं। << वंदिरकान् >> (=वह आया है) का उच्चारण << वंदिरकान्उ <<जैसा होता है। तमिळ् के समान पुरानी कन्नड में भी हलंत शब्द होते थे। पर आधुनिक कन्नड में वे स्वरांत हो गए हैं। नीचे कुछ उदाहरण दिए जाते हैं।

पुरानी कन्नड	आधुनिक कन्नड
(रा० पृ० २३) नीर् (=जल)	नीरु
(” ” ३१) पंबल् (=उत्कट इच्छा)	हंबलु
(” ३५) नविल्गळ् (=मयूर)	नविलुगळु
(” ८) मीन् (=मछली)	मीनु
(” ”) कण् (आँख)	कण्णु

आधुनिक मलयाळम् भाषा में अधिकतर शब्दों के अंत में एक हल्का 'उ' का उच्चारण सुनाई पड़ता है जो कन्नड में स्पष्टतया 'उ' स्वर हो जाता है। बिहारी और अवधी भाषाओं में भी इस प्रकार का उच्चारण बराबर सुनाई पड़ता है।

मलयाळम्	कन्नड	बिहारी	अवधी
कण्णुउ (आँख)	कण्णु	घोड़्अवा	घोड़ु
कोट्टि्उ (सुनकर)	कोळिबिट्टु	देखिल्अन्ह्उ	देखिस्इ
अद्उ (वह० नपुं०)	अदु	देखथ्उ(उसे देखने दो)	
मातावुउ (माता)	मातेयु	देखिलह्उ (मुझे देखने दो)	

बिहारी के अतिरिक्त दर्द (काश्मीरी), सिंधी आदि बहिरंग समुदाय की भाषाओं में भी शब्दांत स्वर का संवृत उच्चारण होता है। जैसे:—

सिंधी भाषा में शब्दांत 'अ' का नियमत: संवृत उच्चारण होता है; न तो उसका पूर्ण रूप से लोप ही हो जाता है और न विवृत उच्चारण होता है। जैसे:—

खट्ू^उ (=शय्या) खट्ट्^अ (खाट)

काश्मीरी भाषा में 'अ' का उच्चारण तीन प्रकार का होता है—

(१) शब्द के मध्य में स्वर भक्ति के रूप में अ का संवृत हो जाना; जैसे—

खर्^अच

(२) सिंधी की भाँति शब्द के अन्त में; जैसे—

गर्^अ (=घर); गर्^अ-वाल्^उ (घरवाला)

(३) गृहीत शब्दों के उपांत्य दीर्घ स्वर के अनंतर ह्रस्व वर्ण के पश्चात्, जैसे—

जहाज़ (अरबी) > जहाज़्^अ

निशान (फ़ारसी) > निशान्^अ

फेन (संस्कृत) > फीन्^अ

इस प्रकार स्वर का संवृत् उच्चारण आर्य भाषाओं में आगंतुक है पर द्राविड़ भाषाओं में सामान्य है। कन्नड एवं तेलुगु में जिसमें शब्दांत स्वर का संवृत उच्चारण नहीं होता, पूर्ण उच्चारण होता है। परंतु आर्य भाषाओं की प्रवृत्ति तो शब्दों को हलंत करने की ओर ही है। अत: ग्रियर्सन साहब की यह धारणा कि संवृत स्वर का उच्चारण भा० आ० भाषाओं में द्राविड़ भाषा से आया है बहुत कुछ ठीक है।

अब इसका थोड़ा विचार होना चाहिए कि दर्द, सिंधी, बिहारी ही में अधिकतर स्वर का संवृत उच्चारण क्यों है, अन्य भारतीय आर्य भाषाओं में क्यों नहीं है। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि उन प्रांतों में जहाँ आजकल ये भाषाएँ बोली

जाती हैं आर्य-द्राविड़ संपर्क और प्रांतों की अपेक्षा अधिक रहा हो। इन प्रांतों में आर्यभाषाभिज्ञ द्राविड़ जनता के या द्राविड़भाषाभिज्ञ आर्य जनता के परस्पर अनुकरण का यह फल हुआ होगा कि स्वरों का संवृत उच्चारण स्वयं आर्यावर्त के कतिपय स्थानों में होने लगा। और प्रांतों में इस उच्चारण के न होने का यही कारण हो सकता है कि द्राविड़ आर्य संपर्क उतने दीर्घ काल तक उन प्रांतों में न होगा। दर्द, सिंधी, मराठी, बिहारी इन्हीं चार आर्य भाषाओं पर द्राविड़ भाषाओं के उच्चारण का अन्य भा० आ० भाषाओं से अधिक प्रभाव पड़ा है, जिसमें स्वरों का संवृत उच्चारण भी एक है।

दूसरा अध्याय—स्वर-परिवर्तन

क. स्वरागम

१. आदि स्वरागम (Prothesis)

प्राकृतों एवं द्राविड़ भाषाओं का एक बहुत ही प्रधान लक्षण यह है कि ये भाषाएँ शब्द के आदि में संयुक्त व्यंजन नहीं रहने देतीं। इन भाषाओं में या तो संयुक्त व्यंजनों के पूर्व किसी स्वर का आगम हो जाता है और आगत स्वर की सहायता से संयुक्त व्यंजनों का उच्चारण होता है या संयुक्त व्यंजन के मध्य में स्वरागम होकर दोनों व्यंजन पृथक् हो जाते हैं। पर तत्सम तथा अर्ध-तत्सम शब्दों में जब आदि संयुक्त व्यंजनों में परिवर्तन नहीं होता है, तब उनके पूर्व एक स्वर का आगम हो जाता है। द्राविड़ भाषाओं में किसी भी ठेठ द्राविड़ शब्द के आदि में संयुक्त-व्यंजन नहीं होते। यों तो संयुक्त व्यंजनों का शब्दों के मध्य में भी एक प्रकार से अभाव ही रहता है। अतः यहाँ द्राविड़ भाषाओं से उदाहरणार्थ ऐसे ही शब्द उपस्थित किए जा सकते हैं जो संस्कृत

से द्राविड़ भाषाओं में आए हैं। नीचे कुछ उदाहरण दिए जाते हैं, अधिक उदाहरण 'व्यंजन परिवर्तन के प्रकरण' में दिए जायँगे।

स्त्री (सं०) > 'इस्त्रि' [अशोक का शहबाजगढ़ीवाला लेख]

इस प्रकरण में आद्यागम-रूप स्वरों पर विचार करना है। आधुनिक भा० आ० भाषाओं में इस प्रकार के संयुक्त व्यंजनों के पूर्व 'अ' अथवा 'इ' का आगम होता है; 'ई' का आगम अधिक होता है।

'अ' का आगम—	स्तुति (सं०) > अस्तुति
	स्नान (सं०) > अस्नान
'इ' का आगम—	स्त्री (सं०) > इस्त्री

अँगरेज़ी के 'स्टेशन', 'स्कूल', स्पेशल', 'स्पंज' आदि शब्दों के पूर्व 'इ' का आगम आर्य तथा द्राविड़ दोनों भाषाओं में होता है अतः दोनों भाषाओं में इनका उच्चारण 'इस्कूल', 'इस्टेशन' 'इस्पंज' के समान होता है। कर्नाटक में तो 'स्कूल' को 'इसगोलु' भी कहीं कहीं कहते हैं।

दर्द भाषाओं में भी आदि स्वरागम प्रायः होता है।

स्तोर (फा० = घोड़ा) > इस्तोर (ख़ोवारी बो)
स्वसा (सं०) > इस्पुसार (,,)
(= बहन)

हिंदी में आदि स्वरागम के कई ऐसे उदाहरण भी उपलब्ध होते हैं जिनके आदि में संयुक्त व्यंजन नहीं पाए जाते। जैसे—

(सं०) नवक > अनोखा (हिंदी)

प्राचीन द्राविड़ भाषाओं का यह भी एक वैचित्र्य है कि कोई भी शब्द 'र' या 'ल' से प्रारंभ नहीं होता। अतः राजा (सं०) का तमिळ् रूप 'अरशन्' होता है; 'लोक' शब्द को तमिळ्-भाषा-

भाषी 'उलोगम्' बना लेते हैं। इसी प्रकार के कुछ और भी उदाहरण नीचे दिए जाते हैं।

इस्कोलु < (School) अरंगशामि < (रंगस्वामी)
इस्तिरिगळ् < (स्त्रीगण) इलक्कणं < (लक्षणं)
इरवति < (रेवती)

२ स्वर-भक्ति (Anaptyxis)

(अ) शब्द के आदि में स्वर-भक्ति

आदि स्वरागम की भाँति **'स्वर-भक्ति'** केवल अन्यभाषागत या तद्भव शब्दों में न होकर तत्सम या अर्धतत्सम शब्दों में भी होती है। मध्य देश के उत्तर पश्चिम भाग, पंजाब और उत्तर-पश्चिम सीमाप्रान्त में स्वरभक्ति की प्रचुरता है। पर पूर्व की ओर 'आदिस्वरागम' की प्रवृत्ति अधिक है। आदिस्वरागम प्रायः उसी संयुक्त व्यंजन के पूर्व होता है जिसका एक वर्ण श, ष अथवा 'स' हो (द्राविड़ भाषाओं में असंयुक्त 'र' 'ल' 'स' के पूर्व भी स्वरागम होता है।) परंतु संयुक्त-व्यंजन का एक व्यंजन 'य' 'र' 'ल' अथवा 'अनुस्वार' वर्ण होने पर भी 'स्वरभक्ति' होती है। प्राकृतों में भी यही नियम है —

संस्कृत	आ० भा० आ० भाषाएँ
त्याग	(सिंधी)—तियागु ; (पंजाबी, हिंदी)—तियाग
प्रताप	(हिंदी)—परताप; (पर सिंधी में) परतापु
त्रास	(") तरास (") तरसु
श्लोक	(हिं०) सलोक, (म०) शिलोक, (सिं०)—सलोकु
स्नेह	(") सनेह, [(सिं०) सिनेहो]
श्राद्ध	(") सराध [(") सिराध]

संस्कृत अँगरेजी	आ० भा० आ० भाषाएँ
स्नान	सिनान (हिं० काव्यभाषा में भी कभी कभी प्रयुक्त) सिणाण (अर्ध० मा० प्रा०)
Station	सिटेसन (देहाती)
Glass	गिलास (हिं०) [गळासु (कन्नड)]
प्रभात	परभात (हिं०)
प्राण	परान (हिं०) पराण (बँगला)
वृक्ष	बिरिछ (हिं०)

उपर्युक्त उदाहरणों में यह ध्यान देने की बात है कि 'स्वरभक्ति' में आगंतुक स्वर पर स्वराघात नहीं है, जैसा द्राविड़ भाषाओं में होता है। आदि संयुक्त वर्ण पर होनेवाला स्वराघात, स्वरभक्ति के उपरांत, शब्द के दूसरे वर्ण पर पड़ता है। 'स्वरभक्ति' में प्रयुक्त स्वर शब्दगत स्वरों पर आश्रित रहता है।

(आ) शब्द के मध्य में स्वरभक्ति

नीचे इस संबंध में कुछ उदाहरण दिए जाते हैं—

संस्कृत	आ० भा० आ० भाषाएँ
कार्य	(हिंदी) कारज (सि०) कारजु[3]
धैर्य	" धीरज
सूर्य	" सूरज, सूरुज (बोली)
गर्भ	" गरभ
हर्ष	" हरस
धर्म	" धरम

संस्कृत	आ० भा० आ० भाषाएँ
पूर्व	(पं०, प० हिं०, पू० हिं०, पहाड़ी) पूरब, (बिहा०) पूरुब (ख० बो०, पं०, अव०)
वर्ष	बरस, (बिहा०) बरिस
स्वप्न	(हिं० सपना) (सिं०) (सुपनो) [कन्नड सपन]
मिश्र	(") मिसिर या मिसर
अग्नि	(ख० अव०) अगनि, (बँग०) आगुन
पद्म	(हिं०) पदुम (दे० प्रा० प्रकाश पडम)
भक्त	(हिं०) भगत (सि०) भगत्[3] [कन्नड भकुति]

द्राविड़ भाषाओं में संयुक्त व्यंजन बहुत कम हैं। आधुनिक द्राविड़ भाषाओं की प्रवृत्ति संयुक्त व्यंजनों के विश्लेषण की ओर है और यही प्रवृत्ति म० द्रा० भाषाओं तथा आ० भा० आ० भाषाओं की भी है। नीचे द्राविड़ भाषाओं से कुछ उदाहरण दिए जाते हैं।

संस्कृत	तामिळ् या मलयाळम्
स्नेह	सिनेगम्
मित्र	मित्तिरन्
श्री	तिरु [दे० < तिरु नक्षत्र > ' < तिरु पति > 'मंदिरम]
कृष्ण	किरुट्टिणन्
ब्रह्मा	बिरम
चन्द्र	शन्दिरन्

संस्कृत	काव्यगत भाषा (मध्य० का० कन्नड)
श्री	सिरि (रा० १२)
श्रीश	सिरिस (पंपभारत ४-८)
वर्ष	बरिस (रा० ६२)

संस्कृत	आधुनिक कन्नड
रत्न	रतुन
हर्ष	हरुष
यत्न	जतन
मूर्ख	[< <मुरुहो > > (प्रा०) >] मुरुव

उपर्युक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि मुखसुख के लिये स्वर-भक्ति का विधान केवल म० भा० आ० भाषाओं में ही नहीं था किन्तु साथ ही साथ द्राविड़ भाषाओं में भी उसका प्रचार रहा। प्रायः यह कहा जाता[1] है कि द्राविड़ भाषाओं में शब्दों के आदि में संयुक्त व्यंजन होते ही नहीं; किंतु मध्य में होते हैं। मध्यम संयुक्त व्यंजनों का किस प्रकार आधुनिक कन्नड में स्वर-भक्ति द्वारा विश्लेषण किया जाता है इसके उदाहरण ऊपर दिए गए हैं। Jules Bloch महोदय का मत[2] है कि प्राचीन काल में संस्कृत के समान द्राविड़ भाषाओं में भी संयुक्त व्यंजनों का प्रयोग था।

(ख) स्वर-लोप

१ आदिस्वरलोप (Aphaeresis)

अनेकाक्षर शब्द में उस निस्वर (unaccented) 'अच्' (syllable) का लोप हो जाता है जिसका अनुचर कोई 'सस्वर अच्' (accented syllable) हो। यही कारण है कि संस्कृत "अरण्य" शब्द का प्राकृत में "रण्ण" रूप भी मिलता है।

---

१. दे० काल्डवेल--कं० ग्रै० आवॅ द्रा० लैंग०।

२. इंडियन ऐंटिक्वेरी सन् १९१९, पृ० १९१५।

आदि स्वर-लोप के आधुनिक भारतीय भाषाओं से कुछ उदाहरण दिए जाते हैं।

संस्कृत	अपभ्रंश	आ० भा० आर्यभाषाएँ	कन्नड
अरघट्ट	अरहट्ट	(हिं.) रेंहट (म०) रहाट	राट
अरत्निः	अरत्ति	(म०) रेंटा	रट्ट (हाथ की कुहनी से भुजमूल तक का भाग)
अतसिका	अलसिआ	(हिं०) तीसी, अलसी बं० (तिसी)	
अपत्यकः	अवच्चड	बच्चा	

आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में कुछ ऐसे शब्द भी मिलते हैं जिनके आदि स्वर लुप्त हो जाने के बाद के रूप भी चलते हैं जैसे:—

(हिं) अनाज — नाज
अढ़ाई — ढाई
अधेला — धेला
अँगीठी — गींठी (पश्चिमी पहाड़ी)

आदि आ का लोप भी कहीं कहीं हो जाता है; जैसे—
(सं०) आसीत् > (प्रा०) आसी > (पंजाबी) सी
दर्द भाषाओं में भी आदि 'आ' के लोप के उदाहरण मिलते हैं; जैसे—
(सं०) आत्मन् > तनु (गवस्ती बोली) (पशतो) < तानिक >, ताँ (गार्वी), तनी (काश्मीरी)।

स्वयं वैदिक संस्कृत में 'त्मना' रूप पाया जाता है।

उत्तरी द्राविड़ भाषाओं में 'आदिस्वर-लोप' दक्षिणी द्रा० भा० से अधिक होता है। इसका कारण स्वराघात-युक्त आ० भा० का सान्निध्य है। सर्वनामों एवं निसर्गों के स्वराघात-रहित आदि-स्वर का लोप प्रायः होता है। द्राविड़ भाषाओं से आदिस्वर-लोप के कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं।

(तमिळ्) उळ् > अ ोळु (कन्नड), > लो (तेलुगु), > लई (गोंडी) (=में)।

(") उरळ् > अ ोरळु ("), रोलु (तेलुगु) (= शिला)

(") इळसु > एळसु ("), लेतदु (तेलुगु) (= छोटा)

(") अवन् > अवनु ("), वाडु (तेलुगु) (= वह; पु०)

तेलुगु में कुछ शब्दों के आदि 'आ' का लोप होकर परवर्ती स्वर दीर्घ हो जाता है। जैसे—

(ते०) < <आगलेदु > > (तमिळ् < <आहरि लै > > =हुआ नहीं) > का लेदु (ते०)।

भारतीय आ० भाषाओं एवं द्राविड़ भाषाओं में आदि स्वरलोप की प्रवृत्ति बराबर पाई जाती है। द्राविड़ भाषाओं के उपर्युक्त उदाहरणों में यह ध्यान देने की बात है कि शब्दों में केवल आदि स्वर का लोप ही नहीं हुआ है पर गुण या स्वर-व्यत्यय भी साथ ही साथ हुआ है। इसका कारण यह है कि द्राविड़ भाषाओं में 'बल' (stress accent) नहीं है। अतः आदिस्वर-लोप के उपरांत शब्द में मात्रापरिमाण बनाए रखने के लिये कोई और परिवर्तन आवश्यक होता है। अंतिम उदाहरण में जो 'आग लेदु' का 'का ले दु' हुआ है उसका कारण 'स्वर' (accent)

है। किंतु यह बात तेलुगु आदि उत्तरी द्राविड़ भाषाओं के अतिरिक्त और किसी द्रा० भा० में नहीं है। इस विषय में उत्तरी द्राविड़ भाषाओं पर भा० आ० भा० का प्रभाव स्पष्ट है।

२ मध्य-स्वर-लोप (Syncope)

मध्य-स्वर-लोप का कारण भारतीय आर्य भाषाओं में स्वराघात है। शब्द में सस्वर वर्ण[1] का परवर्ती 'अ'कार कुछ बोलियों में संवृत रूप से उच्चरित होता है और कहीं कहीं लुप्त भी हो जाता है।

(सं०) पूंग-फलम् > पुगफ़ुलम् ~ पोफू फ ल म् (प्रा०)
(सं०) दुहिता > दुहिदा > धीय् आ (प्रा०)
(मध्य पहाड़ी) छिं यो (=वह था) > (बो ली) छ्यों

इस शब्द में तीन तालव्य वर्णों का संकोच मात्र हुआ है, पर 'हि'कार-युक्त शब्दों में 'ह' का पूर्ववर्ती स्वर प्रायः लुप्त हो जाता है। लोप के बाद 'ह' पिछले स्पर्श अल्पप्राण व्यंजन से मिलकर महाप्राण घोष हो जाता है:—

(सं०) गर्दभः > (अ प०) गंद्दहु या < <गंड्डहु> >
(वि० पू० पहाड़ी) गंद्‌अहा
(सिंधी) गड्डहू
(बंगाली) गाधा
(लेहंदा) गद्दों
(ख,० अव,० पंजा०,) गंधा
(मराठी) गांढ़व

(सं०) दंशकः > (अप०) दंहउ
(मराठी) दहा
(कोंकणी) धां

---

1. Accented Syllable

उत्तरी पंजाबी में 'बहाई' (= बैठी हुई) का बोलने में 'भाई' रूप हो जाता है।[१] इसी प्रकार—

जहाज (अर०) > भाज,

बहान (फा०) > भाना, हैं।

मध्यवर्ती 'अ'कार का लोप ही अधिक देखने में आता है मध्य 'इ' का लोप बहुत कम होता है।

बोलचाल की कन्नड में मध्य-स्वर-लोप बराबर पाया जाता है। कहीं कहीं इस प्रकार स्वर-लोप से बोल-चाल की भाषा तथा लिखित भाषा के रूपों में बड़ा अंतर पड़ जाता है।

लिखित रूप	उच्चरित रूप	लुप्त स्वर
(रा०४१) मैदुन [पुरानी कन्नड-(देवर)]	मैन्द	'उ'
बसव [< सं०वृषभ] (पु० कन्नड)	बस्व	'अ'
सोगलु— " (सौंदर्य)	सोग्सु	अ
मुनिसु— " (मान करना)	मुन्सु	'इ'
अदुहेगे (सो कैसे ?)	अद्हेगा	'उ'

मध्य-स्वर लोप की प्रवृत्ति भारतीय आर्य एवं द्राविड़ भाषाओं में स्वतंत्र रूप से हुई है।

३ अंत्य स्वर लोप (Apocope)

भारतीय आर्य भाषाओं में संस्कृत के शब्दों के अंतिम स्वर का प्रायः लोप होकर अजंत शब्द हलंत बन जाते हैं। उड़िया तथा बँगला में यह प्रवृत्ति अपेक्षाकृत कम पाई जाती है। शब्द में उपांत्य वर्ण पर स्वराघात होने से अंतिम स्वर का लोप होता है। पूर्वी एवं

(१) हिंदी में भी इस प्रकार का परिवर्तन होता है। जैसे—

ओहदा > ओधा (तुलसी)

मध्य पहाड़ी भाषाओं में शब्दान्त्य दीर्घ स्वर का ह्रस्व हो जाता है। जैसे मध्य पहाड़ी में 'चेलो' (पुत्र) शब्द 'चैलो' होकर बोलियों में 'च्यल' रूप धारण करता है। इसी प्रकार बोजो' (=बोझ) > बोजो > 'ब्वोज' (बोली) हो जाता है। काश्मीरी भाषा में अंत्य दीर्घ स्वर का ह्रस्व हो जाता है और बाद में उसका लोप होता है। सिंधी में प्रायशः और काश्मीरी में सामान्यतः अंतिम ह्रस्व स्वर का उच्चारण अस्पष्ट सा होता है। वास्तव में वह संवृत् स्वर बन जाता है। जैसे—

(सिं०) खंट्अ (=बिस्तरा) अख्ए (=आँख)
अंगर्उ (कोयला)

(का०) बत्अ (=भात), पोथ्इ (=पोथी) कर्उ (=माला)

मूल 'ई' से ह्रस्व होकर आया हुआ 'इ' कार बिहारी में सुरक्षित है। जैसे—

पानीयम् > पानि

पर अंत्य 'इ' या 'उ' संवृत् स्वर में परिवर्त्तित होता है। जैसे—

देख्अ लन्ह्इ (= उसने देखा)
देखथ्उ =(उसे देखने दो)

मराठी की विभाषा कोंकणी में भी यही प्रवृत्ति देखने में आती है। शिष्ट मराठी में तत्सम शब्दों के अंत्य 'इ' 'उ' को छोड़कर तद्भव शब्दों में प्रायः 'इ' 'उ' का लोप हो जाता है। पर कोंकणी में ये स्वर संवृत होते हैं। कोंकणी में इनका लोप नहीं होता। जैसे—दुःणअ (= लोग), पूतउ (=पुत्र)[१]। बिहारी एवं कोंकणी में अंत्य स्वरों को सुरक्षित रखने या संवृत कर देने की प्रवृत्ति पर द्राविड़ भाषाओं का प्रभाव अवश्य है[२]।

---

(१) लिं० स० इं० (७-१६)।

(२) Notes on I. A. Vol. I A. 1932 P. 81. by Sir A. Grierson.

द्राविड़ भाषाओं के शब्द प्राय: हलंत नहीं होते। प्रा० द्रा० भाषाओं के भी सब शब्दों को भाषा-विज्ञानवेत्ता शुद्ध हलंत नहीं मानते। आधुनिक तमिळ् में तो हलंत और अजंत दोनों प्रकार के शब्द पाए जाते हैं परंतु हलंत शब्दों का उच्चारण वैसा नहीं होता जैसा हिंदी में 'वंदान्' (वह आया) का लिखित रूप तो वही है पर बोलचाल में उसका रूप ' वंदान्उ ' हो जाता है जो कन्नड में बन्दनु हो गया है। पुरानी कन्नड इस बात में आधुनिक तमिळ् से अधिक मेल खाती है।

(ग) स्वर-व्यत्यय (Metathesis of vowels)

भारतीय आ० भाषाओं में स्वर-व्यत्यय कहीं कहीं देखने में आता है। जैसे—

(सं०) हरिण < (हिं०) हिरन। (बो० हिरन)
(सं०) लघु < (") हलुक् (बोली)
(सं०) उल्का < (") लूक्, लू।

द्राविड़ भाषाओं में भी इसके उदाहरण मिलते हैं स्वर-व्यत्यय तेलुगु में अधिक होता है।

(तमिळ्) इरळै (=हिरन) < (तेलुगु) लेडि
(") उरलै (=रोड़ा) < (") रोलु
(") अवत् (=वह० पु०) < (") वाडु

(घ) (Epenthesis or Umlaut†)

(अपनिहिति या अभिश्रुति)

शब्द में परवर्ती अक्षर१ के किसी स्वर या अर्धस्वर के प्रभाव से होनेवाले पूर्व स्वर-परिवर्तन को (Epenthesis) (अपनिहिति)

† ग्रियर्सन साहब Epenthesis और Umlaut में अंतर नहीं मानते। इस बात में उन्होंने भी Brugmann साहब का अनुसरण किया है।

(१) Syllable

कहते हैं। प्रायः 'इ' या 'उ' का ही अपनिहति देखने में आता है; जैसे—

(क) स्वराघात-रहित 'इ' का अपनिहति

१—आसामी में 'वा॑क्य' का उच्चारण 'बाइक्य' या 'वाइक' होता है।

'अ॑न्य' का उच्चारण 'ओ॑इन्य' या 'ओ॑इन' होता है।
'क्सू॑न्य' „ „ 'क्सु॑इन्य' या 'हु॑इन' होता है।

इन उदाहरणों में संप्रसारण ('य' का 'ई' में परिवर्तन) मात्र है (पूर्वी एवं दक्षिण पूर्व वंग) 'क॑रिया' < कइरा (करके)
सु॑निबार <सुइन बार (सुनने पर)

२—भोजपुरी की 'नागपुरिया' बोली (जो छोटा नागपुर में बोली जाती है) में क॑रिके < क॑इरके
म॑रिके <मो॑इरके बोले जाते हैं।

३—गुजराती (बोली) मा॑र्यो < मा॑इरो (=मारा)
चा॑ल्यो < चा॑इलो (=गया)
पोर्यो < पोइरो (=पुत्र)

गुजराती (साहित्यासीन)—
(लिखित) आ॑व्यो < आइव्यो (उच्चरित)
„ ला॑व्यो < ला॑इव्यो („)

उपर्युक्त उदाहरणों में स्वर-व्यत्यय से कुछ अधिक परिवर्तन हुआ जिसके कारण उनको स्वर व्यत्यय के अंतर्गत न रखकर अपनिहति के अंतर्गत मानना पड़ता है।

---

(१) लिं० स० इं० vol vi पृष्ठ २०३.
(२) „ „ vol vii „ २८१.
(३) „ „ vol ix „ ३३१, ३८३.

मराठी (कोंकणी) गरि > गेर (=घर में)

उवरि > वइर

हिंदी की कुछ विभाषाओं में यह प्रवृत्ति पाई जाती है जैसे—

कहि < केह (ब्रज०)

आंघ्रकः (सं०) < (प्रा०) अम्हिउ < एँडी (गु०म०पं०हिं०वं०)

संधि (सं०) < (") (संधी) > सेंध (हिं०)

उ की अपनिहति

यह प्रवृत्ति लहंदा के सिवा अन्य भा० आ० भाषाओं में कम पाई जाती है।

(सं०) चंचु < चोंच (हिं०, म०) पर गुजराती में 'चंचु' का 'चाँच' रूप मिलता है। पर कोंकणी में शब्दगत 'उ' के पहले का 'अ' 'औ' में परिवर्तित हो जाता है। जैसे—

करून < कोर्न (=करके)[१]

पश्चिमोत्तर संयुक्त प्रदेश एवं पंजाब में "बहुत" शब्द का उच्चारण 'बहोत' या 'भौत' सा होता है।

बोलचाल की बँगला के किसी किसी शब्द में मूल 'इ' के पहलेवाला 'अ' 'ओ' के समान उच्चरित होता है। जैसे—

करिया < 'कोरे' या 'कोर'

पर वर्णलोप से आए हुए 'इ' के पहलेवाले 'अ' का 'ओ' जैसा ही उच्चारण होता है। उदा०—

करि (< करिमि=मैं करता हूँ) का उच्चारण 'कोरि' होगा। लहंदा में इस प्रवृत्ति पर दर्द भाषाओं का बहुत कुछ प्रभाव पड़ा है। लहंदा से कुछ उदाहरण देकर हम आगे चलते हैं।

---

(१) लिं० स० इं० vol. vii पृष्ठ १६७।

'उ' के पहले यदि किसी संज्ञावाचक शब्द में 'अ' हो तो अंग (oblique form) एवं बहुवचन में 'उ' 'अ' में परिवर्तित हो जाता है। जैसे—

छोहुर (लड़का—कर्त्ता० एकवचन), छोहर (अंग)
कुक्कुड़ (बकरा ,, ,,), कुक्कड़ (,,)
जङ्गुल (जंगल ,, ,,), जङ्गल (,,)

अन्य बातें यहाँ छोड़ दी जाती हैं क्योंकि यहाँ उनका विशेष प्रयोजन नहीं है।

द्राविड़ भाषाओं में भी अभिश्रुति की प्रवृत्ति बराबर पाई जाती है।

अ—अभिश्रुति

< <इ, उ > >ए, आ' [कन्नड, तुळ, तेलुगु, उत्तरी तमिळ्, मलयाळम्]

यह परिवर्तन मूर्धन्य एवं 'ल्' 'ळ्' या 'ळ' युक्त शब्दों में 'अ' के पहले होता है। उदा०:—

(तमिळ्) < <इडम् > >(बाँया) >(मल०) < <इडै > >
>(क०तु०) < <एड > >
>(तेलुगु) < <एडमु

उपर्युक्त उदाहरणों में तथा अन्यत्र भी 'इ' और 'उ' सदा शब्द के आदि में होते हैं।

इ—अभिश्रुति

प्राचीन द्राविड़ शब्द में 'ड' के पहले वाला 'अ' कभी कभी < <ए > >में परिवर्तित हो जाता है। उदा० :—

> >√अरि > >(<तमि०=जानना) >* < <एरुगु > >(तेलुगु)

संज्ञागत 'इ' के प्रभाव से परसर्ग के 'उ' का भी कहीं कहीं 'इ' में परिवर्तन हो जाता है। जैसे—

(तेलुगु) < < पुलि > > (=व्याघ्र) (संज्ञा) < < कु > > [=को] < < पुलिकि > > पर < < 'विड्डु' > > (बच्चा) का कर्म कारक में < < बिडुकु > > रूप होगा।

उ—अभिश्रुति

तमिळ् के हलंत शब्द कन्नड, तुळु और प्रायः तेलुगु में 'उ' कारांत हो जाते हैं। इस शब्दांत 'उ' के प्रभाव से पूर्ववर्ती अक्षर के 'अ' का भी 'उ' में परिवर्तन हो जाता है। जैसे—

[त०] < < कदल् > > (=हिलना) > कदुलु (क०, ते०, तु०)

(१) अ-घटित शब्दों में अभिश्रुति

१. **'इ' का लोप**—शब्दगत 'इ' के लोप से आदि 'अ' का 'ए' में परिवर्तन हो जाता है। जैसे:—

(तमिळ) < < √अरि > > =(जानना) > (तेलुगु) > एरुगु > >

२. **'उ' का लोप**—शब्दगत 'उ' के लोप से आदि 'अ' का 'उ' में परिवर्तन हो जाता है। जैसे—

(तमिळ्) < < √मुळै > > [अंकुरित होना] > (तेलुगु) मोलत्सु > > या < < मोलुत्सु > >

(त०) < < मलै > > (भटकना) > (तेलुगु) < < मलगु > > > मलुगु

३. **अनुस्वार लोप**—(अनुस्वार भी स्वर ही हैं)

तेलुगु में सानुस्वार सर्वनाम के आख्यात प्रत्यय बनने पर[१] अनुस्वार का लोप और ह्रस्व 'अ' का दीर्घ 'आ' हो जाता है। उदा०—

(तमिळ्)अवन् (=वह, पु०) > वाडु (आख्यात प्रत्यय < < आडु > >)

---

१. द्राविड़ भाषाओं में सर्वनामों से आख्यात प्रत्यय बना लिए जाते हैं।

एक और उदाहरण दिया जाता है—

(त०) < < √तंगु > > (रहजाना) > (ते०) < < दागु > <

(२) इ-घटित शब्दों में अभिश्रुति

अ—अभिश्रुति कन्नड, तुळु, तेलुगु, तमिळ् एवं मलयाळम् में मूर्धन्य एवं ल्, ळ्, ड्, ऱ्, र्, घटित शब्दों में 'अ' से पूर्ववर्ती 'इ' 'ए̆' में परिवर्तित हो जाता है।

नीचे कुछ उदाहरण दिए जाते हैं—

तमिळ्	मलयालम्	पु. कन्नड	तुलु	तेलुगु
इडम् (=स्थान)	इड्ए̆	ए̆डॆ	इड	ए̆ड
इडदु (=बायाँ)	इड्उ̆	ए̆ड	ए̆ड	ए̆डमु
इणै (=युग्म)	इण्ए̆	ए̆णॆ	इनॆ	ए̆न
इलै (=पता)	इल्इ̆	ए̆लॆ	ए̆रॆ	...
इळम् (=तरुण)	इळ्ए̆	ए̆ळॆ	इळि	लॆ

कन्नड में 'उ' घटित शब्दों में शब्दगत 'इ' का 'उ' में परिवर्तन हो जाता है। जैसे उदा०—

कडिकु (=खंड) > कडुकु

कणिकु (=भूसा) > कणुकु

तेलुगु

(१) अ—अभिश्रुति के द्वारा < < 'इ' का 'अ' में परिवर्तन—

ए̆लि (=चूहा) 'ए̆लक'

उ—अभिश्रुति के द्वारा 'इ' का 'अ' में परिवर्तन—

(त०) करि (=डसना) > करुत्सु

(२) उ—अभिश्रुति से 'इ' का 'उ' में परिवर्तन

(त०) एदिर (=सामना) > एदुरु (ते०)

(त०) कदिर (=तकली) > कदुरु (ते०)

नोट—मेरा विचार है कि अभिश्रुति की प्रवृत्ति यद्यपि द्राविड़ भाषाओं में अधिक है पर इ—अपनिहति की प्रवृत्ति दोनों भाषाओं में पाई जाती है और इसकी उत्पत्ति दोनों भाषाओं में स्वतंत्र रूप से हुई हैं।

(ङ) Cræsis vocal (संधि)

नीचे संधि के उन नियमों पर विचार किया जायगा जो संस्कृत एवं प्राकृत भाषाओं में तो नहीं पाए जाते हैं पर आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में दृष्टिगत होते हैं। इन नियमों का साम्य द्राविड़ भाषाओं से है। उद्वृत्त स्वरों का अस्तित्व द्राविड़ भाषाओं में नहीं है।

आ० भा० आ० भाषाओं में पदगत संधि होती है। जैसे—

नयन > नइन > नैन

पर वाक्यगत संधि कम पाई जाती है। 'कबही' का 'कभी', जबही > जभी जैसे वाक्यगत संधि के उदाहरण मिलते हैं पर इनकी संख्या अधिक नहीं है।

प्राकृतों में मध्यम व्यंजनों के लोप करने की प्रवृत्ति के कारण उद्वृत्त स्वरों में संधि नहीं होती। उदाहरणार्थ [सं०] 'निशाचर' का प्राकृत में < <निसाअर> > रूप बनता है, पर 'निसा' के 'आ' और 'अर' के 'अ' में संधि होकर 'निसार' शब्द नहीं होता। प्राकृत में इस प्रकार शब्दग उद्वृत्त स्वरों में संधि नहीं होती है। कुछ जैन लेखकों की क़लम से निकले हुए 'निसायरों' जैसे रूप मेरे कथन में बाधा नहीं डाल सकते।

इस प्रवृत्ति के विपरीत आ० भा० आ० भाषाओं में उद्वृत्त स्वरों की संधि नियमतः पाई जाती है। यद्यपि संधि मुख-सुख

के लिये ही होती है पर आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं की इस प्रवृत्ति का कारण (जो प्राकृत में नहीं है) 'मुखसुख' मात्र बताना संगत नहीं मालूम पड़ता। यदि इस प्रवृत्ति का कारण केवल मुखसुख ही होता तो वह प्राकृतों में क्यों नहीं घटित होता?

आ० भा० आ० भाषाओं के संधि-नियम संस्कृत के संधि-नियमों से भिन्न होते हैं। इन भाषाओं में उद्वृत्त स्वर या तो [क] संधि द्वारा संकुचित होते हैं या [ख] < <'य्'> > या < <'व्'> >के बीच में आ जाने से पृथक् होते हैं अथवा [ग] ज्यों के त्यों रह जाते हैं।

नीचे प्रत्येक उद्वृत्त स्वर-समूह की संधि का विवरण दिया जाता है।

(क) (अ + अ), (अ + आ) (आ + अ) (आ + आ) = आ उदा०—

संस्कृत		अपभ्रंश		आ० भा० आ० भाषाएँ
अंजगंर	>	अ अ अं रु	>	आ अर > (म०) आंर
चर्मकारः	>	चम्मआंरु	>	(हिं० चंमार)
राजदूतः	>	रांअउंत्तु	>	(बि०) राउत
खांदति	>	खाअंइ	>	(हिं०) खांइ

(ख) उद्वृत्त स्वरों के बीच में 'य' या 'व' का आगम भी होता है। उदा०—

संस्कृत		अपभ्रंश		आ० भा० आ० भाषाएँ
रांजा	>	रांउ	>	रांय (राव) [कन्नड—'राय', 'राव' तॆ०—राजु, राय, राव]
कांतरः	>	कांअरु	>	कांयर (गू० हि० वि०) कावरा (म०)

पा॑दः > पा॑उ > पाँवँ (हि॑०), पाय (म०)
घो॑टकः > घो॑डओ > घो॑ड़ो (व्रज०)

(१) (Originals) अनादिष्ट

सं० न॑यनम् > (हिं० अर्धतत्सम) नइन (पं०) नइण इ०
,, स॑मयः > (अ० त० वि०) स॑मइ (हिं०) स॑मै (बोली)
,, क्षयः > (हिं० पं०) छइ, (म०) खइ (गु) खूए
,, भयम् > (सिं० हिं० पं०) भइ (म०) भे
,, न॑वनी॑तम् > (अप०) नेवणी॑उ > (हिं०) न॑उनी॑ (म०) लो॑णी॑

२ (Resultant) आदिष्ट

संस्कृत	अपभ्रंश	आ० भा० आ० भाषाएँ
व॑चनम्	व॑य्अणु	(बि०) ब॑इन, (गु०) वू॑एण, (सि०) व॑एणू उ
र॑जनी	र॑य्अणि	(हिं०) र॑इन या रैन्, (पं०) र॑इन (गु०) रू॑एणू
भ्र॑मरः	भँवर॑उ	(हिं०) भौँ॑रा
सम॑र्पयति	सवँप्पे॑इ	(बि०, हिं० पं०) सौँ॑ पै (म०) सोँ॑ पे
ब॑दरः	ब॑य्अरु	(बि०) ब॑इर (हिं० पं०) बे॑र
क॑दल॑कः	क॑य्अल॑अ	(हिं० पं०) के॑ला॑ (म० गु०) केळ
अ॑परः	अ॑वरु	(हिं० पं०) अ॑उर (गु०) अ ओ॑ रू

उद्वृत्त स्वरों के मध्य में आगंतुक 'य्' 'व्' का समावेश द्राविड़ भाषाओं में सर्वनामों तक में पाया जाता है।

उदा०—

(त०) अवन् (वह पु०) और (त०) इवन् (यह पु०) में 'व'कार स्वर-भक्ति के कारण ही है; क्योंकि सर्वनामों से व्युत्पन्न द्राविड़ भाषाओं के आख्यात प्रत्ययों में ये लुप्त हो जाते हैं। जैसे— (त०) 'अन्' भूतकाल (प्र० पु०, एकव०, पुल्लिंग) का प्रत्यय है [√ वन + अन् = वन्दान् (= वह आया)]।

इस प्रकार के 'य' 'व' का आगम द्राविड़ भाषाओं के बोलने में बराबर आता है। यहाँ तक कि यह प्रवृत्ति द्राविड़ी गँवारू बोलियों में भी है, जैसे "कू" बोली में < < आआलु > > (वह स्त्री० लि०) का विकल्प से < < आवालु > > रूप भी होता है।

उद्वृत्त स्वरों के मध्य में आगंतुक 'य' 'व' का आगम (१) एक स्वरांत शब्द और दूसरे स्वरादि शब्द के मध्य में और (२) एक स्वरांत शब्द और स्वरादि परसर्ग या आख्यात प्रत्यय के बीच में होता है।

(१) के उदाहरण—

(पु० क०) < < पू > > (फूल) + "इल्लै" (= नहीं) = पूविल्लै (त०) (= फूल नहीं है)

(त०) < < वर > > (= आया) + "इल्लै" (नहीं) = < < वरविल्लै > > (त०) (वह नहीं आया)।

(२) के उदाहरण—

'य्' का आगम

(कन्नड) < < मने > > (घर) + < < ओळ् (में) < < मनेयोळ् > > (घर में) (तमिळ्) < < पुळि > > (खटाई) + < < इलू > > (में) "पुळियिलू" (खटाई में)।

'व' का आगम

(कन्नड पु०) < <तरु> > (ला) + < <उ"> > (=ना)= तरुवु (लाना) (तमिळ्) < <पिला> > ( ) + "इल्= पिलाविल् ( )।

आ० भा० आ० भाषाओं में उद्वृत्त स्वरों के बीच में प्रयुक्त 'य' या 'व' के लाने की प्रवृत्ति पर द्राविड़ भाषाओं का कुछ न कुछ प्रभाव अवश्य पड़ा होगा।

(च) आनुनासिक्य (Nasalization)

आ० भा० आ० भाषाओं में ऐसे कई शब्द मिलते हैं जिनका संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश के रूपों में अनुनासिक उच्चारण न होने पर भी आधुनिक बोलियों में (तथा कहीं कहीं साहित्यिक प्रयोगों में भी) सानुनासिक उच्चारण होने लगा है।

संस्कृत	प्राकृत या अप०	आ० भा० आ० भाषाएँ
मार्गति	मग्गइ	(गु० म० उ० अ) √माग (हिं० सि०, बं० पू० प०) √माँग
उच्चेकः	उच्चे उ	(पं० लें०) उंच्चो, (अ०) उंच, (हिं०) ऊँचा, (गु० सिं०) ऊँचो, (बि०) ऊँच, (म०) उंञ्च
संत्यः	संच्चु	(ब्रज) साँच
निद्रा	निद्दा	(हिं०) नींद
वक्र	वक्क, वङ्क	(हिं०) बाँका

संस्कृत के मध्यग असम संयुक्त वर्ण प्राकृत में प्राय: सम संयुक्त वर्ण हो जाते हैं (जैसे सं० मार्गति < मग्गइ) परंतु कुछ प्राकृत के शब्दों में इस प्रकार के सम संयुक्त वर्णों के स्थान पर अनुस्वार-युक्त एकाकी व्यंजन भी उपलब्ध होते हैं। उदा०—

सं० वक्र > (प्रा०) वक्क, (प्रा०) बङ्क [हिं० बाँका]

सं० स्पर्श > (प्रा०) फस्स, (प्रा०) फंस [> हिं० फँस]

सं० पुच्छ > (प्रा०) पुंछ [> हिं० पूँछ]

ग्रियर्सन और जाकोबी साहबों का यह अनुमान है कि देशी बोलियों में ऐसे शब्दों के अनुस्वार, अनुनासिक, या नासिका उच्चारण प्रचलित थे। इससे यह मालूम होता है कि सं० 'अक्षि' का प्राकृतों में 'अक्खि' रूप के साथ ही साथ 'आँखि' जैसा भी कोई रूप बोलियों में प्रचलित था जिससे आ० भा० आ० भाषाओं में 'आँख' रूप प्रचलित हुआ। इससे हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि आर्यावर्त के किसी प्रदेश में प्रचलित देशी बोलियों में निम्नलिखित हिंदी शब्दों के सानुस्वार मूल रूप चलते रहे जिनका संस्कृत या प्राकृत में बहुत करके सानुनासिक उच्चारण न रहा होगा। हम "बहुत करके" इसलिये कहते हैं कि आधुनिक कन्नड के कई क्रियापदों का अनुनासिक उच्चारण गँवारों में प्रचलित है जिनका लिखित भाषा में पता तक नहीं मिलता।

आ० भा० आ० भाषाओं के रूप	वे रूप जो देशी बोलियों में चलते रहे होंगे
साँच	सच्च
ऊँचा	उच्च
माँग	मङ्ग
भींत	भिन्त

हमारी समझ में भारतीय आ० भाषाओं की इस प्रवृत्ति पर द्राविड़ भाषाओं का कुछ न कुछ प्रभाव अवश्य पड़ा है।

(१) द्राविड़ भाषाओं में उद्वृत्त स्वरों के बीच में केवल 'य' 'व' का ही आगम न होकर 'न' का भी आगम होता है। तेलुगु में यह प्रवृत्ति विशेषतया पाई जाती है।

जैसे—

(ते०) < <तिन्नगा एगेनु> > (वह धीरे धीरे चला)

> < <तिन्नगाने गेनु> < ('न्' का आगम)

तेलुगु व्याकरण में जिन जिन शब्दों में इस प्रकार के 'न' का आगम होता है वे 'द्रुत' प्राकृत के शब्द कहलाते हैं। पुरानी तमिळ् में भी यह प्रवृत्ति कई जगह मिलती है।

पुरानी तमिळ् के आख्यात प्रत्ययों एवं संज्ञाओं के बीच मुखसुख के लिये 'न' विकरण आता है।

उदा०—

इरुक्किन्द्र + अ > इरुक्किन्द्रन > (= वे हैं; नपु०)

इरुन्द्र + अन् > इरुन्द्रनन् (= वह था पु०)

> इरुन्दान् (आ० तमिळ्)

पुरानी तमिळ् के नाम धातुज क्रियापदों या संज्ञाओं में भी आख्यात या विभक्ति प्रत्यय एवं धातु या संज्ञा के बीच 'न्' का आगम होता है। जैसे—

< <पोरुळ + अ> > पोरुळन (तथ्य वस्तुएँ)

< <वरु + अ > > वरुन (भविष्य की बातें)

तमिळ् के भूत कृदंतों एवं आख्यात प्रत्ययों के बीचवाले उद्वृत्त स्वरों के मध्य में 'मुख-सुख' के लिये 'न' का आगम होता है—

<काट्टि> + <एन> = <काट्टिनेन> (मैंने दिखाया)

<काट्टि> + <अ> = <काट्टिन > (जो दिखाया)

दस से बीस तक के द्राविड़ भाषाओं के संख्यावाचक शब्द संयुक्त शब्द हैं। 'दस' अर्थक <पत्तु> शब्द में छः अर्थक आरु जोड़ने से 'सोलह' अर्थक पदिनारु शब्द निकलता है। इस प्रकार के संयुक्त शब्दों में मुखसुख के लिये बीच में 'न्' का उच्चारण होता है।

उदा०—

तमिळ्	कन्नड	कूर्गी
पदि (न्) ऐन्दु (१५)	हदिनैदु	पदुनञ्जे
पदि (न्) आरु (१६)	हदिनारु	पदुनारु
पदि (न्) एरु (१७)	हदिनेळु	पदुनेळु

तुळु भाषा के पद (न) आ र्म्वं (१८) शब्द में 'ना' 'मुख-सुख' के लिये आया है।

मलयाळम् भाषा में यही 'न' कहीं कहीं 'न्' हो जाता है। जैसे—

इळै (जवानी) + अम् = इळैवन् (जवान) तमिळ्—मलयाळम् के कुछ कवियों द्वारा प्रयुक्त "मनार" (भविष्यत् क्रिया) भी 'म + (न्) + आर' ही है आजकल इसीसे कन्नड का एन्नुवरु (वे कहेंगे) निकला है।

प्राचीन द्राविड़ भाषाओं में उद्वृत्त स्वरों के बीच आनेवाले 'न्' का ही रूप पीछे (आर्यावर्त के प्राकृतकाल में) कहीं कहीं अनुस्वार या वर्गीय नासिक (Class Nasals) में परिवर्त्तित हो गया जो विकल्प से आजकल भी गाँवों में बोला जाता है परंतु लिखित भाषाओं में लुप्त हो गया है।

प्राचीन कन्नड (काव्यों में उपलब्ध)	आधुनिक बोलचाल की कन्नड	लिखित कन्नड
एरंके (-पक्षी के पंख रा. १३)	'रेङ्क', या 'रेक'	रेक [रेंके भी]
बदुंकु (-जीना रा. ४७)	बदुकु	बदुकु
करुंबि (ईर्ष्या से जलना-रा. ६३)	करुबि	करुबि
नोंपि (दर्द, रा. ५१)	नोंउ, नोंवुं	नोवु
बेंटे (आखेट) (जै. २–५४)	बेंटे	बेटे
शास्त्रंगळु (-शास्त्र ब०) (जै. २–२०)	शास्तर गोळु	शास्त्र गळु
पोरवंटनु (निकला)	ओंटु	होरडनु
	हंगे (वैसा)	हागे
(तृतीय पुरुष पुल्लिंग एकवचन)	(ऐसा) हिंगे, इत्यादि	हीगे

मेरी समझ में द्राविड़ भाषाओं में मुखसुख के लिये उद्वृत्त स्वरों के बीच आनेवाले 'न' के ही कारण पीछे अनुस्वार या नासिक्य उच्चारण की प्रचुरता हुई जिसके प्रभाव से (श्रुति-माधुर्य एवं अनुकरण से) द्राविड़ों के संपर्क में आए हुए आर्य, या आर्य भाषाओं को अपनाए हुए द्राविड़ कुछ शब्दों में अकारण ही अनुनासिक उच्चारण करने लगे।

---

(१५) अलेक्जेंडर की भारत में पराजय और दुर्गति

[लेखक--प्रोफेसर हरिश्चंद्र सेठ, एम०, ए०, पी-एच० डी०, अमरावती]

परशिया पर विजय प्राप्त करने के पश्चात् अलेक्जेंडर भारतवर्ष की ओर बढ़ा। इस देश में सबसे पहले उसको हिंदुकुश और सिंधु के प्रदेश में युद्ध करने पड़े। उस समय इस प्रदेश में अश्वक और अन्य वीर क्षत्रिय जातियाँ रहती थीं। अलेक्जेंडर का उनसे लगभग नौ महीने घमासान युद्ध हुआ। इस प्रदेश में अलेक्जेंडर ने हूणों के समान घोर अत्याचार किए। कई बड़े बड़े नगर बिलकुल जलवा डाले और कई स्थानों पर स्त्री बच्चों सहित जनता का वध किया। कहा जाता है कि इस स्थान से कई लाख बैल भी पकड़कर अलेक्जेंडर ने ग्रीस को भेजे। अलेक्जेंडर के इन अत्याचारों से यहाँ की सब प्रजा उसके विरुद्ध बिगड़ पड़ी और यहाँ से एक एक इंच आगे बढ़ने को अलेक्जेंडर को कठिन लड़ाइयाँ लड़नी पड़ीं। इस प्रदेश में अंतिम लड़ाई सिन्ध के समीप आरनस नामक शक्तिशाली किले पर हुई। इस स्थान पर भी क्षत्रिय लोग अलेक्जेंडर की अगणित सेना के सामने न टिक सके। वहाँ से क्षत्रिय लोग बालबच्चों सहित जंगलों में भाग गये। परन्तु जैसा कि **कर्टियस नामक पुराना इतिहासकार लिखता है कि हालां कि अलेक्जेंडर ने यह स्थान जीत लिया पर उसके शत्रु अपराजित ही रहे।**

आर्नस की अलेक्जेंडर के भारतीय युद्धों में बहुत महत्ता थी। यही स्थान उत्तर पश्चिमीय कोने से सिन्धु के इस पार आन-जाने के रास्ते को रोकता था। इस स्थान को अधिकार में लाने के पश्चात् अलेक्जेंडर ने उसको शशिगुप्त के अधिकार में कर दिया।

एरियन नामक पुराना इतिहासकार शशिगुप्त को अश्वकों का क्षत्रप कहता है; जिससे विदित होता है, कि शशिगुप्त हिंदुकुश और सिंध के बीच के किसी राज्य घराने का ही होगा। अलेक्जेंडर की प्राय: ऐसी रीति ही थी कि जिस प्रदेश को वह जीतता था वहाँ के हारे हुए स्वयं राजा को या वहाँ के राजघराने के और किसी प्रभावशाली पुरुष को वहाँ का अधिकारी बना देता था। इसी रीति से उसे अपने अधिकार में लाए हुए प्रदेशों से सहानुभूति और आगे बढ़ने के लिये सहायता मिल सकती थी। शशिगुप्त के अतिरिक्त अलेक्जेंडर ने निकेनोर नाम के अपने एक विश्वसनीय सेनापति को भी हिंदुकुश और सिंध के प्रदेश में छोड़ा। अलेक्जेंडर के सिंध पार करने के बाद इस प्रदेश में जो घटनाएँ घटीं उनमें इन दो व्यक्तियों ने क्या किया, यह जानना आवश्यक होगा। इन बातों का पूरा परिचय देने के पहले हम अलेक्जेंडर के सिन्ध के इस पार के युद्धों पर नीचे संक्षेप में विचार करते हैं।

सिंध के इस पार तक्षशिला के नरेश आंभी ने अलेक्जेंडर को अपना सम्राट् स्वीकार कर लिया और वह अपने पड़ोसी शक्तिशाली पोरस के विरुद्ध उसे सहायता देने को तैयार हो गया। ऐसा मालूम होता है कि आंभी ने पोरस के प्रति ईर्ष्या के कारण ही स्वतंत्रता और देश के विरुद्ध यह आचरण किया। अलेक्जेंडर ने इस देश-द्रोह के बदले में आंभी को परशिया से लूटे हुए इतने सोने-चाँदी के सामान दिए कि उसके बहुत से सेनापति भी इस बात पर उससे नाराज हो गए। आंभी ने भी अलेक्जेंडर और उसकी सारी सेना का अच्छा स्वागत किया।

अलेक्जेंडर ने पोरस को भी अपना अधिपति स्वीकार करने की खबर भेजी और उसे स्वयं आने को लिखा। उत्तर में पोरस ने कहला भेजा कि वह अलेक्जेंडर से मिलेगा तो अवश्य, पर रणक्षेत्र

में ही। उधर दक्षिण कश्मीर या अभिसार का नरेश पोरस का पक्षपाती था, पहले भी तक्षशिला को पोरस और अभिसार-नरेश अलेक्जेंडर के विरुद्ध पोरस की सहायता करने की तैयारी करने लगा था। पर उस ओर अलेक्जेंडर के भेजे हुए दूत को भी उसने रोक रखा और साथ ही अलेक्जेंडर को कुछ भेंटें भेजीं। अलेक्जेंडर को पता लग गया कि वास्तव में वह पोरस की सहायता करना चाहता है। इस कारण उसने और आंभी ने मिलकर शीघ्रतापूर्वक पोरस पर चढ़ाई कर दी। अभिसार की सेना पोरस की सहायता के लिये आ सकी, इसके पहले ही अलेक्जेंडर झेलम नदी के किनारे पोरस की सेना के विरुद्ध आ डटा।

जैसा कि पुराने इतिहासकार प्लुटार्क के लेखों से पता चलता है, अलेक्जेंडर की सेना पोरस की सेना से संख्या में छः गुनी से भी अधिक थी। पोरस की सेना में २०,००० पैदल और २००० घोड़े थे और अलेक्जेंडर की सेना में १२०,००० पैदल और १५००० घोड़े थे। आधुनिक पश्चिमी इतिहासकारों ने यह मान लिया है कि झेलम नदी पर पोरस की हार हुई। इस बात का बड़ा खेद है कि भारतवर्ष के पुराने साहित्य में इस लड़ाई का या पोरस जैसे वीर का बिलकुल पता नहीं है। परंतु पश्चिमी पुराने इतिहासकारों के लेखों को ध्यानपूर्वक पढ़ने से संदेह होता है कि उस युद्ध में अलेक्जेंडर की हार न भी हुई तो पूर्ण विजय भी नहीं हुई, और अलेक्जेंडर और पोरस के बीच संभवतः संधि हो गई। इस प्रकार एक ही ओर के उलटे सीधे वृत्तांत से यह कहना कि झेलम के युद्ध में किसकी हार या जीत रही, बहुत कठिन है। परंतु बाद की बातों से तो यही प्रकट होता है कि वास्तव में पोरस ही की जीत रही। पोरस को अलेक्जेंडर ने स्वतंत्र सम्राट् मानकर उससे मैत्री की और बाद के युद्धों में

व्यास तक जो प्रदेश इन दोनों ने जीते वह पोरस के राज्य में मिलाए गए।

ऐसा विदित होता है कि झेलम नदी की लड़ाई के बाद तक्षशिला की और अलेक्जेंडर की मैत्री टूट गई। उसका कारण भी स्पष्ट है। तक्षशिलानरेश को सदा से पोरस का भय था, और अब पोरस की शक्ति और भी बढ़ गई। झेलम से लेकर व्यास तक उसी का एकछत्र राज्य हो गया। झेलम नदी के युद्ध के पश्चात् अभिसार-नरेश ने भी अलेक्जेंडर के दूत को कुछ और भेंटें देकर वापिस कर दिया। परंतु उसके स्वयं न आने पर अलेक्जेंडर ने कहला भेजा कि यदि वह शीघ्र स्वयं न आया तो वह उसके राज्य पर आक्रमण करेगा। अभिसार-नरेश ने इसकी तनिक भी चिंता न की और वह स्वयं न आया। किन कारणों से अभिसार ने यह स्वतंत्र पथ ग्रहण किया, इसकी चर्चा हम आगे करेंगे।

इतिहास के सब पाठकों को यह विदित है कि व्यास नदी के किनारे अलेक्जेंडर की विजयी सेना ने हथियार डाल दिए। अलेक्जेंडर ने उनको बहुत प्रलोभन दिया और सेना के आगे बहुत रोया झींका पर सेना के कानों में जूँ न चली और आगे बढ़ने को उसने साफ इनकार कर दिया। अलेक्जेंडर ने दो-तीन दिन तक आग्रह किया। पर सारी ग्रीक-सेना में मातम छा गया और उसने रोना-पीटना शुरू कर दिया। कहा जाता है कि हताश होकर अलेक्जेंडर ने पीछे लौटने की आज्ञा दी। परंतु बदले में उसने इस निरुत्साहित सेना को सिंध नदी के किनारे के प्रदेश को जीत-कर समुद्र द्वारा परशिया ले जाना निश्चित किया। अलेक्जेंडर और उसकी सेना को यह मालूम था कि जैसे ही वह अपने मित्र पोरस के राज्य से बाहर निकलेंगे कि दक्षिण पंजाब और सिंध की

क्षत्रिय जातियों से पुनः घोर संग्राम छिड़ेगा। फिर जान-बूझकर ग्रीक सेना ने अपने विजय किए हुए प्रदेशों के द्वारा जाना छोड़कर पुनः अग्नि में कूदना क्यों स्वीकार किया—जिसमें, जैसा कि हम आगे बतलाएँगे, करीब करीब सारी ग्रीक-सेना नष्ट हो गई और स्वयं अलेक्जेंडर के प्राण कठिनाई से बचे। पश्चिमी इतिहासकार इसका कारण यह बतलाते हैं कि नए नए देशों को जीतने की अलेक्जेंडर की लालसा अभी पूरी नहीं हुई थी। वह समस्त संसार को विजय करना चाहता था। ऐसी बातों को पढ़कर हँसी को रोकना कठिन हो जाता है। उस समय के ग्रीक और रोमन लिखित इतिहास को ही, जिसमें अलेक्जेंडर का चित्र झूठमूठ बहुत बढ़ाकर खींचा है, ठीक ठीक पढ़ने से मालूम होता है कि नाशकारी सिंध द्वारा समुद्र से जाने का पथ जो अलेक्जेंडर ने लिया उसके कारण और ही थे।

व्यास नदी के तट पर अलेक्जेंडर की सेना के पहुँचने के पूर्व ही सिंधु के उस पार अश्वक जाति अलेक्जेंडर के विरुद्ध पुनः उठ खड़ी हुई और निकानोर को मार डाला। लिखा है कि शशिगुप्त ने पंजाब में दूत पर दूत भेजे। पता नहीं किसके? शशिगुप्त जैसा पुरुष, जो अलेक्जेंडर के विरुद्ध परिशिया तक लड़ने गया था, अलेक्जेंडर से पुनः बल परिचय का अवसर कब छोड़नेवाला था। अनुमान होता है कि वही बलवाइयों का अगुआ हो गया। तक्ष-शिला-नरेश आंभी भी और नहीं तो पोरस के प्रति, जो अब अलेक्जेंडर का मित्र हो गया था, ईर्ष्या के ही कारण संभवतः बलवाइयों के साथ हो गए और अभिसार-नरेश तो पहले ही से अश्वकों की सहायता कर रहे थे। यही कारण था कि अलेक्जेंडर के बुलाने की उन्होंने तनिक भी परवा न की। इस प्रकार एक नाशकारी बादल के समान अलेक्जेंडर के पीठपीछे यह दल उठने

लगा। ग्रीक-सेना के तो पोरस की थोड़ी ही सी सेना ने छक्के छुड़ा दिये थे। वह क्या इस भयंकर दल का सामना कर सकती थी? यही कारण था कि व्यास नदी के तट से सहसा ग्रीक विजयी सेना पीछे भाग गई और जब उसने उत्तर-पश्चिमीय द्वार इस प्रकार बन्द पाया तो सिन्धु से समुद्र द्वारा भागना निश्चित किया। भारत से जिंदा लौटने का उनको यही रास्ता नजर आया। कहा जाता है कि अश्वकों का यह बलवा आस-पास के ग्रीक और परशियन, जो स्वयं अलेक्जेंडर से खार खाए बैठे थे, सैनिकों ने दबा दिया। क्या यह सम्भव था कि जिस जाति को दबाने में स्वयं अलेक्जेंडर और उसकी अधिकांश सेना को लगभग नौ महीने लगे, वह उसके घोर अत्याचारों के पश्चात् पुनः उठने पर इतनी सुगमता से दब सकती थी! यदि इतिहास के स्थान पर कहानी लिखनी है तो कुछ भी कहा जा सकता है।

व्यास से शीघ्रतापूर्वक अलेक्जेंडर झेलम के तट पर लौटकर आया और वहाँ बाँस-बल्लियों का नाव का एक बेड़ा तैयार कराकर उसने समुद्र की ओर यात्रा शुरू की। व्यास और चिनाब के सङ्गम की भँवरों में ये नावें डूबने लगीं। वह नाव भी, जिसमें स्वयं अलेक्जेंडर था, कठिनता से डूबते डूबते बची। बड़ी मुशकिल से भँवरों से बेड़ा पार हुआ। इस संगम के पार करते ही मल्लोई जाति से घोर संग्राम हुआ। ग्रीक सेना बिलकुल निरुत्साह थी। एक स्थान पर अलेक्जेंडर स्वयं उसको उत्साहित करने के लिये आगे बढ़ा और किले की दीवार पर चढ़ गया। इतने में सीढ़ी टूट गई। प्लूटार्क ने इस घटना का यह वर्णन लिखा है—"दीवाल पर खड़े रहने में भय था कि अलेक्जेंडर के टुकडे टुकड़े हो जायँ। इस भय से वह नीचे कूद पड़ा। शत्रुओं ने उसे चारों ओर से घेर लिया। चारों ओर से उस पर तलवार और भालों की मार

पड़ने लगी। इतने ही में एक भारतीय सैनिक ने एक तीर मारा, जो उसके हृदय के पास छेद करके घुस गया। इससे वह बेहोश होकर गिरने लगा। इतने में कुछ सैनिकों ने उसको गदा से मारना शुरू किया।" पुराने इतिहासकार जसटिन को भी संदेह है कि इन चोटों के बाद अलेक्जेंडर कैसे जिंदा रहा! तत्पश्चात् किले की दीवार तोड़कर अन्य सैनिक अंदर आये और बेहोश अलेक्जेंडर को उठा ले गए। इस घटना से रोषित होकर ग्रीक सेना पागल सी होकर वहाँ की साधारण जनता के ऊपर टूट पड़ी और हजारों निःशस्त्र स्त्री-पुरुषों तथा बच्चों को उसने मार डाला।

सिंध में घुसने के पश्चात जो खून और हत्याकांड अलेक्जेंडर और ग्रीक सेना ने किया वह संसार के इतिहास में अद्वितीय है। सारा सिंध ब्राह्मणों के प्रभाव से अलेक्जेंडर के विरुद्ध हो गया। स्थान स्थान पर हजारों ब्राह्मणों को मरवाकर उसने उनके मृतक शरीरों को सड़कों के किनारे टँगवा दिया। नगरों का नाश करना और निःशस्त्र पुरुषों, स्त्रियों और बच्चों को मारना ग्रीक-सेना का मुख्य कर्त्तव्य रह गया। जब वह पाताल नगर में पहुँचा, जहाँ सिंधु समुद्र में मिलने से पूर्व विभाजित होती थी, उसने सारा नगर शून्य पाया। खाने-पीने की सामग्री भी न थी। वहाँ थोड़े दिवस रुककर बड़ी कठिनाई से उसने कुछ और नावें तैयार कीं। सितंबर ३२५ बी० सी० में बाँस-बल्लियों का बेड़ा समुद्र-तट पर पहुँचा। वह पहुँचते ही मानसून की बाढ़ में डोंगियाँ पटापट टूटने लगीं। अलेक्जेंडर घबरा कर डोंगियों के बेड़े को अपने विश्वासी सेनापति निआरकस के सिपुर्द कर पीछे पाताल देश को लौटा। अब क्या करे? पीछे जाना असंभव था। वह फिलिप नामी अपने एक बंधु को पंजाब का क्षत्रप बनाकर छोड़ आया था; इस बीच में वह भी मार डाला गया। बलोचिस्तान के मकरान नामी रेगिस्तान

का ही द्वार खुला दृष्टि-गोचर हुआ। अलेक्जेंडर अपनी सेना ले उधर से ही भाग खड़ा हुआ।

पाश्चात्य इतिहासकारों ने भी अलेक्जेंडर के रेगिस्तान द्वारा जाने के बड़े हास्यपूर्ण कारण बताये हैं। वे कहते हैं, उसके इस रेगिस्तान पर विजय प्राप्त करने की लालसा और बाकी रह गई थी। विशेषकर उसकी यह लालसा और भी प्रज्वलित हो गई थी, क्योंकि उसने सुन रक्खा था कि उस रेगिस्तान को कोई पार न कर सका था। आश्चर्य है कि आज तक इतिहासकार इन बच्चों की सी बातों पर विश्वास करते हैं।

मकरान के रेगिस्तान में अलेक्जेंडर और उसकी सेना की क्या दुर्गति हुई, यह एरियन आदि सभी पुराने ग्रीक और रोमन इतिहासकारों ने विस्तार-पूर्वक लिखा है। उसका संक्षिप्त वर्णन यह है—पाताल छोड़ने के पश्चात् आरती नामी जाति से उसका घमासान युद्ध हुआ। उनको दमन करके उसने अपालोफेनिस नाम का क्षत्रप वहाँ छोड़ा। उसके पीछे वहाँ के लोगों ने अपालो-फेनिस को मार डाला, जिससे रसद का जाना बंद हो गया। मकरान के रेगिस्तान में घुसने के बाद न खाना मिला, न पानी। घोड़े आदि जानवर पहले तो मरने लगे। सेना उन्हीं को खाती थी। आगे चलकर हजारों प्यास और भूख से मरने लगे। ज्वरादि बीमारियों ने भी अपना काम शुरू कर दिया। वहाँ की जातियाँ भी छिप छिपकर विष से बुझे तीर, भागते ग्रीक सैनिकों को मारने लगीं। जितनी लूट ग्रीक सैनिकों ने इकट्ठी की थी वह सब यहाँ छोड़नी पड़ी।

एक दिन बाढ़ आने से अलेक्जेंडर का भी सारा सामान बह गया। उस रेगिस्तान में एक विषैला वृक्ष होता था। सैनिक और कुछ न मिलने पर उसही को खाते थे और शीघ्र वहीं मृतक

होकर गिर पड़ते थे। हजारों रास्ते ही में थक जलती रेत में लोटकर अपने प्राण त्यागते थे। उनके साथी मुँह मोड़कर भी उनकी ओर न देखते। जहाँ कहीं थोड़ा सा पानी मिलता भी तो हजारों इतना पी जाते कि सदा के लिये वहीं पड़ जाते। इस प्रकार दो-तीन महीने में रेगिस्तान पार कर अलेक्जेंडर परशिया की सीमा पर पहुँचा। उस रेगिस्तान में कितनी सेना नष्ट हुई इसका अनुमान करना कठिन है। कई पुराने इतिहासकार कहते हैं कि उसकी आधी से भी अधिक सेना यहाँ नष्ट हो गई।

उस ओर निआरकस, सिंध देश की जातियों के आक्रमण के कारण मानसून की बाढ़ में ही, अपना डोंगियों का बेड़ा लेकर रवाना हुआ। उसके पास भी ताजा पानी और खाने का सामान न था। स्थान स्थान पर, जहाँ वह रसद इकट्ठी करने को रुकते, तो घोर युद्ध होता। हिंगोल पर तो, जैसा कि एक पुराने इतिहासकार ने लिखा है, ग्रीक लोग वहाँ की जातियों के आक्रमण के कारण कूद कूदकर, समुद्र की लहरों पर बैठकर अपने घर चल दिये। बाँस-बल्लियों की कितनी डोंगियाँ मानसून की बाढ़ में बची होंगी, इसका कहना बिलकुल ही असंभव है। वैसे तो कहानी बना रखी है कि डोंगियों का सारा बेड़ा निआरकस पार कर ले गया। पर एक पुराने इतिहासकार ने लिखा है कि जब निआरकस अलेक्जेंडर के सामने आया, उसके कपड़े इतने चिथड़े हो गये थे और भूखों-प्यासों उसकी ऐसी दशा थी कि अलेक्जेंडर उसको न पहिचान सका और जब उसने कहा भी कि मैं निआरकस हूँ, तो अलेक्जेंडर को विश्वास न आया।

इस प्रकार भारत में अलेक्जेंडर के संसार-विजय के स्वप्न छिन्न-भिन्न हो गए। उसकी बहुत सी सेना नष्ट हो गई। यहाँ से लौटने के थोड़े दिन पश्चात् उसका स्वर्गवास ही हो गया। यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो अलेक्जेंडर का संसार के इतिहास में

बहुत तुच्छ पद रहेगा। हूण के समान उसकी क्रूर वृत्ति थी। केवल परशिया के साम्राज्य में वह लुटेरे के समान कुछ वर्ष घूमता रहा। उस बड़े साम्राज्य को वह एक दिन भी अपने हाथ में पूरी तरह न रख सका। भारत के आक्रमण में उसकी क्या दुर्गति हुई, यह हम ऊपर कह ही चुके हैं। अलेक्जेंडर का जीवन यह भली भाँति प्रकट करता है कि केवल लूट-मार और खून-खच्चर से एक बड़े साम्राज्य की नींव नहीं पड़ती।

इस स्थान पर हमको एक और प्रश्न उठाने की बड़ी इच्छा होती है। ऊपर के वर्णन से यह बात विदित है कि सारा उत्तर-पश्चिमी भारत, पंजाब और सिंध अलेक्जेंडर के विरुद्ध हो गया। स्वतंत्रता के इस कठोर संग्राम में क्या कोई ऐसा एक व्यक्ति था जो कमर कसकर अलेक्जेंडर के पीछे पड़ गया था और स्थान स्थान पर उसने अलेक्जेंडर के विरुद्ध लोगों को भड़काया या लोग वैसे ही उसके विरुद्ध खड़े हो गए। इस विषय पर जो हमारे मत हैं, उनको हम यदि विस्तारपूर्वक यहाँ प्रकट करें तो यह लेख बहुत लंबा हो जायगा। पर अलेक्जेंडर के भारत के आक्रमण से इन विचारों का इतना घनिष्ठ संबंध है कि उसका बीज रूप में यहाँ प्रकट करना अनुचित न होगा।

इस समय के भारत के इतिहास को ठीक ठीक समझने के लिये दो बातें अति आवश्यक हैं। पहली यह कि इस समय उत्तर पश्चिमीय भारत ही हिंदू-सभ्यता का केंद्र था। यहीं पर पाणिनि जैसे विद्वान् इस समय हुए थे। तक्षशिला विद्यापीठ में न केवल भारत के अन्य प्रांतों से ही परंतु उस समय के समस्त सभ्य संसार से यहाँ विद्यार्थी पढ़ने आते थे। जो देश अब अफगानिस्तान कहलाता है वह उन्नति के शिखर पर पहुँचे हुए गांधार देश का एक भाग था और क्षत्रियवंशी राजा वहाँ शासन करते थे।

दूसरी बात जो हम सिद्ध करने का प्रयत्न कर रहे हैं, वह यह है कि चंद्रगुप्त मौर्य मगध देश का नहीं था। परंतु वह उत्तर-पश्चिमीय भारत का था और संभवतः वह और शशिगुप्त एक ही व्यक्ति हैं*। शशिगुप्त और चंद्रगुप्त पर्य्यायवाची शब्द हैं। बहुधा चंद्र के स्थान पर शशि या इंदु लगा दिया जाता है। अगर हमारा यह मत ठीक है तो चंद्रगुप्त ही भारत में अलेक्जेंडर के पीछे पड़ा और उसी ने उसकी शक्ति का नाश करके उसको यहाँ से भगाकर छोड़ा। तत्पश्चात् उत्तर पश्चिमीय भारत, पंजाब और सिंध को अपने वस और साथ कर के ही उसने मगध पर चढ़ाई की और पचीस वर्ष की आयु में वह समस्त भारत का सम्राट् बन गया। सेल्युकस, जो अलेक्जेंडर का एक सेनापति था, सीरिया का राजा बन बैठा और उसने पुनः भारत पर आक्रमण करना चाहा। चंद्रगुप्त ने उसे बुरी तरह हराया और पूर्व-परशिया का बहुत सा हिस्सा अपने साम्राज्य में मिला लिया। सेल्युकस के हारने के पश्चात् यदि चंद्रगुप्त परशिया की ओर बढ़ता तो कोई शक्ति न रह गई थी जो उसको रोक सकती और वह डेरियस के पश्चात् परशिया के बड़े साम्राज्य का अधिकारी होता और संभवतः ग्रीस तक उसका हाथ पहुँचता। पर उसका ध्यान और पूरी शक्ति भारत में एक महान् साम्राज्य स्थापित करने की ओर झुक गई। यह बड़ा साम्राज्य उसने और चाणक्य ने मिलकर ऐसा संगठित किया कि कई पीढ़ियों तक मौर्यवंश का समस्त भारत पर अनुल्लंघनीय शासन रहा। भारतवर्ष क्या संसार के इतिहास में चंद्रगुप्त एक महान् पुरुष हुआ है। प्राचीन लिखित मंजुश्री मूलकल्प में उसको ठीक ही—"महायोगी सत्यसंधश्च धर्मात्मा स महीपतिः" कहा है।

(१) इस विषय पर हमारा मत विस्तारपूर्वक Annals of Bhandarkar Institute के जूलाई महीने के अंक में प्रकट हो रहा है।

बहुत तुच्छ पद रहेगा। हूण के समान उसकी क्रूर वृत्ति थी। केवल परशिया के साम्राज्य में वह लुटेरे के समान कुछ वर्ष घूमता रहा। उस बड़े साम्राज्य को वह एक दिन भी अपने हाथ में पूरी तरह न रख सका। भारत के आक्रमण में उसकी क्या दुर्गति हुई, यह हम ऊपर कह ही चुके हैं। अलेक्जेंडर का जीवन यह भली भाँति प्रकट करता है कि केवल लूट-मार और खून-खच्चर से एक बड़े साम्राज्य की नींव नहीं पड़ती।

इस स्थान पर हमको एक और प्रश्न उठाने की बड़ी इच्छा होती है। ऊपर के वर्णन से यह बात विदित है कि सारा उत्तर-पश्चिमी भारत, पंजाब और सिंध अलेक्जेंडर के विरुद्ध हो गया। स्वतंत्रता के इस कठोर संग्राम में क्या कोई ऐसा एक व्यक्ति था जो कमर कसकर अलेक्जेंडर के पीछे पड़ गया था और स्थान स्थान पर उसने अलेक्जेंडर के विरुद्ध लोगों को भड़काया या लोग वैसे ही उसके विरुद्ध खड़े हो गए। इस विषय पर जो हमारे मत हैं, उनको हम यदि विस्तारपूर्वक यहाँ प्रकट करें तो यह लेख बहुत लंबा हो जायगा। पर अलेक्जेंडर के भारत के आक्रमण से इन विचारों का इतना घनिष्ठ संबंध है कि उसका बीज रूप में यहाँ प्रकट करना अनुचित न होगा।

इस समय के भारत के इतिहास को ठीक ठीक समझने के लिये दो बातें अति आवश्यक हैं। पहली यह कि इस समय उत्तर पश्चिमीय भारत ही हिंदू-सभ्यता का केंद्र था। यहीं पर पाणिनि जैसे विद्वान् इस समय हुए थे। तक्षशिला विद्यापीठ में न केवल भारत के अन्य प्रांतों से ही परंतु उस समय के समस्त सभ्य संसार से यहाँ विद्यार्थी पढ़ने आते थे। जो देश अब अफगानिस्तान कहलाता है वह उन्नति के शिखर पर पहुँचे हुए गांधार देश का एक भाग था और क्षत्रियवंशी राजा वहाँ शासन करते थे।

दूसरी बात जो हम सिद्ध करने का प्रयत्न कर रहे हैं, वह यह है कि चंद्रगुप्त मौर्य मगध देश का नहीं था। परंतु वह उत्तर-पश्चिमीय भारत का था और संभवतः वह और शशिगुप्त एक ही व्यक्ति हैं*। शशिगुप्त और चंद्रगुप्त पर्यायवाची शब्द हैं। बहुधा चंद्र के स्थान पर शशि या इंदु लगा दिया जाता है। अगर हमारा यह मत ठीक है तो चंद्रगुप्त ही भारत में अलेक्जेंडर के पीछे पड़ा और उसी ने उसकी शक्ति का नाश करके उसको यहाँ से भगाकर छोड़ा। तत्पश्चात् उत्तर पश्चिमीय भारत, पंजाब और सिंध को अपने वस और साथ कर के ही उसने मगध पर चढ़ाई की और पचीस वर्ष की आयु में वह समस्त भारत का सम्राट् बन गया। सेल्युकस, जो अलेक्जेंडर का एक सेनापति था, सीरिया का राजा बन बैठा और उसने पुनः भारत पर आक्रमण करना चाहा। चंद्रगुप्त ने उसे बुरी तरह हराया और पूर्व-परशिया का बहुत सा हिस्सा अपने साम्राज्य में मिला लिया। सेल्युकस के हारने के पश्चात् यदि चंद्रगुप्त परशिया की ओर बढ़ता तो कोई शक्ति न रह गई थी जो उसको रोक सकती और वह डेरियस के पश्चात् परशिया के बड़े साम्राज्य का अधिकारी होता और संभवतः ग्रीस तक उसका हाथ पहुँचता। पर उसका ध्यान और पूरी शक्ति भारत में एक महान् साम्राज्य स्थापित करने की ओर झुक गई। यह बड़ा साम्राज्य उसने और चाणक्य ने मिलकर ऐसा संगठित किया कि कई पीढ़ियों तक मौर्यवंश का समस्त भारत पर अनुल्लंघनीय शासन रहा। भारतवर्ष क्या संसार के इतिहास में चंद्रगुप्त एक महान् पुरुष हुआ है। प्राचीन लिखित मंजुश्री मूलकल्प में उसको ठीक ही—"महायोगी सत्यसंधश्च धर्मात्मा स महीपतिः" कहा है।

(१) इस विषय पर हमारा मत विस्तारपूर्वक Annals of Bhandarkar Institute के जूलाई महीने के अंक में प्रकट हो रहा है।

नागरीप्रचारिणी पत्रिका के प्रथम १८ भागों के लेखों की अनुक्रमणिका

प्राचीन भारत के न्यायालय। ले०—श्री वृंदावनदास बी० ए०, एल-एल बी०। भाग १४ पृष्ठ ३७७।

प्राचीन भारत में स्त्रियाँ। ले०—कुमारी रामप्यारी शास्त्री बी० ए०। भाग १५ पृष्ठ १२९।

प्राचीन शल्य तंत्र। ले०—कविराज अत्रिदेव गुप्त बी० ए०, भिषग्रत्न। भाग ८ पृष्ठ १, १५५।

प्रेमनिधि। ले०—पं० नारायण शास्त्री खिस्ते साहित्याचार्य। भाग ६ पृष्ठ ३७१।

प्रेमरंग तथा आभास रामायण। ले०—बाबू व्रजरत्नदास बी० ए०, एल-एल० बी०। भाग १३ पृष्ठ ४०९।

फारसी भाषा का एक ऐतिहासिक गद्यपद्यमय काव्य। ले०—बाबू व्रजरत्नदास। बी० ए०, एल-एल० बी०, भाग ५ पृष्ठ ५७।

बनारसी बोली का तुलनात्मक तथा ऐतिहासिक व्याकरण। ले०—पं० वाचस्पति उपाध्याय एम० ए०। भाग १७ पृष्ठ १२३।

बाजबहादुर और रूपमती (सचित्र)। ले०—मुं० देवीप्रसाद। भाग ३ पृष्ठ १६५।

बाली द्वीप में हिंदू वैभव। ले०—डा० हीरानंद शास्त्री एम० ए०। भाग १० पृष्ठ ४०७।

बिहारी सतसई की प्रतापचंद्रिका टीका। ले०—पुरोहित हरिनारायण शर्मा बी० ए०। भाग १० पृष्ठ ३२३।

बिहारी सतसई संबंधी साहित्य। ले०—बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर बी० ए०। भाग ९ पृष्ठ ५९, १२१, ३२९। भाग १० पृष्ठ ४७३।

बुंदेलखंड का संक्षिप्त इतिहास। ले०—पं० गोरेलाल तिवारी। भाग १२ पृष्ठ ३२१। भाग १३ पृष्ठ ६५, ३४१।

हिंदी साहित्य में बिहारी। ले०—पंडित ललिताप्रसाद सुकुल एम० ए०। भाग ८ पृष्ठ ४२१।

हिंदुस्तान की वर्तमान बोलियों के विभाग और उनका प्राचीन जनपदों से सादृश्य। ले०—श्री धीरेंद्र वर्मा एम० ए०। भाग ३ पृष्ठ ३७९।

हुमायूँ के विरुद्ध षड्यंत्र। ले०—पं० रामशंकर अवस्थी बी० ए०। भाग १५ पृष्ठ २३९।

रत्नाकर

ब्रजभाषा के अंतिम उद्भट आचार्य परलोकवासी श्रीयुत बाबू जगन्नाथ-दासजी "रत्नाकर" के काव्य-ग्रंथों तथा स्फुट कविताओं का एकमात्र प्रामाणिक एवं उत्कृष्ट संग्रह, उनकी प्रथम वार्षिक जयंती के अवसर पर सभा द्वारा प्रकाशित किया गया। हिंदी के प्रेमियों, विशेषतः ब्रजभाषा के प्रेमियों के लिये यह पुस्तक अवश्य संग्रहणीय है। राजसंस्करण का मूल्य ८) रु० तथा साधारण संस्करण का ७) रु०।

अन्य उपयोगी पुस्तकें

प्राचीन मुद्रा—मुद्रातत्त्व के संबंध में गवेषणा और विचार पूर्ण ग्रंथ मू० २)
मौर्यकालीन भारत ... ... मू० २)
मआसिरुल उमरा—मुग़ल दर्बार के सर्दारों की जीवनियाँ ... मू० ४)
बुंदेलखंड का इतिहास ... ... मू० ३)
करुणा—ऐतिहासिक घटनाओं से पूर्ण एक उपन्यास ... मू० ३)
शशांक—मनोहर ऐतहासिक उपन्यास ... ... मू० २)
मुद्राशास्त्र—मुद्राशास्त्र संबंधी पहलो और अपूर्व ग्रंथ ... मू० २)
अकबरी दर्बार (३ भागों में)—बादशाह, अमीरों और दर्बारियों का पूरा वर्णन ... मू० ८)
पाश्चात्य दर्शनों का इतिहास ... ... मू० २)
हिंदी गद्य-शैली का विकास ... ... मू० २)
ढोला-मारू रा दूहा ... ... मू० ४)
वैज्ञानिक शब्दावली (सजिल्द, पुराना संस्करण) ... मू० ३)

नवीन पुस्तकें

१. त्रिवेणी—पं० रामचंद्र शुक्ल के समालोचनात्मक तीन प्रबंधों के विशिष्ट अंशों का संग्रह। १)

२. बाँकीदास-ग्रंथावली (तीसरा भाग)—मू० १।)

३. रसगंगाधर, (दूसरा भाग)—मू० ३॥)

४. अंधकार युगीन भारत—मू० ३॥)

५. दिल्ली प्रांत में हस्तलिखित पुस्तकों की खोज—अँगरेजी में, छप रही है।

केवल १६ जुलाई १९३८ तक के लिये

काशी नागरीप्रचारिणी सभा की पुस्तकों के मूल्य में

५० से ७५ प्रति सै० तक रिआयत

पूरा सेट मँगानेवालों को

५ प्रति सै० अधिक कमीशन

५ रु० के आर्डर पर चार पुस्तकें मुफ्त

पुस्तक	मूल्य		घटा हुआ मूल्य
७५ प्रति सै० कम मूल्य में			
परमालरासो	२)	घटा हुआ मूल्य	॥)
भूषण ग्रंथावली	१)	,,	।)
स्त्रियों के रोग और उनकी चिकित्सा	१)	,,	।)
अंत्येष्टि दीपिका (संस्कृत)	१)	,,	।)
६६⅔ प्र० सै० कम मूल्य में			
चित्रावली	१॥)	,,	॥)
गोभिलीय गृहकर्म प्रकाशिका	१॥)	,,	॥)
प्रबोध चंद्रिका	।=)	,,	=)
होरेशियस	≡)	,,	-)
५० प्र० सै० कम मूल्य में			
अनन्य ग्रंथावली	≡)	,,	-)॥
खुसरो की हिंदी कविता	॥)	,,	।)
दीनदयाल गिरि ग्रंथावली	१)	,,	॥)
हिम्मत बहादुर विरुदावली	॥)	,,	।)
आयुर्वेद निदान समीक्षा	=)	,,	-)
आर्ष प्राकृत व्याकरण	।)	,,	=)
पंजाब की सर्च रिपोर्ट (अँगरेजी)	१)	,,	॥)
बोपदेव	=)	,,	-)
मोहन विनोद	१।)	,,	।=)
नटनागर विनोद	१)	,,	॥=)
अन्य रियायत			
द्विवेदी अभिनंदन ग्रंथ	७॥)	,,	५)
जायसी ग्रंथावली (पुराना सं०	३)	,,	२)

बिना मूल्य:—

जो लोग कम-से-कम ५) तक का आर्डर देंगे उन्हें निम्नलिखित पुस्तकें बिना मूल्य दी जायँगी—

आर्य चरितामृत	-)	निगमन और आगमन	-)
लेखक और नागरी लेखक	=)	शेख मुहम्मद बाबा	-)

विशेष

जो सज्जन सब पुस्तकों का कम-से-कम एक सेट मँगावेंगे उन्हें घटे मूल्य पर भी ५ प्रतिशत और कमीशन दिया जायगा।

कृष्णदेव प्रसाद गौड़
प्रधान मंत्री

Printed by A. Bose, at the Indian Press, Ltd.,
Benares-Branch.